तंत्रागमीय ज्ञानकोश

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी

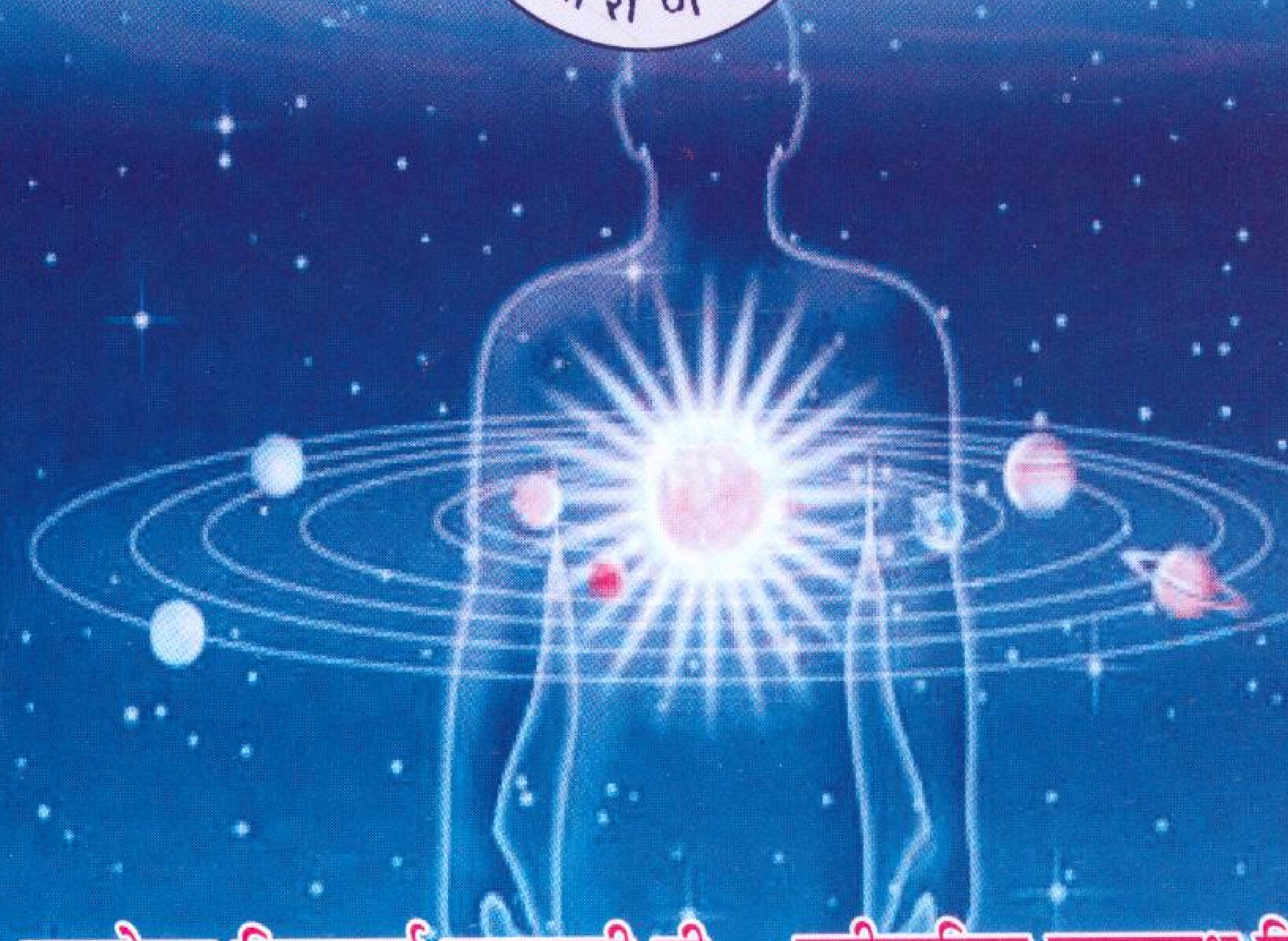

डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी राष्ट्रीयपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी
स्व. डा. चन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामीजी, निप्पाणी

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला— २२

तन्त्रागमीय-ज्ञानकोशः

डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी,
राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी,
स्व. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामीजी, निप्पाणी
इत्येतैर्विद्वद्भिः संकलितः।

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक
शैवभारतीशोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१
दूरभाष : (०५४२) २४५०५४६

तन्त्रागमीय-ज्ञानकोश
© शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रथम संस्करण २००८

मूल्य : रु. ५००.०० (सजिल्द), रु. ४००.०० (अजिल्द)

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

मुद्रक
मित्तल ऑफसेट्स
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series— 22

TANTRĀGAMĪYA JÑĀNAKOŚA

by

Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswamiji

Rāṣṭrīypaṅdit Vrajavallabha Dvivedi

Dr. Chandrashekhar Shivacharya Swamiji, Nippani

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001
Phone : (0542) 2450546

TANTRĀGAMĪYA JÑĀNAKOŚA

© Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

First Published 2008

ISBN 81-86768-41-6 (Hb)
81-86768-42-4 (Pb)

Price : Rs.500.00 (Hb) Rs.400.00 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadi math
Varanasi - 221 001

Printed at :
Mittal Offesets
Sundarpur, Varanasi

प्रस्तावना

''तन्त्रागमीय धर्मदर्शन'' शीर्षक ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ. २३८-२४०) में हमने ''दक्षिणभारतीय दर्शन'' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया है कि कुछ आधुनिक विद्वान् सिद्धान्तशास्त्र को दक्षिणभारत में विकसित शास्त्र मानते हैं। यह स्थापना ठीक नहीं है। यद्यपि द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी आगमों की अवतारभूमि मध्यदेश है, ऐसा स्वयं अभिनवगुप्त मानते हैं, तो भी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के उद्भावक भट्ट उत्पलदेव हैं, अत: प्रत्यभिज्ञादर्शन को कश्मीर का माना जा सकता है, किन्तु द्वैतवादी दर्शन के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उसको दक्षिण का दर्शन माना जाय। इसके विपरीत सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ पर्यन्त विद्वान् कश्मीर के सिद्धान्ताचार्यों के द्वारा स्थापित परम्परा का ही अनुसरण दक्षिण के अघोरशिवाचार्य जैसे सिद्धान्ताचार्य करते हैं। **शैवभूषण** में परिगणित पद्धतिकारों में पहले कश्मीर के आचार्यो का, बाद में मध्यदेश के सोमशम्भु आदि का और सबके अन्त में दक्षिण के अघोरशिव का नाम है। त्रिलोचन शिवाचार्य की **सिद्धान्तसारावलि** का हिन्दी भाष्य के साथ वाराणसी से प्रकाशन हुआ है। उसकी संस्कृत टीका (पृ. २५८) से यह सूचना मिलती है कि चोलदेश के राजा राजेन्द्रचोल अपनी तीर्थयात्रा के प्रसंग में काशी से कुछ शैवाचार्यों को अपने साथ ले गये थे, उनमें त्रिलोचन शिवाचार्य भी थे। त्रिलोचन शिवाचार्य के दक्षिण में जाने के बाद ही सिद्धान्तशैवशास्त्र की परम्परा वहाँ प्रचलित हुई, क्या ऐसी कल्पना करना उचित होगा?

तमिल भाषा में शैव धर्म का विशाल वाङ्मय उपलब्ध है। शैव आगमों के विषय में यहाँ दो मत प्रचलित हैं— एक के अनुसार तमिल साहित्य का आगमों के रूप में संस्कृतीकरण हुआ और दूसरे के अनुसार आगमों के सहारे दक्षिण में शैव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। यही न्याय वैष्णव पांचरात्र संहिताओं और तमिल वैष्णव साहित्य पर भी लागू होता है। शैव आगम और पांचरात्र

संहिताओं में भी भारतीय प्रदेशों का त्रिविध विभाजन मिलता है। उसके अनुसार तो सभी आगमों और संहिताओं का प्रादुर्भाव इसी प्रदेश में हुआ है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है। इस विषय पर अभी गंभीरता से विचार करना होगा। दक्षिण में भी सिद्धान्तशैवशास्त्र की परम्परा तमिल भाषा के माध्यम से बहुत पहले हो चुकी थी, ऐसा माना जाता है। लखनऊ से प्रकाशित ''संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास'' शीर्षक ग्रन्थ के एकादश खण्ड (पृ. १७२-२०८) में डॉ. रमा घोष का ''दक्षिणभारत का शैवसिद्धान्त'' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। उसमें तेरहवीं शताब्दी के **शिवज्ञानबोध** के रचयिता मेयकण्डदेव को आधार मान कर तमिल भाषा में रचित पूर्ववर्ती बारह **तिरुमुरइ**-ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का परिचय दिया गया है (पृ. १७२-१८०)। वहीं (पृ. १७६) यह भी स्पष्ट किया गया है कि ईसा-पूर्व शताब्दी के महान् ग्रन्थ **तिरुक्कुरल** में शैवसिद्धान्तशास्त्र के तत्त्वों की सूचना मिलती है।

प्राचीन तमिल साहित्य में उद्धृत कुछ आगम-ग्रन्थों के नाम अशुद्ध लगते हैं। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिणभारत का सिद्धान्तशैव दर्शन शनैः शनैः अद्वैतोन्मुख होता गया, किन्तु उत्तरभारत से गये त्रिलोचन शिवाचार्य ने **सिद्धान्तसारावलि** में और उसकी परम्परा के अघोरशिवाचार्य ने अपने सभी व्याख्या-ग्रन्थों में पौष्करागम के भाष्यकार तथा परवर्ती काल के उमापति शिवाचार्य ने **शतरत्नसंग्रह** में कश्मीराद्वैतवादी दार्शनिकों की परम्परा का ही अनुसरण किया है। रौरवागम के कुछ श्लोकों को आधार बना कर मेयकण्डदेव नें **शिवज्ञानबोध** नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ के माध्यम से अद्वैतोन्मुख दृष्टि को प्रवृत्त किया, ऐसा माना जाता है, किन्तु इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान् पं. एन.आर. भट्ट[१] का कहना है कि ये श्लोक रौरवागम में अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। भाषा का आग्रह छोड़ कर हमें संस्कृत एवं तमिल भाषा में लिखे इस समग्र साहित्य की कालिक क्रम से तुलनात्मक समीक्षा करनी होगी। तभी हम किसी सही निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे।

---

१. फ्रेंच शोध संस्थान, पांडिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के द्वितीय भाग का संस्कृत उपोद्घात (२०-२१) देखिये।

इस निबन्ध के अन्त में (पृ. २०४-२०८) विदुषी लेखिका ने ज्ञान के तत्त्वरूप, तत्त्वदर्शन और तत्त्वशुद्धि; आत्मरूप,आत्मदर्शन और आत्मशुद्धि तथा शिवरूप, शिवदर्शन, शिवयोग और शिवभोग नामक दस स्तरों का निरूपण किया है। यह प्रकरण विशेष रूप से अवधेय है, क्योंकि इस तरह का विवरण द्वैतवादी सिद्धान्तशैव ग्रन्थों में नहीं मिलता। बौद्ध ग्रन्थों में भिन्न प्रकार के दस तत्त्वों का निरूपण हुआ है। उनका सम्बन्ध आध्यात्मिक प्रक्रिया से न होकर तान्त्रिक कर्मकाण्ड से है। पं. क्षितिगर्भ की कृति **दशतत्त्वसंग्रह** में उनका विवरण मिलता है। उनके ये नाम हैं— रक्षा, चक्र (मण्डल), चक्रदेवता, जाप, सेक, हठ, बलि, प्रत्यंगिरा, पुट और घात। ऊपर प्रदर्शित दस तत्त्वों से इनकी कोई समानता न होते हुए भी हम यह सोचने को बाध्य होते हैं कि इस तरह की दृष्टियों के परिवर्तन के पीछे कौन-कौन सी गतिविधियाँ चल रही थीं? इसके लिये तमिल भाषा में निबद्ध प्राचीन शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन साहित्य का भी विहगावलोकन करना होगा।

प्रस्तुत निबन्ध (पृ. १७३) में बताया गया है कि तमिल भाषा के सम्पूर्ण शैवशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं— स्तोत्र और शास्त्र। उत्तरकाल के सैद्धान्तिक विकास का मूल स्रोत या आधार पूर्वकाल का स्तोत्र साहित्य ही है, जो उच्च कोटि की आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त किये हुए सन्तों की वाणी है। तमिल भाषा में इन्हें बारह ग्रन्थों के अन्तर्गत समाहित किया गया है, जिसे **तिरुमुरइ** कहते हैं। तमिल भाषा में 'मुरइ' शब्द के कई अर्थ होते हैं, जैसे— वाक्यसम्बन्ध,सदाचार, गुण, स्तर, निवेदन,महत्ता इत्यादि। मध्यकालीन भक्तिशास्त्र में इसी पद्धति पर नाथों और सिद्धों की वाणियों का विकास हुआ, ऐसा हम मान सकते हैं।

सन्त तिरुज्ञानसम्बन्दर (सातवीं शताब्दी) की रचना प्रथम तीन ग्रन्थों में समाहित की गई हैं। सन्त तिरुनावुक्कर की, जिन्हें अप्पर भी कहा जाता है, महान् रचनाओं को चौथी, पाँचवीं एवं छठी तिरुमुरइ के रूप में रखा गया है। तदनन्तर सन्त सुन्दरमूर्ति (नवीं शताब्दी) द्वारा रचित पदों का संकलन सातवीं और आठवीं तिरुमुरइ में हुआ है।

आगे प्रस्तुत निबन्ध में (पृ. १७३-१८०) संक्षिप्त रूप से यह विवेचित किया गया है कि किस प्रकार इन महान् सन्तों की रचनाओं के प्रभाव से दक्षिण में शैवसिद्धान्त के तत्त्व-दर्शन का विकास हुआ।

यहाँ इन बारह तिरुमुरइ-ग्रन्थों और इनके रचयिताओं का परिचय देते हुए बताया गया है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक विकसित इन ग्रन्थों में २८ सिद्धान्तशैवागमों और उनमें प्रतिपादित तत्त्वों का परिचय दिया गया है। समयशास्त्र या समयगुरुवर के रूप में इनकी यहाँ चर्चा की गई है (पृ. १७३)। चार समयाचार्यों के द्वारा प्रवर्तित चार मार्गों की हम ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या पादों से तुलना कर सकते हैं (पृ. १७४)। 'तेवारम्' ग्रन्थ का उल्लेख करते हुये यहाँ (पृ. १७५-१७६) पति, पशु, पाश— नामक तत्त्वों का विवेचन सिद्धान्तशास्त्र की पद्धति से ही हुआ है। साथ ही यहाँ अष्टमूर्ति शिव की भी चर्चा है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में शिव के इसी स्वरूप की चर्चा की है। शिव के विश्वातीत स्वरूप और शिवकृपा (शिवमाक्कि=शक्तिपात) की भी यहाँ चर्चा है। इस विषय के प्रतिपादक माणिक्यवाचकर के ग्रन्थ **तिरुवाचकम्** की तुलना श्री जी.यू. पोप ने तमिलभाषियों की बाइबिल से की है (पृ. १७७)। ये परमशिव योग और भोग दोनों के दाता हैं।

अष्टमूर्ति शिव के स्वरूप की चर्चा के साथ यहाँ पति,पशु, पाश— नामक तीन तत्त्वों की चर्चा तो है ही, 'सिद्धान्त' और 'आगम' शब्दों का विवरण देते हुए यहाँ आणव, कार्म,माया,महामाया और तिरोधान नाम के पांच पाशों और छत्तीस तत्त्वों का भी परिचय दिया गया है (पृ. १७८)। अट्ठाईस आगमों की इनमें चर्चा की गई है और कारण,कामिक, वीर, चिन्त्य, वातुल, यामल, कालोत्तर, सुप्रभेद एवं मकुट नाम के नौ आगमों की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है (पृ. १७९)।

आगे ग्यारहवीं तिरुमुरइ का परिचय यहाँ (पृ. १७९-१८०) दिया गया है। इसमें भस्म,रुद्राक्ष और पंचाक्षर मन्त्र की महिमा का गान तो किया ही गया है, यह भी बताया गया है कि भगवान् पशुपति को स्त्रीलिंग, पुल्लिग अथवा नपुंसकलिंग के रूप में नहीं समझा जा सकता।

बारहवीं तिरुमुरइ **'पेरियपुराणम्'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह भक्त सेक्किनार की महान् कृति है। इसमें तिरसठ शैव भक्तों (नायनार) की अनुपम जीवनकथाएं वर्णित हैं, जो जाति, धर्म आदि के भेदों से ऊपर उठ चुके थे। महान् जैनाचार्य हेमचन्द्र की 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' से इनकी तुलना की जा सकती है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट होता है कि इन बारह तिरुमुरइ-ग्रन्थों का रचनाकाल सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है। यहाँ (पृ. १७६) ईसा-पूर्व शताब्दी के महान् ग्रन्थ **तिरुक्कुरल** में भी इन विषयों की चर्चा हुई है, किन्तु पहली से सातवीं शताब्दी तक विकसित साहित्य का परिचय यहाँ नहीं मिलता। मेयकण्डशास्त्र के परवर्ती चौदह शास्त्रों की चर्चा भी प्रस्तुत निबन्ध (पृ. १८१-२०२) में मिलती है। इस पूरे साहित्य में अनेक नये पारिभाषिक शब्द मिलते हैं अथवा उनका नये अर्थों में प्रयोग किया गया है। इन सबका विवरण भी प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया जाय, ऐसा विचार उठा था। किन्तु यह इतना बड़ा साहित्य है और अभी पूरी तरह से उसकी उपलब्धि भी नहीं हुई है, अतः इस योजना को अभी छोड़ दिया गया। वीरशैव दर्शन एवं शाक्त दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलीवाली सामग्री का प्रकाशन अन्यत्र भी हुआ है। उस सामग्री के संकलयिताओं की अनुमति से सिद्धान्त शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का समावेश कर यहाँ समान प्रकृति के तीन शास्त्रों की शब्दावलियों को तुलनात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है। उचित अवसर पर तमिल भाषा के माध्यम से ईसा-पूर्व शताब्दियों में, भारतीय इतिहास के मध्यकाल में (ई० प्रथम शताब्दी तथा परवर्ती काल में), रचित ग्रन्थों के आधार पर इस विषय का भी विस्तार किया जायगा।

तमिल भाषा के माध्यम से विकसित बौद्ध, जैन, वैष्णव और शैव शास्त्रों पर अभी पर्याप्त कार्य नहीं हुआ है। सुबुद्ध चिन्तक इस ओर पूरी सावधानी और ईमानदारी से आगे बढ़ें, तो यह भारतीय संस्कृति,दर्शन और इतिहास के क्षेत्र में उज्ज्वलता लाने का महनीय कार्य होगा।

समयशास्त्र, समयगुरुवर, चार समयाचार्य (पृ. १७२) जैसे शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। आगे (पृ. १७८) उत्तरकाल के समयाचार्यों के प्रसंग में २८ सिद्धान्तागमों तथा तत्सम्मत ३६तत्त्वों की भी चर्चा है। सौन्दर्यलहरी के व्याख्याकार लक्ष्मीधर ने समयमत शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन काल में शैवसिद्धान्त के लिये 'दक्ष' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस विवरण से हमें ऐसा लगता है कि समयमत और कौलमत की प्रवृत्ति लगभग एक ही समय में हुई। कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का समय विद्वानों के द्वारा वही निर्धारित किया गया है, जो यहाँ समयमत का है, अर्थात्

तिरुमुरइ-ग्रन्थों का प्रवृत्तिकाल और मत्स्येन्द्रनाथ का काल भी छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास ही माना जाता है।

यहाँ (पृ. १८१) बारहवीं शताब्दी में मेयकण्डशास्त्र के रूप में विकसित साहित्य को ही शैव सिद्धान्तशास्त्र के रूप में मान्यता दी गई है। इस साहित्य पर बारहवीं शताब्दी के आचार्य श्रीकण्ठ द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रभाष्य, शिवपुराण की वायवीयसंहिता,स्कन्दपुराण की सूतसंहिता और आगे चलकर अप्पय दीक्षित रचित श्रीकण्ठभाष्य की शिवार्कमणिदीपिका नाम की टीका का भी प्रभाव बताया गया है। जैसा कि पहले कहा गया,यह शास्त्र अद्वैतोन्मुख होता गया। आजकल दक्षिण के सिद्धान्तशास्त्र के अनुशीलन के प्रसंग में इसका भी समावेश किया जाता है और इसमें मेयकण्डशास्त्र के परवर्ती चौदह आचार्यों के ग्रन्थों का भी समावेश किया गया है। इनमें शतरत्नसंग्रहकार उमापति शिवाचार्य का परिचय हम दे चुके हैं।

आचार्य वागीश द्वारा रचित **'शिवज्ञानामृतम्'** की भी यहाँ विशेष भूमिका मानी गई है। इस ग्रन्थ में पौष्कर, मृगेन्द्र, मतंग जैसे शैवागमों की विशेष भूमिका है। मेयकण्डदेव रचित **शिवज्ञानबोधम्** के सूत्रों का, उससे सम्बद्ध चौदह ग्रन्थों का परिचय (पृ. १८१-२०२) विस्तार से देखा जा सकता है। इन ग्रन्थों में प्रतिपादित मोक्ष के साधनों का तथा शिवयोग और शिवभोग शब्दों का भी परिचय निबन्ध के अन्त में (पृ. २०२-२०८) में दिया गया है। **शिवज्ञानबोधम्** के भाष्यकार शिवज्ञानयोगी पर इनमें से अनेक ग्रन्थों का गहरा प्रभाव है।

इस तरह से तमिल देश में विकसित और मध्यदेश में प्रचलित द्वैतवादी सिद्धान्त शैवदर्शन के साथ तमिल भाषा के माध्यम से तमिल देश में अभी तक पूरी तरह से अज्ञात ईसा-पूर्व शताब्दी के शैवशास्त्र और सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक विकसित १२ तिरुमुरइ-ग्रन्थों का और मेयकण्डशास्त्र के रूप में परिचित सिद्धान्तशास्त्र का प्रवृत्ति की भिन्नता के आधार पर त्रिविध विभाग और उनका व्यस्त एवं समस्त पद्धति से घात-प्रतिघातात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करना चाहिये। यही सही स्थिति है। आजकल कश्मीर के द्वैतशास्त्र को तमिलनाडु में विकसित शास्त्र के साथ मिलाकर सिद्धान्तशैव के नाम से इनका अनुशीलन किया जाता है। यह सही स्थिति नहीं है। जब तक इन

त्रिविध धाराओं की आदान-प्रदान की पद्धति को स्पष्ट करते हुए इनका कालक्रम से अनुशीलन नहीं किया जाता, तब तक इन सबका अथवा दक्षिणभारत के सिद्धान्त शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का सही आकलन नहीं हो सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन धाराओं के पारिभाषिक शब्दों का समावेश कर उनको भी इसी ग्रन्थ में प्रस्तुत करने की शैवभारती शोधप्रतिष्ठान की योजना थी, किन्तु ऊपर निर्दिष्ट शताब्दी-पूर्व से सत्रहवीं शताब्दी तक विकसित विशाल वाङ्मय का सही स्वरूप प्रस्तुत हुए बिना यह प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, अत: उस योजना को छोड़कर यहाँ केवल वीरशैवागम, सिद्धान्तशैवागम और शाक्त तन्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली का ही समावेश किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट कार्य को सम्पन्न करने में प्रस्तुत निबन्ध (पृ. १७२-२०८) हमारा पथप्रदर्शक बन सकता है।

मान्यवर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य जब शोधकार्य में निरत थे, उसी समय उन्होंने वीरशैवागम संबन्धी निबन्ध लिखा था। फलत: प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके शुभाशीर्वचन का समावेश नहीं किया गया है। संकेतसूची का समावेश भी केवल उनके निबन्ध से ही संबद्ध है, क्योंकि बाकी के दो निबन्धों के लेखकों ने अपने लेख में संकेतों का समावेश न कर सर्वत्र पूरे ग्रन्थों के नामों को दे दिया है।

इसीके साथ हम इस प्रस्तावना को पूरा करते हैं।

व्र.व.द्वि.

◆◆◆

विषय-सूची

प्रस्तावना		i-vii
विषय-सूची		viii
वीरशैवागम —	डॉ चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	१-९०
सिद्धान्तशैवागम—	स्व. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामीजी, निप्पाणी	९१-१५२
शाक्त तन्त्र—	राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी	१५३-२९६
संकेत-सूची		२९७-३००

♦♦♦

तन्त्रागमीय ज्ञानकोश

वीरशैवागम

वीरशैवागम

त्रैलोक्यसम्पदालेख्यसमुल्लेखनभित्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः ।।
यामाहुः सर्वलोकानां प्रकृतिं शास्त्रपारगाः ।
तां धर्मचारिणीं शम्भोः प्रणमामि परां शिवाम् ।।

अंग

वीरशैव दर्शन में अंग शब्द दीक्षासम्पन्न शुद्ध जीव का वाचक है। ''अं गच्छतीति = अंगम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अंग शब्द बनता है। अं का अर्थ है परशिव और गच्छति का अर्थ प्राप्त करना है। यह जीव अनाद्यनन्त परमतत्त्व को समरसभाव से प्राप्त करने का अधिकार रखता है, अतः उसे अंग शब्द से सम्बोधित किया जाता है (अनु०सू० ४.४)। इतना ही नहीं, परशिव का अंग अथवा अंश होने के कारण भी यह जीव अंग कहलाता है।

यह अंग लिंगतत्त्व का उपासक है। अतः लिंग और अंग में उपास्य-उपासक भाव सम्बन्ध है। उपास्य लिंगतत्त्व अपनी लीला से भावलिंग, प्राणलिंग तथा इष्टलिंग के नाम से प्रसिद्ध होता है। तदनुसार उपासक अंग भी योगांग, भोगांग और त्यागांग के भेद से तीन प्रकार का हो जाता है (अनु०सू० ४.५-६)।

क. योगांग

परशिव के साथ साक्षात् योग अथवा तादात्म्य प्राप्त अंग (जीव) को योगांग कहते हैं (अनु०सू०४.६)। सुषुप्ति अवस्था में कारण-शरीराभिमानी जीव भी, जिसे अन्य दर्शनों में ''प्राज्ञ'' कहते हैं, यहाँ पर योगांग शब्द से जाना जाता है (अनु०सू० ४.१०)। वस्तुतः ''शरण'' तथा ''ऐक्य'' इन दोनों स्थलों के साधकों को ही योगांग कहा जाता है, क्योंकि ''शरण'' तथा ''ऐक्य'' अवस्था में जीव को साक्षात् परशिव स्वरूप का अनुभव होता रहता है (अनु०सू० ४.१२)।

ख. भोगांग

यहाँ पर भोग शब्द शिव-प्रसाद के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः भक्ष्य, भोज्य आदि सभी उपभोग की वस्तु शिव को समर्पित कर उनका प्रसादरूप से उपभोग करने वाला अंग (जीव) भोगांग कहलाता है (अनु०सू० ४.७)। ''प्रसादी'' एवं ''प्राणलिंगी'' इन दोनों अवस्थाओं के साधकों को ''भोगांग'' कहा जाता है, क्योंकि इन दोनों स्थलों के साधक अपनी साधना के बल से इस प्रपञ्च को शिवस्वरूप देखने के साथ-साथ सभी उपभोग्य वस्तुओं में शिव के प्रसाद की दृष्टि रखते हैं (अनु०सू० ४.१२)।

स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव को, जिसे अन्य दर्शनों में ''तैजस'' नाम से जाना जाता है, वीरशैव दर्शन में उसे भोगांग कहा जाता है। इसी को ''अन्तरात्मा'' भी कहा जाता है (अनु०सू० ४.१४,१६)।

ग. त्यागांग

गुरु कृपा से तथा अपनी साधना के बल से जिस साधक ने संसार की भ्रान्ति को त्याग दिया है, अर्थात् जिसकी भ्रान्ति छूट गयी है, उस अंग (जीव) को त्यागांग कहते हैं (अनु०सू० ४.७)। यह ''भक्त'' और ''महेश'' स्थल के साधक की अवस्था है, क्योंकि इन दोनों स्थलों का साधक ''मैं'' तथा ''मेरा'' इस सांसारिक भाव से अलग होकर रहता है (अनु०सू० ४.१३)।

जाग्रदवस्था में स्थूल शरीर से व्यवहार करने वाले जीव को, जिसे दर्शनान्तर में ''विश्व'' नाम से जाना जाता है, वही यहाँ पर त्यागांग है और इसे ''जीवात्मा'' भी कहते हैं (अनु०सू० ४.१५-१६)।

अंग-लिंग-ऐक्य

इसकी परिभाषा के लिए ''लिंगांग-सामरस्य'' शब्द देखिए (सि०शि० २०.६१ पृ. २१०; क्रि०सा०, भा. ३, पृ. ३३)।

अंग-स्थल

''लिंग-स्थल'' के उपासक जीव को वीरशैव दर्शन में ''अंग-स्थल'' कहा गया है। ''लिंग'' और ''अंग'' ये दोनों ''स्थल'' तत्त्व के ही दो रूप हैं, इन्हें उपास्य और उपासक कहते हैं (अनु०सू० २.१०-१३)। यह ''अंग-स्थल''

''भक्त'', ''महेश्वर'', ''प्रसादी'', ''प्राण-लिंगी'', ''शरण'' और ''ऐक्य'' के भेद से छः प्रकार का है। इन्हीं को ''षट्स्थल'' भी कहते हैं। यह षट्स्थल क्रम इस दर्शन की विशेषता है। इसमें जीव के शिवत्व प्राप्त करने का क्रमगत सोपान वर्णित है। अंग (जीव) इन षट्स्थलों के द्वारा क्रमिक विकास प्राप्त करके लिंगस्वरूप बन जाता है। यही इस अंग-स्थल या षट्स्थल का उद्देश्य है। इनमें ''भक्त'', ''महेश्वर'' और ''प्रसादी'' क्रियाप्रधान हैं और ''प्राणलिंगी'', ''शरण'' तथा ''ऐक्य'' ज्ञानप्रधान हैं (अनु०सू० ४.४३)। इस तरह षट्स्थल मार्ग ज्ञान-कर्म-समुच्चित माना जाता है।

क. भक्त

किङ्कर भाव से वीरशैव धर्म में प्रतिपादित ''अष्टावरण'' एवं ''पञ्चाचारों'' में श्रद्धा रखकर ''इष्टलिंग'' की आराधना करने वाला दीक्षासम्पन्न शुद्ध जीव ही ''भक्त'' कहलाता है। यह शरीर आदि में अनात्मत्व का निश्चय करके उनमें ममत्वशून्य होकर सांसारिक विषयों से विरक्त रहता है और सत्य तथा पवित्र भाव से कोई एक उद्योग करके उससे उपार्जित द्रव्य से यथाशक्ति गुरु, लिंग, जंगम को अन्न आदि से संतृप्त करके अवशिष्ट भाग को प्रसादरूप में ग्रहण करता है।

यह इस धर्म में प्रतिपादित ''तप'', ''कर्म'', ''जप'', ''ध्यान'' और ''ज्ञान'' इन शिव पञ्चयज्ञों का आचरण करता रहता है। तप का अर्थ है— शरीर-शोषण, अर्थात् शिवपूजा के निमित्त होने वाला शारीरिक परिश्रम। ''कर्म'' है इष्टलिंग की पूजा। ''जप'' का अर्थ है शिवपञ्चाक्षरी मंत्र, श्रीरुद्र अथवा ॐकार की पुनः पुनः आवृत्ति। ''ध्यान'' है निरन्तर साकार शिव का ही चिन्तन। ''ज्ञान'' का अर्थ शैवागम-प्रतिपादित तत्त्वविमर्श है। इस तरह भक्तस्थल में प्रतिपादित ''शिव पंचयज्ञ'' आदि का तत्परता से आचरण करने वाला ही ''भक्त'' कहलाता है। इस साधक को ''भक्त-स्थल'' भी कहते है (सि०शि० ९.२१-२४; अनु०सू० ४.३३; अ०वी०सा०सं०, भा. २, पृ. ७९-८०)।

ख. महेश्वर

यह षट्स्थल साधक की दूसरी भूमिका मानी जाती है। जब ''भक्त-स्थल'' के साधक की इष्टलिंग आदि में रहने वाली श्रद्धा दृढ होकर ''निष्ठा'' बन

जाती है, तब वह भक्त ही ''महेश्वर'' कहलाता है। यह ''महेश्वर-स्थल'' के नाम से भी जाना जाता है। इसका चित्त अत्यन्त निर्मल हुआ रहता है, अत एव इसमें नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों में निस्पृहता उत्पन्न होती है (सि०शि० १०.२-३)। साधक की यह अवस्था क्रियाप्रधान है, अत: यह शिव को स्वामी और अपने को सेवक समझता हैं। यह इष्टलिंग पूजारूप व्रत का कदापि लोप नहीं करता। इस व्रत में भयानक बाधाओं, शिरच्छेदन, सम्पत्ति का अपहरण आदि के प्राप्त होने पर भी उनसे भयग्रस्त होकर यह अपना व्रत नहीं छोड़ता (सि०शि० १०.२२)। यह परस्त्री, परधन आदि से निस्पृह रहता है। यह अविद्या आदि पंच-क्लेशों से रहित होने के कारण सदा सन्तुष्ट रहता है। सभी प्राणियों पर दया करने की भावना इनमें जागृत रहती है। यह अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है और कदाचित् शिवापकर्ष का प्रसंग आने पर उसके निवारण में अंपना प्राण-त्याग देने में भी संकोच नहीं करता। साधक का यह सत्त्वगुण का उद्रेक है। शिव के प्रति एतादृश निष्ठायुक्त महेश्वर ही वीरमाहेश्वर कहलाता है। अत: यह ''वीरमाहेश्वर'' महेश्वरस्थल का ही उत्कृष्ट साधक है (सि०शि० १०.१३-२०; अनु०सू० ४.३२; अ०वी०सा०सं०, पृ. ११८-११९)।

ग. प्रसादी

''प्रसाद: अस्यास्तीति प्रसादी'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ''प्रसाद गुण'' वाला साधक ही ''प्रसादी'' कहलाता है। मन की प्रसन्नता को ''प्रसाद'' कहते हैं। यह प्रसन्नता शिव के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार शिवानुग्रह से प्राप्त प्रसन्न मन का साधक ही ''प्रसादी'' है। ''मन:प्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते'' इस आचार्योक्ति के अनुसार सदा प्रसन्न चित्त रहना ही इस साधक का असाधारण लक्षण है। शुद्ध अन्न का सेवन मन की शुद्धि में कारण माना गया है। अन्न तभी शुद्ध हो सकता है, जब शिव को समर्पित किया जाता है। शिवार्पित अन्नं आदि भोज्य पदार्थो को ''शिव निर्माल्य'' कहा जाता है। इसके सेवन से मन निर्मल हो जाता है। मन की निर्मलता ही प्रसन्नता का कारण बनती है। इसलिए यह साधक अवधान-भक्ति से युक्त होकर अपनी उपभोग्य वस्तुओं को शिव को समर्पित करके उस शिव निर्माल्य का सेवन करता है।

इसी प्रकार यह गुरु तथा जंगम को उपभोग्य वस्तुओं को समर्पित करता है और उन दोनों का भी अनुग्रह प्राप्त करता है। इस साधक में क्रिया के साथ भावना का भी प्राचुर्य रहता है। वह अपनी क्रियाओं को पवित्र भाव से युक्त होकर सदा करता रहता है। शिवार्पण बुद्धि से कर्म करने के कारण यह प्रपञ्च में रहता हुआ भी उससे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जैसे पानी में रहने वाला पद्मपत्र उससे निर्लिप्त रहता है। इस साधक को "प्रसादि-स्थल" भी कहते हैं (सि०शि० ११.२-१८; अ०वी०सा०सं०, भा. २, पृ. १७९-१८१; अनु०सू० ४.३१)।

घ. प्राणलिंगी

"प्राण-लिंग" के उपासक को "प्राणलिंगी" कहा जाता है। इसी को "प्राण-लिंगि-स्थल" भी कहते हैं। यह साधक की चतुर्थ भूमिका है। पूर्वोक्त "भक्त", "महेश्वर" और "प्रसादी" साधकों में क्रिया का प्राधान्य था। इस साधक में ज्ञानयोग का प्राधान्य है (सि०शि० १२.२)। योगमार्ग की सूक्ष्म अनुभूति इस स्थल के साधक में होती है।

प्राण तथा अपान वायु के संघर्ष से मूलाधार से जिस ज्योति स्वरूप का उदय होता है, उसी को शिवयोगियों ने "प्राण-लिंग" कहा है। जिस प्रकार सूर्योदय के होने पर तुहिन कण उस सूर्य के प्रकाश में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार इस चिद्रूप ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अतः प्राणशक्तिविशिष्ट इस ज्योति को "प्राण-लिंग" कहा गया है (सि०शि० १२.६,७)। यह हृदय-कमल में दीपक के समान स्फुरित होता है। यही अपने चिद्रूप का भान है। इस चिद्रूप के बोध से इस साधक का जीवत्व-भ्रम छूट जाता है। वस्तुतः इसी स्थल में साधक को स्व-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस साधक में "अनुभव-भक्ति" रहती है, अर्थात् शिव का अनुभव इसी स्थल में होता है। यह बाह्य पूजा आदि क्रियाओं से पराङ्मुख होकर "भ्रमर-कीट-न्याय" से निरन्तर अन्तर्लिङ्गानुसन्धान करता रहता है। इसी को "संविल्लिंग परामर्शी" कहते हैं। इस ज्ञानज्योति से इसकी सभी वासनायें उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कि अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है। यही "प्राणलिंगी" का स्वरूप है (सि०शि० १२.८-१२; अनु०सू० ४.३०; अ०वी०सा०सं०, भा. २, पृ. १९२-१९३)।

ङ. शरण

जो शिव को ही अपना शरण अर्थात् अनन्य रक्षक मानता है, उसे ही ''शरण'' कहते हैं। षट्स्थल साधना की यह पाँचवीं भूमिका है। यह शिव को ''पति'' और अपने को ''सती'' मानता है। लोक में जैसे सती और पति अभिन्न होकर सांसारिक सुख का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार यह साधक भी अपने पतिरूप शिव के साथ अभेदभाव से युक्त होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। अतएव इस ''शरण-स्थल'' को ''सतीपति न्याय'' स्थल कहते हैं। इस प्रकार शिव के अनुभवजन्य आनन्द में ही रमण करने वाले साधक को वीरशैव आचार्यों ने ''शरण'' शब्द से सम्बोधित किया है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के आनन्द के लिए ही सब कुछ करती रहती है, उसी प्रकार यह साधक भी अपनी सब क्रियाओं को शिव के सन्तोष के लिए ही करता रहता है और शिव के सन्तोष को ही अपना सन्तोष समझता है। इसका ज्ञान और क्रिया में समन्वय रहता है, अर्थात् लोगों को जिन उत्तम आचरणों का उपदेश करता है, उनका स्वयं भी आचरण करता रहता है। अतएव यह लोक में अनुकरणीय व्यक्ति बन जाता है। शिवानन्द को प्राप्त इस साधक को सांसारिक वासनायें उसी प्रकार प्रलोभित नहीं कर सकतीं, जैसे गंगाजल से सन्तृप्त व्यक्ति को मृगमरीचिका। यह निरन्तर ''शिवोऽहं'' भाव में ही लीन रहता है (सि०शि० १३.२-१२; अ०वी०सा०सं०, भा. २, पृ. २१०-२११; अनु०सू० ४.२९)।

च. ऐक्य

''एकस्य भाव: ऐक्यम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव के साथ एकता को प्राप्त साधक को ''ऐक्य'' कहते हैं। यह साधक की अन्तिम भूमिका है। ''शरण-स्थल'' के साधक में रहने वाली ''शिवोऽहं'' (मैं शिव हूँ) इस प्रकार की भावना जब अत्यन्त दृढ़ हो जाती है, तब वह ''शरण'' ही शिव के साथ एक होकर ''ऐक्य'' कहलाता है। यही शिव और जीव की समरस अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में साधक का ''आणव-मल'' सम्पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाता है और यह अपने ही मूल शिवस्वरूप में ऐसे समरस हो जाता है, जैसे जल में जल, ज्योति में ज्योति और आकाश में आकाश समरस होता है। इसी अवस्था को ''शिखिकर्पूर न्याय'' से भी शास्त्रों में समझाया गया

है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि के सम्पर्क से कर्पूर भी अग्निस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार शिव के सम्पर्क से जीव की पृथक् स्थिति नहीं रह जाती। यही वीरशैवों की मुक्ति है। एतादृश अवस्था को प्राप्त जीवन्मुक्त मनीषी को वीरशैव दर्शन में "शिवयोगी" कहा जाता है (सि०शि० १४.१-१५; अ०वी०सा०सं०, भा. २, पृ. २४०-२४२; सि०शि० २०.६१; अनु०सू० ५.५६; अनु०सू० ४.२८)।

अनादि-पिण्ड

इस शब्द की परिभाषा के लिए "निरालम्ब-चित्" शब्द देखिए (तों०व०का०, पृ. १७)।

अनुभव-भक्ति

इस शब्द की परिभाषा के लिए "भक्ति" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.२६; शि०श०को०, पृ. ५१)।

अनुभाव

बारहवीं शताब्दी के वीरशैव-सन्तों ने अपनी वाणियों (वचनों) में इस अनुभाव शब्द का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अपनी साधना तथा ईश्वर के अनुग्रह से होने वाली स्वात्मा की अनुभूति को "अनुभाव" कहा जाता है। पंचज्ञानेन्द्रिय तथा मन इनकी अपेक्षा से होने वाले लौकिक ज्ञान को "अनुभव" और ज्ञानेन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा के बिना ही शुद्ध बुद्धि से होने वाली आत्मानुभूति को "अनुभाव" कहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा मूर्च्छा ये चार अवस्थायें कर्माधीन मानी जाती हैं और इनका अनुभव साधक और असाधक इन दोनों को समान रूप से होता है। इन चारों से विलक्षण एक तुर्य आत्मानुभूति अवस्था है, जो कि केवल साधना से साध्य है। साधक को इन्द्रिय आदि की अपेक्षा के बिना केवल शुद्ध बुद्धि से अपना सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यही अनुभाव कहलाता है।

इस अनुभाव के बारे में वे सन्त कहते हैं कि जैसे छोटा बालक, जिसे बोलने नहीं आता हो, एक स्वप्न देखता है, उसको वह दूसरों के सामने अभिव्यक्त नहीं कर पाता। उसी प्रकार इस अनुभाव का वाणी से वर्णन नहीं

किया जा सकता। इस प्रकार यह एक ऐसी अवस्था है, जब कि आत्मानुभूति के अतिरिक्त और किसी का भी ज्ञान नहीं होता। अतः इस प्रकार की विलक्षण आत्मानुभूति को वीरशैव सन्तों ने ''अनुभाव'' कहा है (च०ब०व० ८४१, १०३०; ब०व० ९१८; श०अ०अ०अ०, पृ. ३५-४२; क्रि०सा०, भा. ३, पृ. १२०)।

अमूर्त सादाख्य

इसकी परिभाषा के लिए ''सादाख्य'' शब्द देखिए (वा०शु०तं० १.४८-५२; सू०आ० क्रियापाद १.३४-३५)।

अमोहकारिणी

शिव में रहने वाली शक्ति विपरीत ज्ञान के द्वारा शिव को मोहित नहीं करती, अतः शिव की इस शक्ति को अमोहकारिणी कहा जाता है। इसे ''शुद्धोपाधि'', ''परामाया'', ऊर्ध्वमाया भी कहते हैं। यह ''सूक्ष्म चित्'' अर्थात् सर्वज्ञत्वरूपा और सूक्ष्म-अचित् अर्थात् सर्वकर्तृत्वरूपा है। इसी के कारण शिव सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बन जाता है। कांच से आवृत वस्तुओं का स्वरूप जैसे तिरोहित नहीं होता, उसी प्रकार इस ऊर्ध्वमाया से आवृत होने पर भी शिव का स्वरूप तिरोहित नहीं होता। इसीलिए इसको शुद्धोपाधि नाम से कहा गया है। इस ऊर्ध्वमाया से उपहित शिव प्रपञ्च की उत्पत्ति में निमित्तकारण बनता है। यह शिव एक होने पर भी इस ऊर्ध्वमाया की महिमा से सद्योजात आदि अनेक मूर्तियों का रूप धारण करता है और आणव आदि अनादि मलों से रहित होकर सर्वज्ञत्व आदि षड्गुणों से सम्पन्न हो जाता है। यह सब अमोहकारिणी ऊर्ध्वमाया की ही महिमा है (सि०शि० ५.४४-४६)।

अवधान-भक्ति

इसकी परिभाषा के लिए ''भक्ति'' शब्द देखिए (अनु०सू० ४.२६; शि०श०को०, पृ. ५१)।

अविकृत परिणामवाद

इस दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है। परशिव के शक्ति के संकोच और विकास में ही यहाँ प्रलय और सृष्टि का व्यवहार होता है। तात्पर्य यह

है कि यह जगत् प्रलय के समय परशिव की विमर्शशक्ति में सूक्ष्मरूप से रहता है और सृष्टि के समय विकसित होकर बाहर आ जाता है। अत: शक्ति-विकास ही सृष्टि और शक्ति-संकोच ही प्रलय है। जैसे कछुवा एक समय में अपने पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है और दूसरे समय उन पैरों को अपने में छिपाकर चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव की सृष्टिलीला के समय विमर्श शक्ति अपने में नित्यसम्बन्ध से रहने वाले जगत् का विकास करती है।

जैसे पट (वस्त्र) के गोलाकार में विकसित होकर तंबू बनने से, अथवा वृक्ष के काल की महिमा से पत्र, पुष्प और शाखा आदि रूपों से विकसित होने पर भी पट और वृक्ष में कोई विकार नहीं होता, वैसे ही परशिव के भी स्वात्मशक्ति की महिमा से भूमि, जल, आकाश आदि रूपों से विकसित होने पर शिव या शक्ति में कोई विकार नहीं होता है। अत: शिव-शक्ति के अविकाररूप इस विकासवाद को ही अविकृत परिणामवाद कहा जाता है। (सि०शि० १०.६३-७०; इन श्लोकों की तत्त्वप्रदीपिका टीका भी देखें)

अविनाभाव सम्बन्ध

जगत् की सृष्टि के लिए परशिव में इच्छा आदि का होना आवश्यक है। परशिव में शक्ति के बिना इच्छा आदि का उदय नहीं हो सकता, अत: वीरशैव आचार्यों ने परशिव को शक्तिविशिष्ट माना है। शिव और शक्ति दोनों के नित्य होने के कारण दोनों का सम्बन्ध भी जन्य न होकर नित्य ही होना चाहिए। इस तरह से शिव और शक्ति का जो अव्यभिचरित नित्य सम्बन्ध है, वही अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है। जैसे चन्द्र तथा चन्द्रिका का, शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, वैसे ही शिव और शक्ति का भी नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार का यह नित्य सम्बन्ध ही अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है (सि०शि० २.१२, २०.३८)।

शिव और शक्ति का यह सम्बन्ध भेदाभेद पर्यवशायी है, क्योंकि परशिव की केवलावस्था में सत्-चित्-आनन्द के बोधरूप विमर्श शक्ति परशिव के साथ तादात्म्य से रहती है और परशिव की लीलावस्था में (सृष्टि के समय में) यह शक्ति क्षुब्ध होकर इच्छा, ज्ञान आदि रूपों में विभक्त हो जाती है और

विश्वरचना में सहायक बनती है। अत: यह शक्ति परशिव के साथ सच्चिदानन्दरूप से अभिन्न है और इच्छा आदि रूपों से भिन्न भी है। इस प्रकार शिव और शक्ति के इस अविनाभाव सम्बन्ध को भेदाभेद नियामक माना जाता है (श०वि०द०, पृ. १०९-११०; सि०शि० १.११)।

अविभाग-परामर्श

जगत् की उत्पत्ति के पूर्व की विमर्श शक्ति की अवस्था को अविभाग-परामर्श दशा कहते हैं। इस अवस्था में परशिव को केवल "अहं" (मैं) बोध रहता है। अभी "इदं" (यह) इत्याकारक बोध विकसित नहीं हुआ है। इस स्थिति में विमर्श शक्ति में रहने वाली इच्छा, ज्ञान आदि शक्तियाँ परस्पर विभाग के बिना समरस भाव से रहती हैं। यह समरसभाव "मयूराण्डरस" की तरह है। अर्थात् जिस प्रकार मयूराण्ड के रस में भावी पक्षी के पाद, पंख, वर्ण-वैचित्र्य आदि परस्पर विभाग के बिना एकाकार में रहते हैं, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति की कारणीभूत इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियाँ विमर्श शक्ति में समरस भाव से रहती हैं। वस्तुत: इस अवस्था में सब कुछ एकाकार रहने के कारण इसको अविभाग परामर्श कहते हैं। (सि०शि० ५.३९; तत्त्वप्रदीपिका टीका सहित देखें)

अष्टशील

इसकी परिभाषा के लिए "सदाचार" शब्द की परिभाषा देखिए (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.१९-३१)।

अष्टावरण

१. गुरु, २. लिंग, ३. जंगम, ४. पादोदक, ५. प्रसाद, ६. विभूति, ७. रुद्राक्ष और ८. मंत्र—ये वीरशैव दर्शन में अष्टावरण कहे जाते हैं। यहाँ पर आवरण शब्द रक्षा के कवच के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे युद्ध-भूमि में योद्धा शत्रुओं के बाण से अपने शरीर की रक्षा के लिए कवच धारण करता है, अथवा जैसे फसल को जानवरों से सुरक्षित रखने के लिए चारों ओर घेरा लगाकर उसकी सुरक्षा की जाती है, वैसे ही दीक्षाप्राप्त भक्त की काम, क्रोध आदि वृत्तियों से रक्षा करने के कारण इन आठों को अष्टावरण कहा गया है (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद २.२-३)। इनको इस दर्शन में लिंगांग-सामरस्य

रूप मोक्ष के लिए सहकारी सामग्री के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें "गुरु", "लिंग" और "जंगम" ये तीन पूजनीय हैं। "विभूति", "रुद्राक्ष" और "मन्त्र" ये तीन पूजा के साधन हैं। "पादोदक" तथा "प्रसाद" पूजा के फल कहे गये हैं (श०वि०द०, पृ. १९९)।

१. गुरु

वीरशैव सम्प्रदाय में गुरु उसे कहते हैं, जिसका आचार्य पद पर पट्टाभिषेक किया जाता है और जिसे "शिवाचार्य" की उपाधि रहती है। प्राय: "वीरमाहेश्वर-वंश" में, जिन्हें कि व्यवहार में "जंगम" भी कहते हैं, उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही गुरु पद का अधिकारी होता है। इस गुरु-परम्परा को "पुत्रवर्ग" परम्परा कहते हैं। कदाचित् "पंचम" जिन्हें व्यवहार में "पंचमशाली" कहा जाता है, वंश में उत्पन्न योग्य व्यक्ति को भी "वीर-माहेश्वर-दीक्षा" (जंगमदीक्षा) देकर पट्टाधिकार दिया जाता है। इस गुरु-परम्परा को शिष्यवर्ग परम्परा कहते हैं (वी०स०सं०, १४.१-१६)। ये बाल्य से यावज्जीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं। इन्हीं को दीक्षा एवं मन्त्रोपदेश आदि धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकार प्राप्त रहता है। ये अपने अपने ग्राम या नगर में रहने वाले इस सम्प्रदाय के मठों के अधिकारी होते हैं और इस सम्प्रदाय के धार्मिक कार्य इन्हीं के आदेश से चलते हैं (सि०शि० ६.१-७; क्रि०सा०, भा. ३, पृ. १३३)।

एक ही गुरु दीक्षा, शिक्षा आदि देने के कारण "दीक्षा-गुरु", "शिक्षा-गुरु" और "ज्ञान-गुरु" के नाम से अभिहित होता है।

क. दीक्षा-गुरु —

जो गुरु ऐसी दीक्षा प्रदान करता है, जिससे शिष्य को शिवज्ञान की प्राप्ति तथा उसके "आणव" आदि मलत्रय का नाश होता है, उसे दीक्षा-गुरु कहते हैं (सि०शि० १५.७)।

ख. शिक्षा-गुरु —

जो दीक्षा के पश्चात् लिंगपूजा के नियम और इष्टलिंग को प्राण की तरह अत्यन्त सावधानी से निरन्तर शरीर पर धारण करने की शिक्षा देता है, इसके साथ ही मन्त्रसाधना, प्राणलिंगानुसन्धान की पद्धति को सिखाता है, इसके

नियम के अनुशासन पर जोर देता है, उसे "शिक्षा-गुरु" कहते हैं (सि०शि० १५.१२-१३)।

ग. ज्ञान-गुरु —

जो वीरशैव-आगमों में प्रतिपादित विषयों को अपने अनुभव तथा अनेक युक्तियों द्वारा प्रतिपादन करके शिष्य के संशय को हटाकर जीवन्मुक्ति के हेतुभूत शिवाद्वैत ज्ञान का उपदेश करता है, उसे "ज्ञान-गुरु" कहा जाता है (सि०शि० १५.२१-२९)।

२. लिंग

प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारणीभूत परशिव को वीरशैव आचार्यों ने "लिंग" कहा है। (अनु०सू० ३.३-४)। बृहत् अर्थात् व्यापक स्वरूप का होने के कारण इसे ब्रह्म भी कहा जाता है। अर्थात् "लिंग" और "ब्रह्म" दोनों पर्याय हैं (सि०शि० ६.३७-३८)। इस परम तत्त्व को "लिंग" इसलिए भी कहा जाता है कि "शिवयोगी" अविद्या आदि पंचक्लेश और "आणव" आदि मल-त्रयरूप पाश से निर्मुक्त होकर अन्त में इसी परम तत्त्व में लीन हो जाते हैं। यह "लिंग" शक्तिविशिष्ट शिव का द्योतक है। स्थूल रूप से इस लिंग में "बाण" और "पीठ" ये दो भाग होते हैं। इनमें "बाण" शिव का और "पीठ" शक्ति का चिह्न है। इन दोनों का संयुक्त स्वरूप ही "लिंग" कहलाता है (सि०शि० ११.३१-३२)।

यह लिंग उपासकों की दृष्टि से "स्थूल", "सूक्ष्म" और "परात्पर" भेद से तीन प्रकार का है। इन्हीं को वीरशैव दर्शन में "इष्ट-लिंग", "प्राणलिंग" और "भावलिंग" का नाम दिया गया है (वी०स०सं० ७.६९-७०; सि०शि० ६.४९-५०)।

क. इष्टलिंग —

यह "लिंग" का स्थूल स्वरूप है। स्फटिक या सामान्य शिला से इसका निर्माण करते हैं। इसको "पंचसूत्र" के परिमाण से बनाया जाता है (वी०स०सं० १०.३९)। इस "पंचसूत्र-लिंग" को क्रिया-दीक्षा के समय गुरु अभिषेक आदि संस्कार से शुद्ध करके प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा पंचाक्षरी मन्त्रोपदेश के साथ जब शिष्य को देता है, तब वह "इष्टलिंग" कहलाता है (अनु०सू० ५.५८-५९;

सि०शि० ६.२२-२५; वी०स०सं० १०.३७)। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि यदि कोई गुरु के बिना ही "पंचसूत्र-लिंग" को खरीदकर स्वयं ही धारण कर लेता है, तो वह "इष्टलिंग" नहीं कहलाएगा (पा०सं० १.७५-७७)। गुरु से प्राप्त इस लिंग को "इष्टलिंग" कहने का तात्पर्य यह है कि इष्ट अर्थात् अभीष्ट की, जो कि लिंगांग-सामरस्य रूप मुक्ति है, प्राप्ति में साधन है और अनेक जन्म के हेतुभूत संचित-कर्म रूप अनिष्ट की भी निवृत्ति इसी से होती है, अतः इसे "इष्टलिंग" कहा गया है (सि०शि० ६.५१; अनु०सू० ३.९-१०; वी०आ०चं०, पृ. ४५६)।

यह अंगुष्ठ मात्र (परिमाण) का होता है और इसको चाँदी, स्वर्ण अथवा अन्य उत्तम धातुओं से बनी सज्जिका में, जो कि आम या बिल्वफल के आकार का एक छोटा सा मन्दिर होता है, रखकर उसको शिवसूत्र (यज्ञोपवीत) से संलग्न करके मस्तक, कण्ठ, वक्षस्थल या बाहु आदि में निरन्तर धारण करते हैं। नाभि के नीचे इसका धारण निषिद्ध है (सि०शि० ६.५२-५३; वी०मा०सं० ६.४४-५०; पा०तं० २.३३-४३)। जैसे कोई सुन्दर स्त्री दर्पण को देखती हुयी अपने ही सुन्दर स्वरूप का साक्षात्कार करती है, उसी प्रकार वीरशैवों का यह इष्टलिंग एक प्रतीक अथवा मूर्ति न होकर आत्मदर्शन का ही एक साधन है (शि०श० २३)।

ख. प्राणलिंग —

मूलाधार में स्थित अपान वायु के साथ जब प्राण-वायु का संघट्टन हो जाता है, तब एक दिव्य ज्योति का उदय होता है। मूलाधार से उत्पन्न वह ज्योति सुषुम्ना के मार्ग से चलकर "कुण्डलिनी" को ऊर्ध्वमुख करती हुयी हृदय के "अनाहत-चक्र" की, जिसे "द्वादश-दल-कमल" कहा गया है, मध्यस्थित कर्णिका में रुक जाती है। यह ज्योति अंगुष्ठपरिमाण और विद्रुमवर्ण (अरुणवर्ण) की होती है। इसी ज्योति को वीरशैव शिवयोगियों ने प्राणलिंग कहा है। इसको "प्राण-लिंग" इसलिए कहा गया है कि जैसे सूर्य के उदित होने पर तुहिनकण उसके प्रकाश में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही हृदय स्थित इस दिव्य ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अतः प्राण-शक्तिविशिष्ट इस ज्योति को "प्राणलिंग" कहते हैं। देश काल के सम्बन्ध के बिना ही "चिदहन्ता" अर्थात् स्वकीय चिद्रूप का ज्ञान ही "प्राणलिंग" है। इसी को

संविल्लिग भी कहा गया है। वस्तुतः यह "प्राणलिंग" योगगम्य है। सूक्ष्म आन्तरिक उपासना से इसकी अवगति हो सकती है (सि०शि० १२.६-८; वी०आ०चं०, पृ. ४५६)।

ग. भावलिंग —

"शिवोऽहं" (मैं शिवस्वरूप हूँ) इस प्रकार की भावना से, अर्थात् तैलधारावत् निरन्तर उसी के चिन्तनरूप निदिध्यासन के बल पर साधक को अपने मस्तिष्क स्थित सहस्त्रार कमल में जिस दिव्य ज्योतिस्वरूप परशिव का स्वात्मरूप से साक्षात्कार होता है, उसी को "भावलिंग" कहते हैं। यह निराकार है, अर्थात् इसका त्रिकोण, षट्कोण आदि कोई आकार नहीं है, किन्तु इसे परिपूर्णरूप कहा जाता है। बाह्य प्रमाणों से अगोचर होने पर भी निर्मल और शान्त बुद्धि के द्वारा इसका साक्षात्कार होता है।

इसे भावलिंग इसलिए कहा जाता है कि "शिवोऽहं" इस प्रकार की शुद्ध बुद्धि- वृत्ति से इसका साक्षात्कार होता है और इसकी अर्चना भी इसी वृत्ति से होती है, अर्थात् भावलिंग की अर्चना के लिए "शिवोऽहं" भावना के अतिरिक्त किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती तथा अन्त में वह भावना भी उसी ज्योति में लीन हो जाती है। इस प्रकार भावनामय व्यापार का ही विषय होने से इसे "भावलिंग" कहा जाता है। इसी को "तृप्तिलिंग" भी कहते हैं (सि०शि० १५.३७-३९; वी०आ०चं०,पृ. ४५७; श०वि०द०, पृ. १६२-१६३)।

३. जंगम

इस शब्द की दार्शनिक तथा साम्प्रदायिक दो तरह की परिभाषायें हैं। दार्शनिक परिभाषा यह है—जिसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्र सहित यह समस्त प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है, उस स्वयं-ज्योति स्वरूप परशिव को जो अपने आत्मस्वरूप से जानता है, अर्थात् शिव के साथ जिसे अभेद बोध उत्पन्न हुआ है, उस आत्मज्ञानी को वीरशैव दर्शन में जंगम कहा गया है (सि०शि० ११.३६)। जंगम शब्द के अक्षरार्थ से भी यही भाव द्योतित होता है—जैसे कि "जं" का अर्थ है जनन रहित, "ग" का अर्थ है गमन रहित और "म" का अर्थ मरण रहित है। इस प्रकार जनन-मरण रूप गमनागमन से रहित जीवन्मुक्त

महापुरुष ही "जंगम" है। (वी०स०सं० १५.६-८; वी०चिं०, पृ. ६७)। यह निस्पृह और निरहंकार भाव से लोक-कल्याणार्थ अपने अवशिष्ट जीवन को व्यतीत करता है। इसको "शिवयोगी" नाम से भी जाना जाता है (सि०शि० ९.६१)।

इसकी साम्प्रदायिक परिभाषा यह है—जैसे ब्राह्मण शब्द "ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी का प्रतिपादक होने पर भी वर्ण-व्यवहार में एक जाति का भी वाचक है, उसी प्रकार जंगम शब्द दार्शनिक दृष्टि से शिवज्ञानसंपन्न जीवन्मुक्त का प्रतिपादक होते हुये भी साम्प्रदायिक दृष्टि से जाति का भी वाचक है, अर्थात् "वीर-माहेश्वर-वंश" में, जिसे लिंगी ब्राह्मण कहा जाता है, उत्पन्न लोगों को भी जंगम कहते हैं (वी०स०सं० ११.४५)।

पूर्वोक्त शिवज्ञानसम्पन्न जीवन्मुक्त "जंगम" की स्वय, चर और पर नाम की तीन अवस्थायें हैं। उन अवस्थाओं से सम्पन्न जंगम को "स्वय-जंगम", "चर-जंगम" और "पर-जंगम" कहते हैं।

क. स्वय-जंगम —

अहंकार, ममकार से शून्य और पंचक्लेश रहित जीवन्मुक्त महापुरुष ही "स्वयं-जंगम" कहलाता है। यह स्वतन्त्र स्वभाव का होता है, अर्थात् यह किसी के अधीन नहीं रहता। यह इष्टलिंग की पूजा के साथ ही मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य में प्रकाशमान ज्योतिर्लिंगों की उपासना करता रहता है (सि०शि० १५.५२-५३)। यह किसी ग्राम या नगर के मठ में निवास करता हुआ वहाँ के सद्भक्तों के गृह से भिक्षा माँगकर उसी से अतिथियों का सत्कार करके स्वयं भी भिक्षाग्रहण करता है और उस ग्राम के भक्तों को सन्मार्ग का उपदेश करता है (वी०स०सं० १५.१५-२१)। इसको "स्वयं-जंगम" कहने का तात्पर्य यह है कि यह सर्वत्र स्वयं को ही देखता है, अर्थात् सभी प्राणियों में अपने ही स्वरूप का साक्षात्कार करता है। अतएव यह न किसी से घृणा करता है और न किसी से द्वेष ही। राजा-रंक, मूर्ख-विद्वान् इन सबमें इनकी समदृष्टि रहती है।

स्वयं-जंगम के चार प्रमुख कार्य बताये गये हैं। जो ये हैं—निरन्तर शिवध्यान, शिव से सम्बन्धित ज्ञान की चर्चा, एकान्त में निवास और भिक्षा

से प्राप्त अन्न से शरीर का निर्वाह। यही स्वय-जंगम का स्वरूप और उसका व्यवहार है (सि०शि०१५.५४-५६; वे०वी०चिं०, उत्तरखण्ड १२.२०१-२०५)।

ख. चरजंगम —

स्व स्वरूप के ज्ञान और आनन्द के उन्माद में ही संचरण करने वाले जीवन्मुक्त जंगम को ''चरजंगम'' कहते हैं। यह किसी एक निश्चित स्थान पर निवास नहीं करता है, किन्तु बड़े नगर में पाँच दिन और छोटे ग्राम के एक दिन, इस तरह निवास करता हुआ, शिवाद्वैत ज्ञान से समस्त प्रपञ्च को शिवस्वरूप देखता हुआ, मान और अपमान में समता भाव से युक्त होकर, प्राकृतिक सम्पत्ति में निस्पृह, शम, दम आदि सद्गुणों से समन्वित होकर, सदा सन्तुष्ट हृदय से संचरणशील रहता है।

यह अपने संचार में दर्शन, स्पर्शन तथा शिवज्ञान के उपदेश से शिवभक्तों का उद्धार करता रहता है। इस चर-जंगम में लोकसंग्रह की वासनायें अभी रहती हैं। लोकोद्धार करना ही इसके संचार का प्रयोजन है। इस तरह संचरणशील इस जंगम को ''चर-पट्टाधिकारी'' भी कहते हैं। यही ''चरस्थल'' नाम से भी जाना जाता है (सि०शि० १५.५७-६३; वी०स०सं० १५.२२-३१; वे०वी०चिं० उत्तरखण्ड १२.२०६-२११)।

ग. पर-जंगम —

''पर'' का अर्थ है श्रेष्ठ और ''जंगम'' का अर्थ जीवन्मुक्त है, अर्थात् जीवन्मुक्तों में जो अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है, उसे ''परजंगम'' कहते हैं। जीवन्मुक्ति की यही पराकाष्ठा है। इसे ''तुर्य'' या ''परमहंस'' अवस्था भी कह सकते हैं। इस जीवन्मुक्त के लिए वर्णाश्रम का कोई विधि-निषेध नहीं है। यह किसी एक स्थान पर निवास कर सकता है, नहीं तो संचार ही करता रह सकता है। इसको ''परजंगम'' इसलिए भी कहा जाता है कि पर अर्थात् ''विश्वोत्तीर्ण परशिव'' को स्वात्मरूप से जानने वाले इस जीवन्मुक्त की मनोवृत्ति भी ''तैलधारावत्'' निरन्तर उसी शिव-स्वरूप में लीन रहती है। इसलिए ''पर-जंगम'' को ''पर'' अर्थात् अपने से भिन्न दूसरे व्यक्ति या पदार्थ का बोध नहीं होता, किन्तु सर्वत्र अपने स्वरूप का ही बोध रहता है। व्यावहारिक भेद का भी बोध न रहने के कारण इससे लोगों को तत्त्वोपदेश होना असंभव है, किन्तु

इस महापुरुष के दर्शन तथा स्पर्शन मात्र से ही प्राणियों का उद्धार होता है। इसकी लोक-संग्रह की वासनायें पूर्ण रूप से निवृत्त रहती हैं। यह देहधारी होते हुए भी निर्देही कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके शारीरिक भोजन आदि व्यवहार अपने से न होकर दूसरे से कराये जाते हैं। इसके पादस्पर्श से सामान्य नदियाँ भी ''तीर्थ'' बन जाती हैं और इसका निवास का स्थान दिव्य-क्षेत्र बन जाता है (सि० शि० १५.६४-७१; वी०स०सं० १५.५५-६९; वे०वी०चिं०, उत्तरखण्ड १२.२१२-२२०)।

४. पादोदक

परमानन्द स्वरूप को "पाद'' कहते हैं और उस आनन्द के ज्ञान को ''उदक'' कहते हैं। इस तरह उन दोनों का ऐक्य ही ''पादोदक'' है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्व-स्वरूप के आनन्द का ज्ञान ही ''पादोदक'' कहलाता है—(सि०शि० १९.८)। यही इसका तात्त्विक अर्थ है।

वीरशैवों की पूजा पद्धति के अनुसार पाद की पूजा से प्राप्त पवित्र चरणामृत को भी ''पादोदक'' कहते हैं। चरणामृत को पादोदक इसलिए कहते हैं कि भक्ति से इसका सेवन करने से मन की मलिनता दूर हो जाती है और स्व-स्वरूप के ज्ञान के उदय की योग्यता प्राप्त हो जाती है। चरणामृत को तैयार करने की विधि वीरशैव सम्प्रदाय में इस प्रकार बतायी गयी है—गुरु या जंगम के पाद के अंगुष्ठ में रुद्र, तर्जनी में शंकर, मध्यमा में महादेव, अनामिका में त्र्यम्बक, कनिष्ठिका में ईशान; पाद के ऊपर के भाग में कपर्दी, पादतल में पंचवदन (सदाशिव), गुल्फों (टखनों) में रुद्र एवं भर्ग इस प्रकार पाद की उंगुलियों में शिव की ही अनेक मूर्तियों की भावना करके भस्म, गन्ध आदि से पूजा की जाती है। तदनन्तर पाद के अंगुष्ठ के ऊपर से शुद्ध जल से अभिषेक करके उस अभिषिक्त जल को अंगुष्ठ के नीचे एक पात्र में संग्रह करते हैं। इस प्रकार पादपूजा से प्राप्त चरणामृत को पादोदक कहते हैं (पा० तं० ७.४७-५०)।

यह गुरु के पाद की पूजा से प्राप्त होने पर ''गुरु-पादोदक'', जंगम के पाद की पूजा से प्राप्त होने पर ''जंगम-पादोदक'' और इष्टलिंग की पूजा से प्राप्त होने पर ''लिंग-पादोदक'' कहा जाता है। इन्हीं को क्रमशः ''दीक्षा-पादोदक'', ''शिक्षा-पादोदक'' और ''ज्ञान-पादोदक'' भी कहते हैं। वीरशैव

लोग प्रतिदिन गुरु अथवा जंगम के ''पादोदक'' का सेवन करते हैं। कदाचित् इन दोनों के अभाव में अपने इष्टलिंग की पूजा से प्राप्त ''लिंग-पादोदक'' का सेवन करते हैं (वी०आ०चं०, पृ. ११९; चं०ज्ञा०आ० ५.४-१९)।

५. प्रसाद

श्रद्धा से शिव को निवेदित वस्तुओं को प्रसाद कहते हैं। वस्तु भोग्य और धार्य के भेद से दो प्रकार की है। इनमें अन्न, जल आदि ''भोग्य'' तथा वस्त्र, अलंकरण आदि ''धार्य'' कहलाती हैं। वीरशैव धर्म में यह नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ''भोग्य'' और ''धार्य'' वस्तुओं को गुरु, लिंग तथा जंगम को समर्पित करके अवशिष्ट भाग को ''प्रसाद'' बुद्धि से स्वीकार करता है। इससे मन में प्रसाद गुण, अर्थात् प्रसन्नता उत्पन्न होती है। मन की प्रसन्नता में निमित्त होने से इन शिवार्पित वस्तुओं को प्रसाद कहा गया है (च०ज्ञा०आ० क्रियापाद० ५.२०-३६; सि०शि० ११.६-७)।

इस प्रसाद के सेवन से भक्ति का उदय होता है और भक्ति रहने पर ही शिवार्पित वस्तुओं में प्रसाद की बुद्धि होती है। इस तरह बीजाङ्कुरवत् भक्ति और प्रसाद का अन्योन्य सम्बन्ध है (सि०शि० ९.११)। यह प्रसाद ''शुद्ध'', ''सिद्ध'' तथा प्रसिद्ध के नाम से तीन प्रकार के हैं। गुरु को समर्पित किया हुआ ''शुद्ध-प्रसाद'', लिंग को समर्पित किया हुआ ''सिद्ध प्रसाद'' और जंगम को समर्पित किया हुआ ''प्रसिद्ध-प्रसाद'' कहलाता है (वी०आ०चं०, पृ. १३२)।

६. विभूति

गोमय से इसका निर्माण होता है। इसको तैयार करने की कल्प, अनुकल्प, उपकल्प और अकल्प ये चार प्रक्रियायें हैं। घर में गाय के गोमय देते समय, उसके भूमि में गिरने से पहले ही सद्योजात मन्त्रोच्चारण पूर्वक उसको ग्रहण करके, वामदेव मन्त्र से गोला बनाकर, तत्पुरुष मन्त्र से उसको सुखाना चाहिए। सूखने के बाद एक स्थण्डिल पर अग्नि तैयार करके, अघोर मन्त्र से जलाकर, ईशान मन्त्र से उसका संचय करके, एक बिल्व पात्र में रखकर पूजा के समय उपयोग करना चाहिये। यही ''कल्प'' प्रक्रिया है और यह सर्वश्रेष्ठ है। अरण्य में प्राप्त शुष्क गोमय को अघोर मन्त्र से जलाकर तैयार करने की विधि को

"अनुकल्प" प्रक्रिया कहते हैं। दूकान में मिलने वाले भस्म को वस्त्र से छानकर उसमें गोमूत्र मिश्रण करके सुखाना चाहिए। पुनः अघोर मन्त्र से जलाकर तैयार करने की विधि ही "उपकल्प" प्रक्रिया है। इन तीनों प्रक्रियाओं से रहित यथा कथञ्चित् तैयार करने की विधि को "अकल्प" प्रक्रिया कहते हैं (सि०शि० ७.१३-१८)।

वीरशैव सम्प्रदाय में इष्टलिंग की पूजा के समय अपने शरीर के मस्तक, ललाट, दोनों कानों, कण्ठ, कन्धा, दोनों भुजाओं, दोनों बाहुओं, मणिबन्धों, वक्षस्थल, नाभि और पृष्ठ पर जलमिश्रित विभूति का त्रिपुण्ड धारण करने का विधान है (सि०शि० ७.३१-३३)। यह पाँच प्रकार के गाय के गोमय से उत्पन्न होने के कारण विभूति, भसित, भस्म, क्षार और रक्षा के नाम से पाँच प्रकार का होता है।

क. विभूति —

कपिल वर्ण की नन्दा नाम की गाय के, जो कि शिव के सद्योजात मुख से उत्पन्न मानी जाती है, गोमय से तैयार किये गये भस्म को "विभूति" कहते हैं। इसका उपयोग नित्य कर्मों को करते समय किया जाता है। "विभूतिर्भूतिहेतुत्वात्" इस उक्ति के अनुसार "भूति" अर्थात् आठ ऐश्वर्यों को देने वाली है, अतः इसे "विभूति" कहते हैं (सि०शि० ७.५,७,८,१०, बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७३)।

ख. भसित —

शिव के वामदेव मुख से उत्पन्न मानी जाने वाली कृष्ण वर्ण की "भद्रा" नाम की गाय के गोमय से तैयार किये गये भस्म को "भसित" कहते हैं। इसका उपयोग नैमित्तिक कर्मों को करते समय किया जाता है। "भसितं तत्त्वभासनात्" इस वाक्य के अनुसार इसके धारण करने वाले को पर-शिव तत्त्व का भासन, अर्थात् प्रकाशन होने लगता है। अतः इसको "भसित" कहते हैं (सि०शि० ७.५,७,८,१०; बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७४)।

ग. भस्म —

शुभ्र वर्ण की गाय को "सुरभि" कहा जाता है। इसे शिव के अघोर मुख से उत्पन्न मानते हैं। इस "सुरभि" के गोमय से तैयार की गयी विभूति को

''भस्म'' कहते हैं। इसका उपयोग सभी प्रकार के प्रायश्चित्त कर्मों को करते समय किया जाता है। ''पापानां भर्त्सनाद् भस्म'' इस निरुक्ति के अनुसार जिससे मनो-वाक्-काय जन्य पापों को भय उत्पन्न होता है, अर्थात् इसके धारण से सभी प्रकार के पाप भय से भाग जाते हैं, उसे भस्म कहा गया है (सि०शि० ७.५,७,९,११, बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७५)।

घ. क्षार —

धूम्र वर्ण की ''सुशीला'' नाम की गाय के, जो कि शिव के तत्पुरुष मुख से उत्पन्न मानी जाती है, गोमय से तैयार किये गये भस्म को ''क्षार'' कहते हैं। इसका उपयोग सभी प्रकार के नित्य, नैमित्तिक कर्मों के करते समय किया जाता है। ''क्षारणात् क्षारमापदाम्'' इस उक्ति के अनुसार इसके धारण से सभी प्रकार की आपत्तियों का क्षय होता है, अर्थात् इससे सभी प्रकार की आपत्तियाँ दूर हो जाती है। अत: इसको ''क्षार'' कहते हैं (सि०शि० ७.५,७,९,१०, बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७६)।

ङ. रक्षा —

शिव के ईशान मुख से उत्पन्न मानी जाने वाली लाल रंग की ''सुमना'' नाम की गाय के गोमय से तैयार किये गये भस्म को ''रक्षा'' कहते हैं। इसका उपयोग मोक्ष के हेतुभूत निष्काम कर्मों को करते समय किया जाता है। ''रक्षणात् सर्वभूतेभ्यो रक्षेति परिगीयते'' इस उक्ति के अनुसार इसको धारण करने वाले की भूत, प्रेत आदि से रक्षा करने के कारण इसे ''रक्षा'' कहा गया है (सि०शि० ७.६,७,९,११, बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७७)।

७. रुद्राक्ष —

रुद्राक्ष के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध कथा है कि त्रिपुरासुर के संहार के लिए निर्निमेष दृष्टि से बैठे हुये रुद्र के नेत्र जल से इसकी उत्पत्ति हुई थी (सि०शि० ७.४७-४८, अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. ५७)। उत्पत्ति के भेद से रुद्राक्ष के ३८ प्रकार होते हैं। जैसे कि भगवान् रुद्र के सूर्यनेत्र से कपिल वर्ण के १२, चन्द्रनेत्र से शुभ्र वर्ण के १६ और अग्नि नेत्र से कृष्ण वर्ण के १० प्रकार के रुद्राक्ष उत्पन्न हुये (सि०शि० ७.४९-५१)। ये रुद्राक्ष एक मुख से चौदह मुख तक के होते हैं।

वीरशैवों के लिए अपने इष्टलिंग की पूजा करते समय शिखा के स्थान पर एक मुख का एक रुद्राक्ष, शिर पर दो मुख, तीन मुख और बारह मुख के एक एक इस प्रकार तीन रुद्राक्ष, शिर के चारों ओर ग्यारह मुख के छत्तीस रुद्राक्ष, दोनों कानों में पांच मुख, सात मुख और दस मुख के दो दो इस तरह छः छः रुद्राक्ष, कण्ठ में छः मुख के सोलह और आठ मुख के सोलह इस तरह बत्तीस रुद्राक्ष, वक्षस्थल पर चार मुख के पचास रुद्राक्ष, दोनों बाहुओं में तेरह मुख के सोलह सोलह रुद्राक्ष, दोनों मणिबन्धों (कलाइयों) में नौ मुख के बारह बारह रुद्राक्ष और चौदह मुख के एक सौ आठ रुद्राक्ष यज्ञोपवीत के रूप में धारण करने का विधान है (सि०शि० ७.५३-५८; शै०र० ८.१ पृ. ८६-८७)।

८. मन्त्र

शिव का साक्षात्कार कराने वाला ''ॐ नमः शिवाय'' यह पंचाक्षर मन्त्र वीरशैवों का प्रमुख मन्त्र है। ॐकार से संयुक्त होने के कारण वेदागमों में इसे षडक्षर मन्त्र भी कहा गया है। (सि०शि० ८.७, १७)। यह सप्त कोटि मन्त्रों में श्रेष्ठ है। इस मन्त्र के ''मूल'', ''विद्या'', ''शिव'', ''शैवसूत्र'' और ''पंचाक्षर'' ये पाँच नाम हैं। यह सप्तकोटि मन्त्रों का मूल कारण होने से ''मूल'' कहलाता है। इसके मनन से शिव और जीव की एकता की बोधक शुद्धविद्या का उदय होता है। अतः इसे ''विद्या'' कहते हैं। शिव के दर्शन का निमित्त होने से यह ''शिव'' कहलाता है। शिव सम्बन्धी सभी विषय इन्हीं पाँच अक्षरों में अत्यन्त संक्षेप से प्रतिपादित हैं। अतः इसे ''शैवसूत्र'' कहते हैं। पाँच अक्षरों से संयुक्त होने के कारण यह पञ्चाक्षर कहलाता है (सि०शि० ८.२३)।

वीरशैव धर्म के आचार्य अपने गोत्र के अनुयायी भक्तों को ''मन्त्रदीक्षा'' करते समय पुरुषों को ॐकार सहित और स्त्रियों को ॐकार रहित इस मन्त्र का उपदेश करते हैं। इस मन्त्र के ऋषि वामदेव हैं। यह पंक्ति छन्द का मंत्र है। शिव ही इसके अधिष्ठातृ देवता हैं। ॐकार ही बीज है। उमा शक्ति है। इस प्रकार इस मंत्र के ऋषि आदि को तथा न्यास आदि के क्रम को गुरुमुख से जानकर, तीन बार प्राणायाम करके, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर अपने इष्टलिंग की साक्षी में इस मंत्र का १०८ या इससे अधिक यथाशक्ति रुद्राक्षमाला से जप करते हैं। यह जप वाचिक, उपांशु, तथा मानसिक भेद से तीन प्रकार है। समीपस्थ व्यक्ति को यदि मंत्र का उच्चारण सुनायी देता है,

तो वह वाचिक कहलाता है। यदि समीपस्थ व्यक्ति को सुनायी तो नहीं देता है, किन्तु ओठों का चलन दिखायी देता है, तो वह उपांशु कहलाता है। ओठ और जिह्वा के संचलन के बिना ही इस मंत्र के अर्थस्वरूप परशिव का मन में चिन्तन करना मानसिक जप है। इन सबमें मानसिक जप ही श्रेष्ठ है (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ८.९-१२ तथा ४८-७४; सि०शि० ८.२५-२९)।

यह पंचाक्षर मंत्र ही भिन्न भिन्न बीजाक्षरों से संयुक्त होकर "प्रसाद-पंचाक्षरी", "माया-पंचाक्षरी", "सूक्ष्म-पंचाक्षरी", "स्थल-पंचाक्षरी" और "मूल-पंचाक्षरी" के नाम से पाँच प्रकार का होता है। ये क्रमशः दस, नौ, आठ सात और छ: वर्णों के होते हैं। इनका स्वरूप गोपनीय होता है। बीजाक्षरों से संयुक्त इन पंचाक्षरी मंत्रों का उपदेश सर्वसाधारण को नहीं किया जाता, किन्तु इस धर्म के आचार्य ही इनके अधिकारी होते हैं। इनमें वीरगोत्र के आचार्यों को प्रसाद-पंचाक्षरी का, नन्दिगोत्र के आचार्यों को माया- पंचाक्षरी" का, भृंगि गोत्र के आचार्यों को सूक्ष्म-पंचाक्षरी का, वृषभ गोत्र के आचार्यों को स्थूल-पंचाक्षरी का और स्कन्द गोत्र के आचार्यों को मूल-पंचाक्षरी का उपदेश दिया जाता है। यह उपदेश गुरुस्थान पर पट्टाभिषेक करते समय उनको दिया जाता है (वी०सं०सं० ५.१४-४०)।

आचार

शास्त्रविहित कर्मों के आचरण से शिवभक्ति की उत्पत्ति होती है। इन शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान ही "आचार" कहलाता है। यह आचार जिज्ञासु तथा ज्ञानी दोनों के लिये अलंकार बन जाता है। अत: वीरशैव दर्शन में ज्ञान के साथ शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठानरूप "आचार" को अधिक महत्त्व दिया गया है (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद० ९.१६-१८)। (वीरशैव दर्शन में "पंचाचार" और "सप्ताचार" प्रसिद्ध है। इनकी परिभाषा यथा स्थान देखें)

आचारलिंग

इसकी परिभाषा के लिए "लिंग-स्थल" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.३३,४२,४३; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.२८)।

आणवमल

इसकी परिभाषा के लिए "मल" शब्द देखिए (श०वि०द०, पृ. ९०-९१)।

आदिपिण्ड

इसकी परिभाषा के लिए ''पिण्ड'' शब्द देखिए (तों०व०को०, पृ. ४३)।

आदिशक्ति

इसकी परिभाषा के लिए ''शक्ति'' शब्द देखिए (वा०शु०तं० १.२५; शि०मं०, पृ. २७)।

आनन्दभक्ति

इसकी परिभाषा के लिए ''भक्ति'' शब्द देखिए (अनु०सू०४.२५; शि०श०को०, पृ. ५१)।

आराध्य

वीरशैव धर्म के संस्थापक रेवणाराध्य, मरुलाराध्य, एकोरामाराध्य, पंडिताराध्य और विश्वाराध्य इन पाँच आचार्यों को ''आराध्य'' कहते हैं। ये पाँचों कलियुग के आचार्य हैं। इन्हीं को ''पंचाचार्य'' भी कहते हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए ''पंचाचार्य'' शब्द की परिभाषा देखिये (वी०स०सं० १.३४; पं०पं०प्र०, पृ. २)।

आलम्ब

आश्रय अथवा आधार को ''आलम्ब'' कहते हैं। जैसे पृथ्वी सभी प्राणियों का आलम्ब है, उसी प्रकार शिव ही इस विश्व का आलम्ब, अर्थात् आश्रय है।

इच्छाशक्ति

इसकी परिभाषा के लिए ''शक्ति'' शब्द देखिए (वा०शु०तं० १.२५; शि०मं०, पृ. २७,३४)।

इष्टलिंग

इसकी परिभाषा के लिये ''अष्टावरण'' शब्द के अन्तर्गत ''लिंग'' शब्द देखिए (वी०स०सं० १०.३९; अनु०सू० ५.५८,५९; सि०शि० ६.२२-२५; वी०स०सं० १०.३७; पा०तं० १.७५-७७; सि०शि० ६.५१; अनु०सू० ३.९,१०; वी०आ०चं०, पृ. ४५६; सि०शि० ६.५२-५३; वी०मा०सं० ६.४४-५०; पा०तं० २.३३-४३; शि०श०२३)।

उपाधिमाट

इसकी परिभाषा के लिए "माट" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. ८४)।

ऐक्य

इसकी परिभाषा के लिए "अंग-स्थल" शब्द देखिए (सि०शि० १४.१-१५; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. २४०-२४२; सि०शि० २०.६१; अनु०सू० ५.५६)।

ऐक्य-भक्त

ऐक्य अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होकर जो व्यक्ति भक्तस्थल के साधक के द्वारा किये जाने वाले इष्टलिंग की पूजा, पंचाक्षरमन्त्र का जप, पंचाचारों का पालन आदि नित्य-कर्मों को करता रहता है, उसे "ऐक्य-भक्त" कहते हैं। शिव-स्वरूप का ज्ञान होने पर भी वह भक्त की क्रियाओं को इसलिए करता रहता है कि लोक में बड़े व्यक्तियों के आचरण को देखकर छोटे लोग उसका अनुकरण करते है। ज्ञानी स्वयं कृतकृत्य होने से इष्टलिंग की पूजा आदि को यदि छोड़ देता है, तो अज्ञानी लोग भी उसे देखकर पूजा आदि के अनुष्ठान का परित्याग कर सकते हैं। अत: अज्ञानियों के मार्गदर्शन के लिए ज्ञानी को भी धर्माचरण करना आवश्यक है और वीरशैव दर्शन में उसके लिए धर्माचरण करने का विधान भी है (सि०शि० १६.६४-६५)।

जीवन्मुक्त होकर भी कर्म करने से ज्ञानी को कोई हानि नहीं है। जैसे जल में खींची गयी रेखा जल में अंकित नहीं होती, अथवा जैसे दग्धबीज पुन: अङ्कुरित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी के द्वारा किये गये कर्म उसके जन्मान्तर के कारण नहीं बन पाते (अ०वी०सा०सं० २७.१९-२३)। इस प्रकार लोक-संग्रहार्थ नित्य कर्म आदि का अनुष्ठान करने वाले इस जीवन्मुक्त को "ऐक्य-भक्त" कहते हैं।

ऐक्य स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "अंग-स्थल" शब्द देखिए (सि०शि० १४.१-१५; अ०वी० सा०सं०, भा० २, पृ. २४०-२४२; सि०शि० २०.६१; अनु०सू० ५.५६)।

करण-हसिगे

यहाँ पर ''करण'' का अर्थ है स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीर में रहने वाले सभी तत्त्व और ''हसिगे'' का अर्थ होता है विभाग, अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर में रहने वाले सभी तत्त्वों को विभक्त करके उनके स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेना ही ''करण-हसिगे'' कहलाता है। वस्तुतः दर्शनान्तर में जिसे ''पंचीकरण'' कहते हैं, उसे ही यहाँ ''करण-हसिगे'' कहा गया है। जैसे परमात्मा को जानने के लिए ब्रह्माण्ड का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को जानने के लिए पिण्डाण्ड स्थित सभी तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। पिण्डाण्ड के यथांर्थ ज्ञान से ही उससे भिन्न रहने वाले आत्मा का भी यथार्थ ज्ञान होता है।

वीरशैव सन्त-साहित्य में इस पिण्डाण्ड विज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थ को भी ''करण-हसिगे'' कहा गया है। श्री चन्न बसवेश्वर ने अपने ''करण-हसिगे'' नामक लघु ग्रन्थ में ॐकार से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति बता कर उन भूतों से स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीरों के सभी तत्त्वों की उत्पत्ति को विस्तार रूप से आगम की दृष्टि से समझाया है। जैसे कि स्थूल शरीर में रहने वाले अस्थि (हड्डी), मांस, चर्म, नाड़ी और रोम ये पांच गुण पृथ्वी के हैं। लालारस, मूत्र, स्वेद, शुक्र और शोणित ये पाँच जल के गुण हैं। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य और संग ये पांच गुण तेज के हैं। धावन, चलन, आकुञ्चन, प्रसारण तथा वियोग ये पांच गुण वायु के हैं। राग, द्वेष, भय, लज्जा एवं मोह ये पाँच गुण आकाश के हैं। इस प्रकार पंचीकृत पंचमहाभूतों के पच्चीस गुणों से इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति बतायी गयी है। उसके बाद सूक्ष्म शरीर में रहने वाले श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों की; वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रियों की; प्राण, अपान आदि दशविध वायुओं की; मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण की उक्त पंचमहाभूतों के ही परस्पर मिश्रण से उत्पत्ति बताकर, शरीर में उनसे होने वाले कार्य, उनके अधिष्ठातृदेवता का स्वरूप एवं तत्तत् इन्द्रियों के विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद आत्मा का निरूपण आता है। पंचमहाभूत, पंचप्राण, दशविध इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण-चतुष्टय इन चौबीस अनात्म तत्त्वों से भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व है और जिसके कारण इन सबमें चेतन का व्यवहार होता है, वह चिद्रूप ''आत्मा'' है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। परशिव ही इसके अधिष्ठातृ देवता हैं।

यह आत्मा जब देह से संपृक्त होता है, तो उसको अष्टमद, सप्तव्यसन, षडूर्मियाँ, अरिषड्वर्ग, षड्विकार, पंचक्लेश, तापत्रय इत्यादि की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका विस्तार से यहाँ वर्णन किया गया है। इस प्रकार शरीर आदि की उत्पत्ति उससे आत्मा का संपर्क तथा शरीर के संपर्क से आत्मा में होने वाले विकारों का विवरण बताकर पिण्डाण्ड का सम्पूर्ण विज्ञान इस ग्रन्थ में प्रतिपादित है। इसके अध्ययन से अनात्म तत्त्वों को पंचमहाभूतों के विकार जानने से निर्विकार आत्मा का यथार्थ बोध होता है। इस प्रकार देह के सभी तत्त्वों का विभाग करके उनके स्वरूप का बोध कराने वाले इस ग्रन्थ को ''करण-हसिगे'' कहा गया है (च०ब०व०, पृ. ६६९-६८५; व०वी०ध० पृ. ११३-११५)।

कर्तृ-सादाख्य

इसकी परिभाषा ''सादाख्य'' शब्द में देखिए (वा०शु०तं० १.५८-६४; सू०आ० क्रियापाद० १.३८-४२)।

कर्मयोग

इसकी परिभाषा ''कायक'' शब्द में देखिए (व०वी०ध०, पृ. १५०,१५८, १८५; शू०सं०प०, पृ. ६७४-७११)।

कर्म-सादाख्य

इसकी परिभाषा के लिए ''सादाख्य'' शब्द देखिए (वा०शु०तं १.६५-१०७; स०आ०क्रियापाद १.४३-५१)।

कला

परशिवनिष्ठ शक्ति का ही दूसरा रूप कला है। जिस समय वह परशिव अपने में ही उपास्य-उपासक लीला की इच्छा करता है, तो स्वयं ''लिंग'' और ''अंग'' बन जाता है। तब वह शक्ति भी अपने स्वातन्त्र्य से ''कला'' और ''भक्ति'' का रूप धारण करती है। उनमें ''कला'' लिंग के आश्रित रहती है और ''भक्ति'' अंग के। इस तरह लिंगस्थल में आश्रित शक्ति ही कला कहलाती है (अनु०सू० २.१३,२२,२३)।

यह कला ''निवृत्ति'', ''प्रतिष्ठा'', ''विद्या'', ''शान्ति'' ''शान्त्यतीता'' और शान्त्यतीतोत्तरा के नाम से छः प्रकार की है। यह कलाओं का आरोहण

क्रम है। जब अंग (जीव) इन कलाओं के आश्रयभूत लिंगरूपी शिव की उपासना करता है, तब शिव इन कलाओं के द्वारा उस जीव में प्रसुप्त सर्वज्ञत्व आदि शक्तियों को जागृत करके अपने स्वरूप में समरस कर लेता है। इस प्रकार ये कलाएँ उपासक जीव के अमृतत्व की प्राप्ति में सहायक बनती हैं (सि० शि० १.१०,१२ तत्त्वप्रदीपिका टीका सहित; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५६; त०ज्ञा०, पृ. ४१)।

निवृत्तिकला

"निवर्त्यतेऽनयेति निवृत्तिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस कला की सहायता से साधक का कर्मभोग निवृत्त हो जाता है, उसको निवृत्ति कला कहते हैं। इस निवृत्ति कला का पर्याय-नाम क्रियाशक्ति है, अर्थात् क्रियाशक्ति का ही दूसरा रूप निवृत्ति कला है (अनु०सू० ३.२६; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५६; त०ज्ञा०, पृ. ४१)।

प्रतिष्ठाकला

"प्रकर्षेण स्थाप्यन्तेऽनयेति प्रतिष्ठा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा अचेतन तत्त्वों की चेतन तत्त्व में प्रतिष्ठा होती है, उसको प्रतिष्ठाकला कहते हैं। अर्थात् यह एक तरह से प्रपञ्च की स्थिति में सहायक बनती है और दूसरी तरफ साधकों में शिव के प्रति ऐसी अनुराग की भावनाओं को स्थापित करती है, जिससे साधकों का संसार के प्रति राग निवृत्त हो जाता है। इसी कला का पर्याय ज्ञानशक्ति है (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५६; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

विद्याकला

"आत्मानं यया वेत्ति सा विद्या" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसकी सहायता से साधक माया और उसके कार्यभूत इस प्रपञ्च से विविक्त आत्मतत्त्व को जानता है, उसको विद्याकला कहते हैं। इच्छाशक्ति इस विद्याकला का पर्याय है (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५७; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

शान्तिकला

जिस कला की सहायता से साधक के मल, आणव, मायीय और कर्मरूपी पाश, उपशान्त हो जाते हैं, उसको शान्तिकला कहते हैं। इस कला का पर्याय

'आदिशक्ति'' है (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५७; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

शान्त्यतीता कला

पाश जाल के उपशम के अनन्तर अद्वितीय सत्-चित्-आनन्दैकरस परशिव का बोध जिस कला से साधक को प्राप्त होता है, उसको शान्त्यतीता कला कहते हैं। इसका पर्याय ''पराशक्ति'' है (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५७; त०ज्ञा० पृ. ४२)।

शान्त्यतीतोत्तरा कला

सच्चिदानन्दैकरस परशिव का जो बोध है, उससे भी अतीत अत्यन्त सूक्ष्म परमतत्त्व में साधक जिस कला के द्वारा समरस हो जाता है, उसको शान्त्यतीतोत्तरा कला कहते हैं। इसका पर्याय है चिच्छक्ति (अनु०सू० ३.२४)।

कायक

सत्य और पवित्र भाव से जीविकोपार्जन करना अनिवार्य है। इस प्रकार की जीविका के लिए किये गये उद्योग को ''कायक'' कहते हैं। इस उद्योग को करने का प्रधान उद्देश्य व्यक्तिगत उपभोग और भोग विलास न होकर गुरु, लिंग, जंगम आदि अतिथियों का सत्कार करना है। इस अतिथि सत्कार को ''दासोऽहं'' भाव से करना चाहिए। अर्थात् मैं सब सत्पुरुषों का तथा शिव का दास हूँ, इस पवित्र भाव को मन में रखकर करना चाहिए। इस तरह की अतिथि-सेवा से अवशिष्ट अन्न को प्रसाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए। अतिथि-सत्कार रूप इस महान् उद्देश्य को सामने रखकर किया जाने वाला शारीरिक या बौद्धिक परिश्रम ''कायक'' कहलाता है और इसे ''कर्मयोग'' भी कहते हैं।

प्रतिदिन सम्पादित द्रव्य उसी दिन इस महान् उद्देश्य के लिए लगाना चाहिए और इसके लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। इस तरह कायक तत्त्व में ''असंग्रह'' और ''अपरिग्रह'' ये दो महत्त्वपूर्ण अंश हैं। इसमें अतिथि-सत्कार और स्वावलंबन का समन्वय है।

१२वीं शताब्दी के वीरशैव सन्तों ने ''कायक'' तत्त्व पर अत्यधिक जोर दिया है। कायक को उपासना का एक अंग माना है, क्योंकि अहंकाररहित

भाव से किये गये सब कार्य-कलाप भगवान् की तरफ ले जाने में सहायक होते हैं। "कायक" का यह सन्देश है कि उद्योग के बिना जीने, रहने तथा पूजा करने का अधिकार नहीं है। कायक के बिना पूजाविधि पूरी नहीं होती, अतः यह पूजा का ही एक अंग है। समाज और व्यक्ति इन दोनों के उद्धार की कल्पना इस कायक तत्त्व में निगूढ है (व०वी०ध०, पृ. १५०, १५८, १८५; शू०सं०प०, पृ. ६७४-७११)।

कार्ममल

इसकी परिभाषा के लिए "मल" शब्द देखिए (श०वि०द०, पृ. ९०-९१; सि०शि० ५.४७-४८)।

क्रियाचार

इसकी परिभाषा के लिए "सप्ताचार" शब्द देखिए (च०ब०व० १४१०; पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध०, पृ. २७५)।

क्रियादीक्षा

इसकी परिभाषा के लिए "दीक्षा" शब्द देखिए (सि०शि० ६.१५-१९; वी०स०सं० १०.४७-६८; सि०शि० ६.२६; सि०शि० ६.४०-४१; अनु०सू० ५.४१, ५८,५९)।

क्रियाशक्ति

इसकी परिभाषा "शक्ति" शब्द में देखिए (वा०शु०तं० १.२६; शि०मं०, पृ. २७,३४)।

क्षार

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "विभूति" शब्द को देखिए (सि०शि० ७.५,७,९,१०; शै०र० ७.७६; बृ०जा०उ० ब्राह्मण)।

गणाचार

इसकी परिभाषा के लिए "पंचाचार" शब्द देखिए (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.५१-१२३; सि०शि० ९.३६,३७)।

गर्भलिंग-धारण

स्त्रियों को उनके गर्भधारण के आठवें महीने में किया जाने वाला लिंग-धारण संस्कार ही "गर्भ-लिंग-धारण" कहलाता है। यह वीरशैवों का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। शास्त्रों में बताया गया है कि गर्भ के आठवें महीने में गर्भस्थ शिशु के शरीर के सम्पूर्ण अवयवों का विकास होकर उसमें प्राण का प्रवेश हुआ रहता है। अतः उस गर्भस्थ शिशु के उद्देश्य से गर्भ के आठवें महीने में अपने गोत्र के आचार्य को आमन्त्रित करके उनके द्वारा पंचामृत-प्रोक्षण और भस्म आदि के धारण से गर्भ का संस्कार कराते हैं। यह संस्कार परम्परया गर्भस्थ शिशु का ही माना जाता है। अनन्तर एक अंगुष्ठ परिमाण के "पंचसूत्र लिंग" को अभिषेक आदि से संस्कृत करके आचार्य उस सुसंस्कृत लिंग को गर्भिणी स्त्री के हाथ में देते हैं। वह स्त्री उस लिंग का अपने पेट से स्पर्श कराकर शिशु के जनन-पर्यन्त अपने गले में धारण किये रहती है और उसकी अपने इष्टलिंग के साथ प्रतिदिन पूजा करती है। इस प्रकार गर्भस्थ शिशु के निमित्त से गर्भणी स्त्रियो को किया जाने वाला लिंग-धारण ही "गर्भ-लिंग-धारण" कहलाता है (वी०आ०प्र० १.८२)।

शिशु-जनन के अनन्तर आचार्य पुनः आकर उस लिंग का पुनः संस्कार करते हैं और उसें शिशु के गले में पहनाकर उसके कर्ण में पंचाक्षरी मन्त्र का उपदेश करते हैं। जनन के अनन्तर होने वाला यह संस्कार "लिंग-धारण" कहलाता है। इसे शिशु के जन्म के दिन ही किया जाता है। अतः वीरशैव धर्म में यह "लिंग-धारण" "जातकर्म-संस्कार" का ही एक अंग माना गया है (वी०आ०प्र० १.९४-१२८)।

जायमान शिशु शिवसंस्कार से सम्पन्न होकर ही जन्म ग्रहण करे और जन्म के अनन्तर भी शिवसंस्कार से संयुक्त रहे, इस उद्देश्य से वीरशैव आचार्यो ने "गर्भ-लिंग-धारण" और "लिंग-धारण" नाम के दो संस्कारों का विधान किया है।

गुरु

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (वी०स०सं० १४.१-१६; क्रि०सा०, भा० ३, पृ. १३३; सि०शि० ६.१-७)।

गुरुलिंग

इसकी परिभाषा ''लिंग-स्थल'' शब्द में देखिए (अनु०सू० ३.३२,७१.४२; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.२८)।

गुरु-लिंग-जंगम

वीरशैव धर्म में गुरु, लिंग और जंगम ये तीनों पूजनीय माने जाते हैं। दीक्षा, शिक्षा तथा ज्ञान का उपदेश करने वाला गुरु कहलाता है। दीक्षा में गुरु के द्वारा प्राप्त शिव का चिह्न ही ''लिंग'' है, जो कि वीरशैव उपासना का एक प्रमुख साधन है। जीवन्मुक्त महापुरुष को ''जंगम'' कहते हैं। वीरशैव धर्म में इन तीनों को भिन्न नहीं माना जाता। ये शिव के ही तीन रूप हैं, अर्थात् शिव ही स्वयं अपने भक्तों के कल्याणार्थ इन तीन रूपों में अवतरित होते हैं। अत: इन तीनों की अभेद रूप से उपासना की जाती है (सि०शि० ९.५८-५९)। (इन तीनों के विस्तृत विवरण के लिए ''अष्टावरण'' शब्द की परिभाषा देखिए)

चर-जंगम

इसकी परिभाषा के लिए ''अष्टावरण'' शब्द के अन्तर्गत ''जंगम'' शब्द देखिए (सि०शि० १५.५७-६३; वी०स०सं० १५.२२-३१; वे०वी०चिं० उत्तरखण्ड १२.२०६-२११)।

चर-लिंग

इसकी परिभाषा के लिए ''लिंग-स्थल'' शब्द के अन्तर्गत ''जंगम-लिंग'' शब्द को देखिए (अनु०सू० ३.३०, ३८,३९; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.२९)।

चर-स्थल

इसकी परिभाषा के लिए ''चर-जंगम'' शब्द देखिए (सि०शि० १५.५७-६३; वी०स०सं० १५.२२-३१; वे०वी०चिं०उत्तरखण्ड १२.२०६-२११)।

चिच्छक्ति

इसकी परिभाषा ''शक्ति'' शब्द में देखिए (शि०मं०, पृ. २७; सि०शि० २.१२,१३; शि०मं०, पृ. ३३,३४; सि०शि० २०.३५-३८)।

चित्कला

इसकी परिभाषा के लिए "निरालम्ब-चित्" शब्द देखिए (शि०श०को० पृ. १४-१५)।

चित्-पिण्ड

इसकी परिभाषा "निरालम्ब-चित्" शब्द में देखिए (शि०श०को०, पृ. १४-१५ तो०व०को०, पृ. १२५)।

चिदानन्द

इसकी परिभाषा के लिए "निरालम्ब-चित्" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. १४-१५)।

चिद्बिन्दु

इसकी परिभाषा "निरालम्ब-चित्" शब्द में देखिए (शि०श०को०, पृ. १४-१५)।

चिन्नाद

इसकी परिभाषा के लिए "निरालम्ब-चित्" शब्द देखिये (शि०श०को०, पृ. १४-१५)।

जंगम

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (सि०शि० ११.३६; वी०स०सं० १५.६-८; वी०चि०, पृ. ६७; सि०शि० ९.६१, वी०स०सं० ११.४५)।

ज्ञानगुरु

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "गुरु" शब्द देखिए (सि०शि० १५.२१-२९)।

ज्ञानाचार

इसकी परिभाषा के लिए "सप्ताचार" शब्द देखिए (च०ब०व० १४१०; पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध० पृ. २७५)।

त्यागांग

इसकी परिभाषा के लिए "अंग" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.७, १५-१६)।

दासोऽहं भावना

वीरशैव धर्म का यह नियम है कि अपने तन, मन, धन को यथाशक्ति क्रमश: गुरु, लिंग एवं जंगम की सेवा में समर्पित करना चाहिए। समर्पण करते समय "मैं कर्ता हूँ" इस प्रकार के अहंकार को त्यागकर मैं गुरु, लिंग एवं जंगम का दास हूँ, इस भाव से युक्त होना ही "दासोऽहं भावना" कहलाती है। वीरशैव सन्तो ने "शिवोऽहं" तथा "सोऽहं" इन दोनों भावनाओं से इस "दासोऽहं भावना" को अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि "शिवोऽहं" तथा "सोऽहं" इन दोनों भावनाओं से साधक के मन में सूक्ष्म रूप से अहंकार प्रवेश कर सकता है। अत: उस ज्ञानजन्य अहंकार से भी दूर होने के लिए इस "दासोऽहं भावना" की आवश्यकता है।

शिवोऽहं भावना के अनन्तर उत्पन्न यह दासभावना वीरशैव दर्शन में एक हेय या निकृष्ट भावना न होकर एक ऐसी उत्कृष्ट भावना मानी जाती है, जिससे आत्मज्ञानी अपने में ही सेव्य-सेवक भाव के आनन्द का अनुभव करता है। इसी को ज्ञानोत्तरा भक्ति कहते हैं (अनु०सू० ७.६१; सि०रा०व० ३०६; व०वी०ध०, पृ. १८४-१८५)।

दीक्षा

जिस संस्कारविशेष से शिवज्ञान की प्राप्ति और पाश (बन्धन) का नाश हो जाता है, उसे दीक्षा कहते हैं (सि०शि० ६.११)। वीरशैव धर्म में सभी व्यक्तियों को दीक्षा लेना अनिवार्य है। इस दीक्षा में पट्टाभिषिक्त आचार्य अपने गोत्र के शिष्यों को "इष्टलिंग" प्रदान करके पंचाक्षरी मन्त्र उपदेश करते हैं। इस दीक्षा-ग्रहण का पुरुष तथा स्त्रियों को समान अधिकार है।

जन्म के आठवें वर्ष में दी जाने वाली दीक्षा उत्तम मानी जाती है। सोलहवें वर्ष में दी जाने वाली दीक्षा मध्यम और उसके अनन्तर दी जाने वाली दीक्षा को अधम कहा गया है (वी०स०सं० ११.२)।

दीक्षा के बिना कोई भी वीरशैव लिंगांग-सामरस्यात्मक मोक्ष के लिए अधिकारी नहीं बन सकता, अत: ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस व्याससूत्र की व्याख्या में वीरशैव आचार्यों ने ''अथ'' शब्द का ''दीक्षा द्वारा इष्टलिंग धारण आदि अष्टावरण प्राप्ति के अनन्तर'' इस प्रकार अर्थ किया है (श्रीकर०भा० १.१.१; क्रि०सा० १.६६, ८४; ब्र०सू०वृ०, पृ. १७-३४)।

जैसे स्वाति नक्षत्र में शुक्ति (सीप) में गिरा हुआ जल मोती बन जाता है, वह पुन: पानी नहीं बनता, उसी प्रकार दीक्षित जीव पुन: भवचक्र में नहीं आता। उसका यही जन्म अन्तिम है (वी०स०सं० ११.३-७)। यह दीक्षा वेध, मन्त्र और क्रिया के भेद से तीन प्रकार की होती है (सि०शि० ६.१२)।

क. वेधदीक्षा

गुरु प्रथमत: शिष्य के प्रति अपनी शिवावह दृष्टि से निरीक्षण करता है और अपने हस्त से शिष्य के मस्तक का स्पर्श करता है। इस स्पर्श का मूल उद्देश्य शिष्य में शिवत्व का समावेश करना रहता है। इस हस्त-मस्तक-संयोग रूप क्रिया से उस समय शिष्य को क्षण भर के लिए शिवस्वरूप का आभास मिलता है, अर्थात् उसको ''मैं शिव हूँ'' यह अनुभव होता है। वस्तुत: यह ''शिवोऽहं'' भावना ही भाव-लिंग है। गुरुकृपा से प्राप्त इस भावलिंगानुभाव को शिष्य पुन: अपनी साधना के द्वारा दृढ कर लेता है। इससे उसकी ''मैं अणु हूँ'' इस प्रकार के आणव मल की निवृत्ति हो जाती है। गुरु द्वारा किया जाने वाला आणव मल निवारक चिन्मय शिवस्वरूप का उपदेश ही ''वेधदीक्षा'' कहलाती है (सि०शि० ६.१३; अनु०सू० ५.४०,५७; वी०स०सं० ११.१०)।

ख. मन्त्रदीक्षा

शिष्य के दाहिने कर्ण में अत्यन्त गोपनीयता से शिवमय पञ्चाक्षर मन्त्र का उपदेश देना ही मन्त्रदीक्षा कहलाती है। यह लक्ष्य में रखना है कि जिसको वेधदीक्षा दी जाती है, उसी को मन्त्रोपदेश दिया जाता है। यहाँ उपासना या मनन करने के लिए शिव के मन्त्रमय स्वरूप का उपदेश होता है। ''शिव'' पंचाक्षरी मन्त्र स्वरूप ही है। अत: उस मन्त्र की आवृत्ति से तथा तदाकार मनन करने से मन के माया-मल की निवृत्ति हो जाती है। मन्त्रोपदेश के अनन्तर गुरु शिष्य के हृदय में प्रकाशरूप प्राणलिंग का बोध कराता है। इस तरह माया-

मल की निवृत्ति तथा प्राणलिंग का बोध ही इस दीक्षा का फल है (सि०शि० ६.१४; अनु०सू० ५.४१,५८; वी०स०सं० ११.११)।

ग. क्रियादीक्षा

शुभ मुहूर्त में मठ या मन्दिर आदि पवित्र स्थानों में मण्डल तैयार करके उसमें कलश-स्थापन पूर्वक मण्डल रचना, मूर्तिपूजा आदि की जाती है। वीरशैव मत में पञ्च कलश स्थापन करने का विधान है। गुरु अपने आम्नाय के अनुसार प्रथमतः उन पाँच कलशों में वीरशैवों के पंच-सूत्र तथा गोत्र के मूलप्रवर्तक रेणुक, दारुक, घंटाकर्ण, धेनुकर्ण तथा विश्वकर्ण इन पाँच आचार्यों का आह्वान करके उनकी साक्षी में शिष्य को अपने सम्मुख बिठाकर पंचगव्य-प्राशन, अभिषेक आदि से उसके शरीर को शुद्ध करता है (सि०शि० ६.१५-१९)। इस शुद्ध शरीर को मन्त्रपिण्ड कहते हैं। इस प्रकार अंग-शुद्धि के अनन्तर शिलामय पञ्चसूत्र समन्वित शिवलिंग में से शिलात्व की निवृत्ति के लिए जलाधिवास, धान्याधिवास आदि अधिवास क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं। इसके बाद उस लिंग में शिव-कला नियोजन द्वारा प्राणप्रतिष्ठा करते हैं (वी०स०सं०, १०.४७-६८)।

पुनः उस सुसंस्कृत शिवलिंग को शिष्य के हाथ में देकर गुरु यह शिक्षा देता है कि इसको अपने प्राण की तरह सदा गले में धारण करना चाहिए (सि०शि० ६.२६)। अनन्तर गुरु पंचाक्षरी मन्त्र का उपदेश करते हैं तथा उस मन्त्र के छन्द, ऋषि और देवता का ज्ञान कराकर न्यासपद्धति को भी सिखाते हैं (सि०शि० ६.२०,२१)। इस तरह इष्टलिंग धारण के लिए किया जाने वाला संस्कार ही क्रियादीक्षा कहलाती है। इस दीक्षा से जीव के कार्मिक मल (संचित कर्म) नष्ट हो जाते हैं (अनु०सू० ५.४१,५८,५९)।

दीक्षागुरु

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "गुरु" शब्द देखिए (सि०शि० १५.७)।

द्वैताद्वैतात्मक विशेषाद्वैत

वीरशैव दर्शन के अनेक नामों में यह भी एक नाम है। इस नाम से वीरशैव

सिद्धान्त का प्रतिपाद्य विषय ज्ञात होता है। ''विश्च शेषश्च = विशेषौ = ईशजीवौ, तयोरद्वैतं = विशेषाद्वैतम्'' यह इस शब्द की व्युत्पत्ति है। ''वि:'' शब्द का पक्षी और परमात्मा, ये दो अर्थ होते हैं। ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया---- अभिचाकशीति'' (मु० ३.१.१) इस मन्त्र में शिव का पक्षी के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रमाण के आधार पर यहाँ ''वि'' शब्द का अर्थ परमात्मा अर्थात् ''शिव'' लिया गया है। ''शेष'' शब्द का अर्थ होता है ''अंश''। ''यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। ------ तत्र चैवापियन्ति'' (मु० २.१.१) इस मन्त्र में अग्निकणों के दृष्टान्त से जीवों को शिव का अंश कहा गया है। अतः इस मन्त्र के प्रमाण से यहाँ ''शेष'' शब्द का अर्थ शिव का अंशभूत जीव लिया जाता है। इस प्रकार ''वि'' का अर्थ ''शिव'' और ''शेष'' का अर्थ ''जीव'' है। अतः शिव और जीव इन दोनों का अद्वैत ही ''विशेषाद्वैत'' कहलाता है।

यहाँ पर शिव और जीव का अद्वैत (''यथा नद्यः स्यन्दमानाः···· समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। ····तथा ····पुरुषमुपैति दिव्यम्'' (मु० ३.२.८) इस श्रुति के अनुसार समुद्र और नदी के दृष्टान्त से प्रतिपादित किया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे समुद्र से भिन्न स्वरूपवाली नदियाँ समुद्र से मिलकर समुद्रस्वरूप हो जाती हैं, उसी प्रकार संसारदशा में वस्तुतः शिव से भिन्न स्वरूपवाला जीव मुक्तावस्था में शिव के साथ सर्वथा अभिन्न अर्थात् समरस हो जाता है। अतः इस दर्शन में शिव और जीव के भेद तथा अभेद इन दोनों को सत्य माना गया है। द्वैत तथा अद्वैत प्रतिपादक दोनों प्रकार की श्रुतियों का समन्वय करने के लिए इस दर्शन में भेद और अभेद दोनों को सत्य माना गया है। इसीलिए द्वैत श्रुतियों के आधार पर संसारदशा में शिव और जीव के भेद और अद्वैत श्रुतियों के आधार पर मुक्तावस्था में उन दोनों के अभेद के प्रतिपादक इस दर्शन को ''द्वैताद्वैतात्मक विशेषाद्वैत'' कहते हैं (श्रीकर०भा०मंगल श्लो. १४-१५, पृ: २)।

धर्माचार

इसकी परिभाषा के लिए ''सप्ताचार'' शब्द देखिए (च०ब०व० १४१०; पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०, पृ. २७६)।

नित्याचार

इसकी परिभाषा के लिए ''सप्ताचार'' शब्द देखिए (च०ब०व० १४१०; पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध०, पृ. २७६)।

निरालम्ब-चित्

वीरशैव सन्तों ने शून्य तत्त्व की ''सर्वशून्य-निरालम्ब'', ''शून्य-लिंग'' और ''निष्कल-लिंग'' के नाम से तीन अवस्थाओं को माना है। ये तीनों अवस्थाएँ विश्व की उत्पत्ति की कारणावस्था से परे हैं। जब निष्कल-लिंग में कारणावस्था का उदय होने लगता है, तब उस निष्कल-लिंग से एक प्रकाश निकलता है। इस प्रकाश को ''चित्'' कहते हैं। इस चित् का कोई अन्य आलम्ब अर्थात् आधार नहीं है, किन्तु वह स्वतन्त्र है। अत: उसे ''निरालम्ब-चित्'' कहा जाता है। इसको ज्ञानस्वरूप होने से ''ज्ञान-चित्'' और विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण होने से ''मूल-चित्'' भी कहते हैं।

इस निरालम्ब-चित् से सर्वप्रथम ''अ'', ''उ'' और ''म्'' इन तीन वर्णों की सृष्टि होती है। इन तीनों को ''नाद'' ''बिन्दु'' और ''कला'' कहते हैं। चिद्रूप निरालम्ब-चित् से उत्पन्न होने के कारण ये तीनों भी चिद्रूप ही हैं। अत: इनको चिन्नाद, चिद्बिन्दु, ''चित्कला'' कहा जाता है।

अ, उ, म् ये तीनों वर्ण जब अपने कारणीभूत ''निरालम्ब-चित्'' से संयुक्त हो जाते हैं, तब ॐकार रूपी मूल प्रणव की उत्पत्ति होती है। यह ॐकार उस अखण्ड ''चित्'' का एक व्यक्त स्वरूप होने से ''चित्-पिण्ड'' कहा जाता है। इस चित्-पिण्ड को ही वीरशैव सन्तों ने ''अनादि-पिण्ड'' कहा है। इस चित्-पिण्ड में आनन्दस्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है, अत: उस ''ॐकार को ''चिदानन्द'' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ''चित्-पिण्ड'', ''अनादि-पिण्ड'' और ''चिदानन्द'' ये दोनों ॐकार के ही पर्याय हैं। वीरशैव दर्शन में इस ॐकार से ही समस्त विश्व की सृष्टि मानी जाती है (शि०श०को०, पृ. १४-१५; तों०व०को०, पृ. १७)।

निरुपाधि माट

इसकी परिभाषा ''माट'' शब्द में देखिए (शि०श०को०, पृ. ८४)।

निर्निमेष दृष्टि

नेत्र के पलकों को गिराये बिना देखने वाली दृष्टि को "निर्निमेष दृष्टि" कहा जाता है।

निर्बयलु

इसकी परिभाषा के लिए "सर्वशून्य-निरालम्ब" शब्द देखिए (व०वी०ध०, पृ. १००; शि०श०को०, पृ. १६)।

निवृत्ति कला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२६; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५६; त०ज्ञा०, पृ. ४१)।

निष्कल लिंग

इसकी परिभाषा के लिए "शून्य" शब्द देखिए (अ०वी०सा०सं० ५.१-२१; व०वी०ध०, पृ. १०१)।

निष्ठाभक्ति

इसकी परिभाषा "भक्ति" शब्द में देखिए (अनु०सू० ४.२७; शि०श०को०, पृ. ५१)।

निःशून्य वस्तु

इसकी परिभाषा के लिए "शून्य" शब्द के अन्तर्गत "सर्वशून्य-निरालंब" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. १६; वी०ध०त०सि०, पृ. ८७)।

नेनहु

यह कन्नड़ शब्द है। वीरशैव सन्तसाहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। "नेनहु" शब्द का अर्थ होता है "महासंकल्प", अर्थात् इस विश्व की उत्पत्ति के पूर्व परशिव में "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" (मैं अकेला ही अनन्तरूप में हो जाऊँ) इस प्रकार के जिस "महासंकल्प" का उदय होता है, उसे वीरशैव सन्तों ने "नेनहु" कहा है। इस संकल्प से ही वह शिव स्वयं अनन्त रूपों में

हो जाता है। इस प्रकार इस विचित्र विश्व की उत्पत्ति के कारणीभूत शिव के उस महासंकल्प के लिए कन्नड़ भाषा में ''नेनहु'' शब्द प्रयुक्त हुआ है (तों०व०को०, पृ. २००)। इस शब्द का एक दूसरे अर्थ में भी प्रयोग होता है। वह है साधक का चिन्तन, अर्थात् निश्चल मन से साधक जब शिव का चिन्तन करता है, तो उस चिन्तन को भी नेनहु कहा जाता है। प्रधानतया यह शब्द शिव के उक्त संकल्प के अर्थ में ही रूढ़ है (तो०व०को०, पृ. २०१)।

नैष्ठिक भक्ति

इसकी परिभाषा के लिए ''भक्ति'' शब्द देखिए (अनु०सू० ४.२७; शि०श०को०, पृ. ५१)।

पंचम

भगवान् शिव के ईशान मुख से पंचवक्त्र गणाधीश्वर का प्रादुर्भाव बताया जाता है। इस गणाधीश्वर के पाँचों मुखों से एक एक महापुरुष प्रकट हुये। उनके नाम हैं— मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि और वेदारि। इन्हीं को ''पंचम'' कहते हैं। इनमें प्रत्येक पंचम से बारह बारह उपपंचमों की उत्पत्ति बतायी जाती है।

वीरशैव सम्प्रदाय में ''पंचम'' नाम की एक जाति भी है। बताया जाता है कि इस जाति के सभी व्यक्ति उन मूल पंचमों और उपपंचमों के वंश में उत्पन्न हुये हैं। मूल पुरुष के नाम से ही इनकी जाति का नाम भी पंचम है। इनको व्यवहार में ''पंचमशाली'' कहा जाता है। वीरशैव धर्म के जो प्रमुख पाँच आचार्य हैं, जिन्हें ''पंचाचार्य'' कहते हैं, वे ही इन पंचमों के गुरु होते हैं। पंचम जाति में उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति के गोत्र, सूत्र, प्रवर, शाखा आदि अपने अपने गुरु के अनुसार होते हैं। इन पंचमों का वैवाहिक सम्बन्ध समान गोत्र वालों में न होकर अपने से भिन्न गोत्र वालों के साथ किया जाता है (वी०स०सं० ५.४-५५)।

पंचसूतक

धर्मशास्त्रों में जनन, मरण, रज, उच्छिष्ट तथा जाति—ये पाँच प्रकार के सूतक माने गये हैं, अर्थात् घर में किसी का जन्म या मृत्यु होने पर, घर

की किसी स्त्री के रजस्वला होने पर सूतक की प्राप्ति होती है। अत: इस सूतक के समय उस घर में पूजा आदि वैदिक कर्मों का निषेध किया गया है। उसी प्रकार उच्छिष्ट का ग्रहण तथा कुछ विशिष्ट जाति के लोगों के साथ सम्पर्क न करने का भी विधान है। किन्तु वीरशैव आचार्य एवं सन्तों ने विशेष परिस्थितियों में उपर्युक्त सूतकों को स्वीकार नहीं किया, जैसे कि इष्टलिंग का धारण तथा उसकी पूजा के लिए जनन, मरण और रज इन तीन प्रकार के सूतकों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पादोदक और प्रसाद के सेवन के प्रसंग में "उच्छिष्ट-सूतक" को भी नहीं माना जाता। इसका तात्पर्य यह है कि वीरशैव-धर्म में दीक्षा के समय गुरु अपने शिष्य को इष्टलिंग देता है और उसे आमरण शरीर पर धारण करने का आदेश करता है। यह दीक्षा स्त्री तथा पुरुषों के लिए समान रूप से होती है। दीक्षासम्पन्न स्त्री यदि रजस्वला होती है अथवा प्रसूता होती है, तो उस समय उस स्त्री को इष्टलिंग की पूजा करने का अधिकार है या नहीं? यह शंका होने पर वीरशैव आचार्यों ने इष्टलिंग धारण करने वाली स्त्री के लिए जनन और रजसूतक प्रवृत्त नहीं होते, ऐसा निर्णय देकर उस स्त्री को इष्टलिंग की पूजा का अधिकार प्रदान किया है। जैसे पौण्डरीक आदि दीर्घकालीन सत्रों का संकल्प करके याग करते समय यजमान की पत्नी यदि रजस्वला हो जाती है, तो भी वह स्नान करके गीला वस्त्र पहनकर पुन: याग में सम्मिलित होती है, उसी प्रकार वीरशैव धर्म में दीक्षित स्त्री रजस्वला या प्रसूता होने पर भी उसी दिन स्नान एवं गुरु के चरणोदक का प्रोक्षण करके शुद्ध होकर अपनें नित्य कर्म इष्टलिंग की पूजा करने के लिए अधिकारी होती है। इष्टलिंग की पूजा के अतिरिक्त पाक आदि अन्य कार्यों के लिए वीरशैव धर्म में भी सूतक माना जाता है। जैसे हस्तस्पर्श के अयोग्य होने पर भी जिह्वा मन्त्रोच्चारण के लिए योग्य है, उसी प्रकार रजस्वला या प्रसूता स्त्री पाक आदि अन्य लौकिक कर्म करने के लिए अयोग्य और अपवित्र होने पर भी इष्टलिंग के धारण एवं उसकी पूजा के लिए वह अग्नि, रवि तथा वायु के समान सदा पवित्र रहती है। घर में किसी की मृत्यु होती है, तो उस घर के लोग भी शवसंस्कार के बाद स्नान एवं गुरु के चरणोदक के प्रोक्षण से घर को शुद्ध करके अपने-अपने इष्टलिंग पूजारूप नित्यकर्म को बिना किसी बाधा के यथावत् अवश्य पूरा करते हैं। अत: वीरशैवों को इष्टलिंग की पूजा में मरण सूतक भी नहीं

लगता (सि०शि० ९.४३-४५; वी०मा०सं० ४७.२५-२६; ब्र०सू० १.१.१; श्रीकर०भा०, पृ. ११-१२; सि०शि०वी०भा०, पृ. ४१-५६)।

वीरशैव सम्प्रदाय में प्रतिदिन गुरु या जंगम की पादपूजा करके एक पात्र में पादोदक (चरणामृत) तैयार किया जाता है और उस पादपूजा में सम्मिलित सभी शिवभक्त उसी एक पात्र में से पादोदक का सेवन करते हैं। यहाँ प्रथम व्यक्ति के ग्रहण करने के बाद वह पादोदक उच्छिष्ट हो जाता है, तो दूसरा उसका ग्रहण करे या नहीं? यह शंका होती है। वीरशैव आचार्यों ने इस प्रसङ्ग में भी उच्छिष्ट सूतक को नहीं माना। जैसे सोमयाग में हविःशेषभूत सोमरस को चमस नामक पात्र में संग्रह करके यज्ञशाला के सभी ऋत्विज उस चमस पात्र से सोमरस का सेवन करते हैं, तो भी वहाँ उच्छिष्ट-सूतक नहीं माना जाता, उसी प्रकार वीरशैव धर्म में भी एक पात्र से अनेक लोगों के द्वारा पादोदक स्वीकार करने पर उच्छिष्ट-सूतक नहीं होता। गुरु या जंगम के भोजन से अवशिष्ट अन्न को प्रसाद कहते हैं। इस प्रसाद के स्वीकार करने में भी उच्छिष्ट सूतक नहीं है (वी०आ०चं० पृ. ११९; सि०शि०वी०भा०, पृ. ५६-५७)।

वीरशैव आचार्य और बारहवीं शताब्दी के वीरशैव सन्तों ने जाति-सूतक का भी निषेध किया है। उन्होंने शिवदीक्षा-सम्पन्न व्यक्ति किसी भी जाति का हो, उनके साथ समता का व्यवहार करने को कहा है (सि०शि० ११.५४-५५; व०शा०सा०, भा० १ पृ. ३८०-३८१)।

इस प्रकार धर्मशास्त्र-सम्मत पाँच प्रकार के सूतकों को वीरशैव धर्म में सीमित रूप में ही मान्यता दी गयी है। तब भी लोक व्यवहार में इनका पालन आवश्यक है।

पंचसूत्र-लिंग

"पंचसूत्र" स्थूल लिंग के निर्माण की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से निर्मित सामान्य शिला या स्फटिक के लिंग को "पंचसूत्र-लिंग" कहा जाता है। उसका विधान यह है— सामान्यतः लिंग में बाण, पीठ और गोमुख ये तीन भाग होते हैं। लिङ्ग के गोलाकार को "बाण", उस बाण के आश्रयभूत नीचे के भाग को "पीठ" और जलहरी को "गोमुख" कहा जाता है। शिलामय लिंग का निर्माण करते समय पहले "बाण" तैयार करके उस बाण के वर्तुल

परिमाण सदृश पीठ की लंबाई और पीठ के ऊपर तथा नीचे की चौड़ाई होनी चाहिए। बाण के वर्तुल के आधे माप का गोमुख तैयार करना चाहिए। इस प्रकार बाण का वर्तुल, पीठ की लंबाई, पीठ के ऊपर की चौड़ाई, पीठ के नीचे की चौड़ाई इन चारों का माप समान होना चाहिए और गोमुख का माप मात्र बाण के वर्तुल का आधा रहना चाहिए। यही "पंचसूत्र" प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से निर्मित लिंग को ही "पंचसूत्र- लिंग" कहा जाता है।

इस परिमाण में न्यूनाधिक्य होने पर, अर्थात् यदि बाण अधिक परिमाण का हो तो, उस लिंग की पूजा से अपमृत्यु और पीठ का परिमाण अधिक होने पर धन का क्षय बताया गया है। बाण और पीठ का परिमाण समान होने पर ही उस लिंग से भोग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है (वी०आ०प्र० १.९४-९५; क्रि०सा०, भा० ३, पृ. ४१)।

इस प्रकार से निर्मित "पंचसूत्र-लिंग" ही वीरशैवों को क्रियादीक्षा के समय संस्कार करके आचार्य के द्वारा दिया जाता है।

पंचाचार

लिंगाचार, सदाचार, शिवाचार, गणाचार और भृत्याचार—इन पाँच प्रकार के आचारों को 'पंचाचार' कहते हैं। यहाँ पर 'आचार' का अर्थ है—वेद और शास्त्र के प्रवर्तक एवं निवर्तक आदेशों को क्रियान्वयन करना, अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों को करना और निषिद्ध कर्मों को छोड़ना ही 'आचार' है। जैसा कि वेद कहता है "सत्यं वद" (सत्य बोलो) और "सुरां न पिबेत्" (मद्यपान मत करो)। इन प्रवर्तक और निवर्तक आदेशों के अनुसार "सत्य बोलना" तथा "मद्यपान छोड़ देना" ये आचार हैं। इस प्रकार के आचार अनन्त हैं। उन सबको पाँच भागों में विभक्त करके वीरशैव धर्म में "पंचाचारों" का प्रतिपादन किया गया है। ये पाँच प्रकार के आचार साधकों को दुर्मार्ग से रोककर उनके अन्तःकरण की शुद्धि में कारण बनते हैं। अतः प्रत्येक वीरशैव को अपने जीवन में इनका पालन करना आवश्यक है (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.४; श०वि०द०, पृ. २१०)।

क. लिंगाचार

अंग (जीव) को लिंगस्वरूप की प्राप्ति के लिए बताये गये आचार को "लिंगाचार" कहते हैं, अर्थात् जिस आचार के पालन से अंग लिंग-स्वरूप हो

जाता है, वही ''लिंगाचार'' है। शरीर, मन तथा भावना से क्रमश: लिंग की पूजा, लिंग का चिन्तन एवं लिंग का निदिध्यासन करना ही लिंगाचार का स्वरूप है।

वीरशैव सम्प्रदाय में गुरु अपने शिष्य को क्रियादीक्षा के द्वारा ''इष्टलिंग'' प्रदान करता है, मन्त्रदीक्षा के द्वारा ''प्राणलिंग'' के स्वरूप को समझाता है और वेधा-दीक्षा के माध्यम से ''भावलिंग'' का बोध कराता है। इस प्रकार त्रिविध दीक्षा से प्राप्त इष्ट, प्राण तथा भावलिंग की गुरु के उपदेश के अनुसार क्रमश: शरीर से अर्चन, मन से चिन्तन और भावना से निदिध्यासन करना ही लिंगाचार कहलाता है। इस सम्प्रदाय में दीक्षासम्पन्न जीव को अपने इष्ट, प्राण तथा भावलिंग के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की अर्चना आदि का निषेध है। यह निषेध उनके प्रति घृणा की भावना से नहीं, किन्तु इष्टलिंग आदि में निष्ठा बढ़ाने के लिए है। अत: गुरुदीक्षा से प्राप्त उन लिंगों को ही अपना आराध्य समझकर उन्हीं की अर्चना आदि में तत्पर रहना लिंगाचार है। इस लिंगाचार के निष्ठापूर्वक पालन करने से अंग (जीव) लिंगस्वरूप हो जाता है (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद० ९.५,११-१५; सि०शि० ९.३१-३३)।

ख. सदाचार

जिस आचरण से सज्जन तथा शिवभक्त सन्तुष्ट होते हैं और जिससे अन्तरंग तथा बहिरंग की शुद्धि होती है, उसे सदाचार कहते हैं (सू०आ० ८.७)। इस सदाचार में धर्ममूलक अर्थसंपादन और उस धन का यथाशक्ति गुरु, लिंग और जंगम के आतिथ्य में विनियोग करना, सदा शिवभक्तों के साथ रहना आदि विशुद्ध आचारों का समावेश किया गया है (चं०ज्ञा०आ०, क्रियापाद ९.६)।

सदाचार में आठ प्रकार के ''शीलों'' का भी समावेश किया गया है। वीरशैव सम्प्रदाय में शिवज्ञान की जिज्ञासा की उत्पत्ति में कारणीभूत नैतिक आचरणों को ''शील'' कहते हैं। वे हैं—अंकुरशील, उत्पन्नशील, द्विदलशील, प्रवृद्धशील, सप्रकाण्डशील, सशाखशील, सपुष्पशील और सफलशील। इन्हीं को ''अष्टशील'' कहते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. अंकुरशील — गुरु की कृपा संपादन करके उनसे दीक्षा लेकर अपने शरीर को शुद्ध कर लेना तथा इष्टलिंग की पूजा आदि करना ही ''अंकुरशील'' कहलाता है। शील की प्रथम अवस्था होने से इसे अंकुरशील कहा गया है।

२. उत्पन्नशील — जैसे स्वयं दीक्षित होकर पूजा आदि में प्रवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार अपने स्त्री, पुत्र आदि परिवार के लोगों को भी प्रवृत्त कराता है, तो उसे "उत्पन्नशील" कहते हैं।

३. द्विदलशील — भस्म, रुद्राक्ष आदि को, जो कि शिव के अलंकार कहे जाते हैं, सदा शरीर पर धारण करना ही "द्विदलशील" है।

४. प्रवृद्धशील — शिव के माहात्म्य को सुनकर उसका मनन करना ही "प्रवृद्धशील" कहलाता है। साधक की भक्ति की वृद्धि में यह कारण होता है।

५. सप्रकाण्डशील — अपने इष्टलिंग की पूजा किये बिना अन्न, जल आदि का सेवन न करना ही "सप्रकाण्डशील" कहा जाता है।

६. सशाखशील — इष्टलिंग को अनिवेदित पदार्थों का सेवन न करना ही "सशाखशील" है।

७. सपुष्पशील — शिव को समर्पित वस्तुओं को, जिन्हें प्रसाद कहते हैं, न त्यागना, अर्थात् शिवप्रसाद की अवज्ञा न करना ही सपुष्पशील है।

८. सफलशील — गुरु, लिंग और जंगम में, जो वीरशैव धर्म में पूजनीय हैं, भेद-बुद्धि को त्यागकर, उनको शिवस्वरूप समझकर उनकी आराधना करना ही "सफलशील" कहलाता है।

इस प्रकार इन आठ शील नामक अंगों से युक्त यह आचार ही "सदाचार" है (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ९.१९-३१)।

ग. शिवाचार

सृष्टि, स्थिति, संहार आदि पंचकृत्यों को करने वाले शिव को ही अपना अनन्य रक्षक मानना "शिवाचार" कहलाता है (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.७)। शिवाचार में द्रव्य, क्षेत्र, गृह, भाण्ड, तृण, काष्ठ, वीटिका, पाक, रस, भव, भूत, भाव, मार्ग, काल, वाक् और जन इन सोलह पदार्थों को शिवशास्त्रोक्त विधि से शुद्ध कर लेने का विधान है।

इन सोलह पदार्थों की शुद्धि के लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है— शिवभक्त के हाथ से प्राप्त फल, मूल आदि को ग्रहण करना, अभक्त के हाथ

से प्राप्त होने पर उसे भस्मप्रोक्षण विधि से शुद्ध कर लेना द्रव्यशुद्धि है। अपने खेत के चारों कोनों में नन्दि अंकित एक एक शिला की स्थापना करना क्षेत्रशुद्धि है। घर के महाद्वार पर शिवलिंग को उत्कीर्ण कराना गृहशुद्धि है। उसी प्रकार अपने उपयोग के वर्तनों पर भी शिवलिंग को उत्कीर्ण कराना "भाण्डशुद्धि" कहलाती है। गाय, बैल आदि को खिलाने वाले घास को भस्म-प्रोक्षण से शुद्ध कर लेना "तृणशुद्धि" है और इसी प्रकार जलाने की लकड़ियों को भी भस्म-प्रोक्षण से शुद्ध कर लेना "काष्ठशुद्धि" है। केवल शिवभक्त के हाथ से ताम्बूल ग्रहण करना "वीटिकाशुद्धि" कहलाती है। शिवदीक्षा-सम्पन्न व्यक्ति के बनाये भोजन को ग्रहण करना "पाकशुद्धि" है। केवल गोरस का सेवन करना "रसशुद्धि" है। पुनर्जन्म के कारणीभूत काम्य कर्मों को त्यागकर निष्काम-कर्म करना ही "भवशुद्धि" है। सभी प्राणियों में दया रखना "भूतशुद्धि" है। सभी कामनाओं को त्यागकर मन में सदा शिव का ही चिन्तन करना "भावशुद्धि" है। मार्ग में किसी प्राणी की हिंसा किये बिना सावधानी से चलना "मार्गशुद्धि" है। शास्त्रोक्त ब्राह्म मुहूर्त में शिवलिंग की पूजा करना "कालशुद्धि" है। मुख से अनृत, परुष, बीभत्स तथा दाम्भिक वचनों का प्रयोग न करना "वाक्शुद्धि" है। सदा सज्जनों के सहवास में रहना "जनशुद्धि" है। इस प्रकार अपने दैनिक जीवन में उपर्युक्त सोलह प्रकार की शुद्धियों को आचरण में लाना ही "शिवाचार" है (चं०ज्ञा०आ०, क्रियापाद ९.३२-५०)।

घ. गणाचार

इस आचार में कायिक, वाचिक तथा मानस ६४ प्रकार के शीलों का, अर्थात् उत्तम आचरणों का समावेश किया गया है। उनमें प्रमुख हैं—शिव या शिवभक्तों की निन्दा न सुनना, यदि कोई निन्दा करता है तो उसको दण्डित करना, दण्डित करने का सामर्थ्य न रहने पर उस स्थान को त्याग देना, इन्द्रियों से शास्त्रनिषिद्ध विषयों का सेवन न करना, मन से निषिद्ध भाव का संकल्प भी न करना, किसी पर क्रोधित न होना, धन आदि का लोभ त्याग देना, सम्पत्ति आने पर भी मदोन्मत्त न होना, शत्रु और अपने पुत्र में विषमता को त्यागकर समता-भाव रखना, निगमागम वाक्यों में श्रद्धा रखना, काया, वाचा, मनसा कदापि प्रमाद नहीं करना, अनुपलब्ध वस्तुओं का व्यसन छोड़कर प्राप्त

"सोऽहं"भाव से शिव का चिन्तन करना, विश्व के समस्त प्राणियों को शिव के ही अनन्त रूप समझना। इस प्रकार के ६४ शीलों (आचरणों) का समष्टि स्वरूप ही "गणाचार" कहलाता है। इस गणाचार के पालन से साधक के त्रिकरण (शरीर, मन, वाणी) परिशुद्ध हो जाते हैं और उसे शिवसायुज्य की प्राप्ति हो जाती है (सि०शि०९.३६-३७; चं०ज्ञा०आ०, क्रियापाद ९.५१-१२३)।

ङ. भृत्याचार

शिवभक्त ही इस पृथ्वी में श्रेष्ठ हैं और मैं उनका भृत्य अर्थात् दास हूँ, ऐसा समझकर उनके साथ विनम्रता से व्यवहार करना ही "भृत्याचार" कहलाता है (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ९.९)। "भृत्यभाव" और "वीरभृत्य-भाव" के भेद से यह भृत्याचार दो प्रकार का है। अपने को गुरु, लिंग तथा जंगम का सेवक समझकर श्रद्धा से निरन्तर उनकी सेवा में तत्पर रहने की भावना को "भृत्यभाव" कहते हैं। जिस भाव से युक्त साधक गुरु को तन, अपने इष्टलिंग को मन तथा जंगम को अपना सर्वस्व अत्यन्त आनन्द से समर्पित कर देता है और उसके प्रतिफल पारलौकिक सुख से निस्पृह होकर केवल मोक्ष की अभिलाषा रखता है, उसे "वीरभृत्य-भाव" कहते हैं। इस वीरभृत्य-भाव के साधक को "वीरभृत्य" कहा जाता है। यही शिवानुग्रह को प्राप्त करता है (चं०ज्ञा०आ०, क्रियापाद० ९.१२४-१२६)।

पंचाचार्य

वीरशैव धर्म के संस्थापक पाँच आचार्यों को "पंचाचार्य" कहते हैं। ये पंचाचार्य ही वीरशैवों के गोत्रप्रवर्तक हैं। आगमों की मान्यता है कि इन पंचाचार्यों ने प्रत्येक युग में शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुखों से प्रकट होकर वीरशैव धर्म की स्थापना की है। प्रत्येक युग में इनके नाम भिन्न-भिन्न होते हैं।

कृतयुग में इनके नाम इस प्रकार थे—एकाक्षर शिवाचार्य, द्व्यक्षर शिवाचार्य, त्र्यक्षर शिवाचार्य, चतुरक्षर शिवाचार्य तथा पंचाक्षर शिवाचार्य (सु०पं०पं०प्र०, पृ. २)।

त्रेतायुग में — एकवक्त्र शिवाचार्य, द्विवक्त्र शिवाचार्य, त्रिवक्त्र शिवाचार्य, चतुर्वक्त्र शिवाचार्य और पंचवक्त्र शिवाचार्य (सु०पं०पं०प्र०, पृ. २)।

द्वापरयुग में — रेणुक शिवाचार्य, दारुक शिवाचार्य, घण्टाकर्ण शिवाचार्य, धेनुकर्ण शिवाचार्य एवं विश्वकर्ण शिवाचार्य (सु०पं०पं०प्र०, पृ. २)।

कलियुग में — रेवणाराध्य, मरुलाराध्य, एकोरामाराध्य, पंडिताराध्य और विश्वाराध्य (वी०स०सं० १.२६-३४)। कलियुग के इन पंचाचार्यों का आविर्भाव पाँच शिवलिंगों से माना जाता है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. रेवणाराध्य

रेवणाराध्य जी ने कोनलुपाक (आन्ध्र) क्षेत्र के सोमेश्वर लिंग से प्रादुर्भूत होकर धर्म-प्रचार के लिए बालेहोन्नूर (कर्नाटक) में एक मठ की स्थापना की, जो कि "रंभापुरी पीठ" के नाम से प्रसिद्ध है। ये ही "वीरगोत्र" "पंडिविडिसूत्र" के प्रवर्तक हैं। इनकी शाखा को रेणुकशाखा कहते हैं और इनका सिंहासन "वीरसिंहासन" कहलाता है (वी०स०सं० १.३७-३९; हिं० पृ. ६९५-६९६; वी०म०, पृ. १)।

२. मरुलाराध्य

अवन्तिकापुरी (मध्यप्रदेश) के वटक्षेत्र के सिद्धेश्वर लिंग से, अर्थात् भगवान् के वामदेव मुख से, मरुलाराध्य जी प्रकट हुये। कहते हैं कि वे अवन्ती के राजा से अनबन हो जाने के कारण वल्लारी जिले (कर्नाटक) के एक गाँव में जाकर बस गये। इनके बसने के कारण उस गाँव का नाम भी उज्जयिनी पड़ गया। यहाँ पर एक मठ की स्थापना हुई, जिसे उज्जयिनी पीठ कहते हैं। इस पीठ के आचार्य मरुलाराध्य जी वृष्टिसूत्र और नन्दिगोत्र के प्रवर्तक हैं। इनकी शाखा को "दारुकशाखा" कहते हैं और इनका सिंहासन "सद्धर्मसिंहासन" के नाम से प्रसिद्ध है। उज्जैन (मध्यप्रदेश) में भी इनका एक शाखा मठ बहुत दिन तक अस्तित्व में रहा (वी०स०सं० १.४०-४३; हिं, पृ. ६९५-६९६; वी०म०, पृ. २६-२८)।

३. एकोरामाराध्य

द्राक्षाराम क्षेत्र के रामनाथ लिंग से, अर्थात् भगवान् के अघोर मुख से, एकोरामाराध्य जी प्रकट हुये और उन्होंने उत्तराखण्ड के श्री केदारेश्वर के पास ओखीमठ (उ०प्र०) में एक पीठ की स्थापना की। इसे केदारपीठ कहते हैं।

इस पीठ के मूल आचार्य एकोरामाराध्य ''भृङ्गिगोत्र'' और ''लंबनसूत्र'' के प्रवर्तक हैं। इनकी शाखा का नाम घंटाकर्ण (शंकुकर्ण) है। इनके सिंहासन को ''वैराग्यसिंहासन'' कहते हैं (वी०सू०सं १.४४-४६)। यह केदारपीठ भी अति प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का प्रमाण एक ताम्र शासन है, जो उसी पीठ में मौजूद है। हिमंवत् केदार में महाराज जनमेजय के राज्यकाल में स्वामी आनन्दलिंग जंगम वहाँ के मठ के जगद्गुरु थे। जनमेजय ने उन्हीं के नाम मन्दाकिनी, क्षीरगंगा, सरस्वती आदि नदियों के संगम के बीच जितना क्षेत्र है, जिसे ''केदारक्षेत्र'' कहते हैं, सबका दान इस उद्देश्य से किया कि ओखीमठ के आचार्य गोस्वामी आनन्दलिंग जंगम के शिष्य श्री केदार क्षेत्रवासी श्री ज्ञानलिंग जंगम इसकी आय से भगवान् केदारेश्वर की पूजा-अर्चना किया करें। उन्होंने सूर्यग्रहण के अवसर पर श्री केदारेश्वर को साक्षी करके अपने मातापिता की शिवलोक-प्राप्ति के लिए उन्हें इस क्षेत्र को पूरे अधिकार समेत दान दिया। यह दान महाराज जनमेजय ने मार्गशीर्ष अमावस्या सोमवार को युधिष्ठर के राज्यारोहण के नवासी वर्ष बीतने पर प्लवंग नाम संवत्सर में किया। अत: केदारेश्वर का यह मठ पांच हजार बरसों से अधिक पुराना है। टेहरीनरेश इस पीठ के शिष्य हैं। इस पीठ के जगद्गुरु को ''रावल'' उपाधि से संबोधित किया जाता है। टेहरीनरेश इनके पट्टाधिकार के समय तिलकोत्सव समारंभ में उनको यह ''रावल'' उपाधि देते हैं (हि०, पृ. ६९५-६९६; वी०म०, पृ. २९-३२)।

४. पंडिताराध्य

श्रीशैलम् (आन्ध्र) के मल्लिकार्जुन लिंग से, अर्थात् भगवान् के तत्पुरुष मुख से, पंडिताराध्य प्रकट हुये और श्रीशैलम् में ही उन्होंने एक पीठ की स्थापना की। इस पीठ को श्रीशैल पीठ कहते हैं। यह पंडिताराध्य ''वृषभगोत्र'' तथा ''मुक्तागुच्छ'' सूत्र के प्रवर्तक हैं। इनकी शाखा को ''धेनुकर्ण-शाखा'' कहते हैं और इनका सिंहासन ''सूर्यसिंहासन'' नाम से प्रसिद्ध है (वी०स०सं० १.४७-५०; हि०, पृ. ६९५-६९६; वी०म०, पृ. ३३-३४)।

५. विश्वाराध्य

श्री काशीक्षेत्र (उ०प्र०) के विश्वनाथ लिंग से, अर्थात् भगवान् के ईशान मुख से, जगद्गुरु विश्वाराध्य जी प्रकट हुये और उन्होंने काशी में ही एक

पीठ की स्थापना की, जिसे "ज्ञानपीठ" कहते हैं। वह आजकल "जंगमवाड़ी मठ" के नाम से प्रसिद्ध है। यह विश्वाराध्य "स्कन्द गोत्र" और "पंचवर्ण सूत्र" के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी शाखा को "विश्वकर्ण-शाखा" कहते हैं। इनका सिंहासन "ज्ञानसिंहासन" के नाम से प्रसिद्ध है (वी०स०सं० १.५१-५४; वी०म०, पृ. ३५)। काशी का यह जंगमवाड़ी मठ भी अत्यन्त प्राचीन है। इस मठ के "मल्लिकार्जुन जंगम" नामक जगद्गुरु के समय में उस समय के काशी के राजा जयनन्ददेव ने विक्रम संवत् ६३१ में प्रबोधिनी एकादशी को भूमिदान किया था। इस तरह यह ताम्रशासन चौदह सौ वर्ष प्राचीन है। हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब आदि मुगल राजाओं के दानपत्र में भी यह मठ मौजूद है।

नेपाल देश में "भक्तपुर" में भी इसका एक शाखा-मठ है। वहाँ भी वह जंगमवाड़ी मठ के नाम से ही प्रसिद्ध है। उस मठ के लिए भी विक्रम संवत् ६९२ ज्येष्ठ सुदी अष्टमी के दिन नेपाल के राजा विश्वमल्ल ने श्री मल्लिकार्जुन यति को भूमिदान किया था। शिला पर उत्कीर्ण वह दानपत्र उसी मठ में आज भी उपलब्ध है (हिं०, पृ. ६९५-६९६)।

ये पंचाचार्य वीरशैवों के प्रधान गुरु माने जाते हैं। इन्हें महाचार्य या जगद्गुरु भी कहते हैं। वीरशैवों के दीक्षा, विवाह आदि धार्मिक तथा सामाजिक कार्य इन्हीं महाचार्यों की साक्षी में सम्पन्न किये जाते हैं। (वी०स०सं० १.५५-६३)। कर्नाटक, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र में प्राय: प्रत्येक गाँव में एक एक मठ है, जो इन पंचाचार्यों में से किसी एक की शाखा से सम्बन्ध रखता है। उन शाखा-मठों के अधिकारियों को "आचार्य" या "पट्टाधिकारी" कहते हैं।

पर जंगम

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "जंगम" शब्द देखिए, (सि०शि० १५.६४-७१; वी०स०सं० १५.५५-६९; वे०वी०चिं०, उत्तरखण्ड १२.२१२-२२०)।

परामर्श-शक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "चिच्छक्ति" शब्द देखिए (शि०मं०, पृ. ३३-३४; सि०शि० २०.३५-३९)।

पादोदक

इसकी परिभाषा ''अष्टावरण'' शब्द में देखिए (सि०शि० १९.८; पा०तं० ७.४४-५०; वी०आ०चं०, पृ. ११९; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ५.४-१९)।

पिण्ड

परिशुद्ध अन्त:करण वाले जीव को ''पिण्ड'' कहते हैं। वीरशैव दर्शन में ''आणव'' आदि मलत्रय से आवृत परशिव का अंश ही जीव कहलाता है। यह अपने कर्मानुसार जन्म-मरण चक्र में भ्रमण करता हुआ अनेक जन्मों में मन, वाणी तथा शरीर से जन्य पापों के प्रशमनार्थ यदि अनेक मनुष्य-जन्मों में पुण्य कार्य ही करता रहता है, तो उसके प्राक्तन नानाविध पाप ध्वस्त हो जाते हैं और वह पुण्यदेही बन जाता है। उस पुण्य के बल से उसका अन्त:करण परिशुद्ध हो जाता है, तथा उसमें शिव-भक्ति का अंकुर उदित हो जाता है। इस प्रकार के शुद्ध अन्त:करण वाले शिवभक्ति सम्पन्न जीव को वीरशैव आचार्यों ने ''पिण्ड'' शब्द से सम्बोधित किया है।

शुद्ध अन्त:करण वाले इसी जीव को वीरशैव सन्तों ने ''आदिपिण्ड'' कहा है। आदिपिण्ड कहने का उनका तात्पर्य यह है कि पहली बार इसका अन्त:करण शुद्ध हुआ है और उसमें शिवभक्ति का उदय हुआ है। यह अन्य जीवों से विलक्षण है। इसको ''चरम- देही'' कहा जाता है, अर्थात् यही इसका चरम, अन्तिम देह है। अब इसका पुनर्जन्म नहीं होने वाला है। इसी जन्म में यह विवेक और वैराग्य को प्राप्त करके वीरशैवों की उपासना के क्रम से मुक्त हो जाता है (सि०शि० ५.३१-३३ तथा ५२-५४, तो०व०को०, पृ. ४३)।

पिण्ड-ज्ञानी

आत्मानात्मविवेक सम्पन्न जीव को वीरशैव दर्शन में ''पिण्ड-ज्ञानी'' कहते हैं। यहाँ पर शरीर आदि से आत्मा के पार्थक्य का ज्ञान ही ''पिण्डज्ञान है, अर्थात् नश्वर शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को अनात्मा जानकर उससे भिन्न सनातन और मुख्य अहं- प्रत्यय ('मैं' इस प्रकार के ज्ञान) के विषयीभूत चैतन्य को ही आत्मा समझना पिण्डज्ञान है। इसे ''आत्मानात्मविवेक'' और ''क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विज्ञान'' भी कहा गया है। इस विवेक से युक्त शुद्ध अन्त:करण वाला

जीव ही "पिण्ड-ज्ञानी" कहलाता है। यह शरीर आदि से अपने को भिन्न मानता हुआ भी शिव को भी अपने से भिन्न तथा अपना प्रेरक मानता है। इस तरह इसमें अभी भेदबुद्धि बनी रहती है (सि०शि० ५.५५-६०)।

इस "पिण्ड-ज्ञानी" को वीरशैव सन्तों ने "मध्य-पिण्ड" कहा है। इसको "मध्य-पिण्ड" इसलिए कहा जाता है कि अविवेकी-जीव और मुक्त-जीव इन दोनों के बीच में इसकी स्थिति रहती है, अर्थात् आत्मानात्मविवेक का उदय होने से यह सामान्य संसारी जीवों से श्रेष्ठ है और इसको अभी परशिव के साथ सामरस्य "एकता" का बोध नहीं हुआ है, अत: उन मुक्तात्माओं से यह कनिष्ठ है। इस प्रकार उन दोनों के मध्य अवस्थित होने से यह "मध्य-पिण्ड" कहलाता है (तो०व०को०, पृ. २८३)।

पुरातनरु

तमिलनाडु प्रदेश में ६३ शैव सन्त हो गये हैं। इन सन्तों को ही कन्नड़ भाषा में "पुरातनरु" कहा जाता है। इन सबका आविर्भाव-काल नवीं शताब्दी माना जाता है। इनमें अठारह ब्राह्मण, बारह क्षत्रिय, पाँच वैश्य, चौबीस शूद्र, एक हरिजन तथा तीन स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार इन तिरसठ सन्तों में सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष पाये जाते हैं। तमिल भाषा में इन्हें "६३ नायनार" कहा गया है। बारहवीं सदी में तमिल भाषा के सुप्रसिद्ध कवि "शेविकलार" ने "तिरुत्तोण्डार-पुराणम्" या "पेरियपुराणम्" नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की, जिसमें इन ६३ सन्तों का विस्तृत चरित्र पाया जाता है। इस "पेरियपुराणम्" को तमिल साहित्य का पाँचवाँ वेद कहा गया है। उस ग्रन्थ के आधार पर उन सन्तों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सुन्दरमूर्ति, २. तिरुनीलकंठ, ३. इयपगै, ४. इलैयार कुड़िमार, ५. मेयप्पोरलू, ६. विरर मिण्ड, ७. अमर नीति, ८. पेरि भक्त, ९. येनादि, १०. कण्णय्य, ११. कुंगुलियक्कलय, १२. मानक्कंजार, १३. अरिवाट्टाय, १४. आनाय, १५. मूर्ति-नायनार, १६. मुरुगर, १७. रुद्रपशुपति, १८. तिरुनालेय्प्पोवार, १९. तिरुक्करिप्पत्तोंड, २०. चण्डेश्वर, २१. तिरुनावुक्करशु, २२. कुलच्चिरेय्, २३. पेरुमिलिलेय् कुरंब, २४. कारेय् कालम्यै, २५. अप्पूदियड़िगल्, २६. तिरुनीलनक्क, २७. नमिनंदियड़िगल्, २८.

तिरुज्ञानसंबन्धमूर्ति, २९. येयर कोरकलिकाम, ३०. तिरमूल, ३१. दण्डियड़िगल्, ३२. मूर्ख, ३३. सोमासिमार, ३४. शाक्यनायनार, ३५. शिरुप्पलि, ३६. शिरुत्तोण्ड, ३७. चेरमान् पेरुमाल्, ३८. गणनाथ, ३९. कूत्तुव, ४०. पुग्लचोल, ४१. ररसिंगमुनय्यरय्य, ४२. अतिभक्त, ४३. कलक्कंब, ४४. कलियनायनार, ४५. शक्तिनायनार, ४६,अैय्यड्डिगल् ४७. कणंपुल्ल, ४८. केरिनायनार, ४९. नेडमार, ५०. वायिलार, ५१. मुनय्यडुवार, ५२. कलरसिंग, ५३. इडंगरि नायनार, ५४. शरुत्तुणै, ५५. पुगल्तुणै, ५६. कोट्पुलि, ५७. पूशलार, ५८. मंकय्यक्करिसि, ५९. नेशनायनार, ६०. कोच्चंगग् चोल, ६१. याप्पाणनायनार, ६२. शड़य्य नायनार, ६३. इशैज्ञानियम्यै।

इन सन्तों की जीवनी से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ शिवलिंग की पूजा से तथा अन्य गुरुजनों के ज्ञानोपदेश से मुक्त हो गये हैं। कर्नाटक के अमुक वीरशैव सन्त तथा कवियों ने इन शैव सन्तों की स्तुति की है तथा इनके चरित्र का वर्णन किया है, इससे यह ज्ञात होता है कि वीरशैव सन्तों पर उन पुरातन शैव सन्तों का गहरा प्रभाव रहा है। कन्नड़ भाषा में इन शैव सन्तों के चरित्र प्रतिपादक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें वीरभद्र कवि का "अरवत्तु-मूवर-पुराण", निजगुण शिवयोगी का "अरवत्तुमूरुमंदि पुरातनर स्तोत्र", अण्णाजी का "सौन्दर विलास" आदि प्रसिद्ध हैं। उपमन्यु मुनि के "भक्तिविलासम्" नामक संस्कृत ग्रन्थ में भी इन सबका चरित्र वर्णित है। (वी०त०प्र०, पृ. २१२-२२०; द०भा०इ०, पृ. ३२०, ३२८)।

प्रतिष्ठा कला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२५; सू०सं, भा० २, पृ. ४५६; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

प्रसाद

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ५.२०-३६; सि०शि० ११.६,७; सि०शि० ९.११; वी०आ०चं०, पृ. १३२)।

प्रसादलिंग

इसकी परिभाषा के लिए "लिंग-स्थल" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२९, ३६,३७; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.३०)।

प्रसादिस्थल

इसकी परिभाषा "अंगस्थल" शब्द के अन्तर्गत "प्रसादी" शब्द में देखिए (सि०शि० ११.२-१८; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. १७९-१८१, अनु०सू० ४.३१)।

प्राणलिंग

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "लिंग" शब्द देखिए (वी०आ०चं०, पृ. ४५६; सि०शि० १२.६-८)।

प्राणलिंगार्चना

हृदय की द्वादश कमलकर्णिकाओं में ज्योति स्वरूप में विराजमान शिवविग्रह को "प्राणलिंग" कहा गया है और उसकी अर्चना ही "प्राणलिंगार्चना" कहलाती है। इस ज्योतिर्मय प्राणलिंग के भावनागम्य होने से उसकी अर्चना भी भावनामय वस्तुओं से ही की जाती है। वह इस प्रकार है—प्राणलिंग के अभिषेक के लिए क्षमा (सहनशीलता) ही जल है, नित्यानित्य वस्तुओं का विवेक ही उसे पहनाने का वस्त्र कहलाता है, सर्वदा सत्य बोलना ही उस लिंग के अलंकरणीय आभरण हैं, वैराग्य ही उसे पहनाने की पुष्प-माला है, चित्त के शान्त हो जाने पर समाधि का लग जाना गन्धसमर्पण है, निरहंकार भावना ही अक्षत है, दृढ श्रद्धा ही धूप और आत्मज्ञान हो जाना ही दीप है, भ्रान्ति का निवृत्त हो जाना ही नैवेद्य बताया गया है, लौकिक व्यवहार में मौन हो जाना ही घण्टानाद कहलाता है, विषय का समर्पण ही ताम्बूल है, अर्थात् प्रमेय वस्तुओं का प्रमाण रूप ज्ञान में, उस प्रमाण रूप ज्ञान का प्रमातृ रूप आत्मा में और उस आत्मा का ज्योतिस्वरूप प्राणलिंग में लय का चिन्तन करना ही विषय-समर्पण रूप ताम्बूल कहलाता है। यह प्रपञ्च शिव से भिन्न है, इस प्रकार की भेदबुद्धि की निवृत्ति हो जाना ही प्रदक्षिणा है। उपासना करने वाली उस बुद्धिवृत्ति का भी अन्त में उस ज्योतिर्लिंग में लय

हो जाना ही नमस्कार क्रिया है। वीरशैव दर्शन में इन उपर्युक्त भावनाओं से प्राणलिंग की अर्चना बताई गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक की बहिर्मुख बुद्धिवृत्तियों का निरोध होकर उसके अन्त:करण में उपर्युक्त सद्गुण, सज्ज्ञान और सद्भावनाओं का उदय होना ही प्राणलिंग की अर्चना है। अत एव इस प्राणलिंग की अर्चना के लिए कोई निश्चित समय नहीं है। जब जब साधक के मन में ये भावनायें उठती रहती हैं, तब तब यह प्राणलिंग की अर्चना होती रहती है (सि०शि० १२.१५-२०; वी०आ०चं०, पृ. ४५६)।

प्राणलिंगि-स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "अंगस्थल" शब्द के अन्तर्गत "प्राणलिंगी" शब्द देखिए (सि०शि० १२.२-१२; अनु०सू० ४.३०, अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. १९२-१९३)।

बयलु

इसकी परिभाषा के लिए "शून्य" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. १; व०वी०ध०, पृ. १२३-१२४)।

भक्त

इसकी परिभाषा के लिए "अंगस्थल" शब्द देखिए (सि०शि० ९.२१-२४, पृ. १४४, १४५; अनु०सू० ४.३३; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. ७९-८०)।

भक्त-स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "अंगस्थल" शब्द के अन्तर्गत "भक्त" शब्द देखिए (सि०शि० ९.२१-२४; अनु० सू० ४.३३; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. ७९-८०)।

भक्ति

परशिव की विमर्श शक्ति स्वस्वातन्त्र्य बल से दो भागों में विभक्त होकर अंगस्थल और लिंगस्थल को अपना आश्रय बनाती है, इनमें लिंगस्थलाश्रित शक्ति "कला" और अंगस्थलाश्रित शक्ति "भक्ति" कहलाती है। यह भक्ति निर्धूम

दीपक के प्रकाश की तरह है, अर्थात् यह प्रपञ्च की वासनाओं से निर्मुक्त रहती है। भक्ति जीव के जीवभाव को हटाकर शिवस्वरूप प्राप्त करने में उनकी सहायक बनती है। मोहक गुणों के अधीन न रहने के कारण इसको निवृत्तिरूपा, ऊर्ध्वमुखी, निर्माया और शुद्धा कहते हैं। कला की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि यह जीव को स्वस्वरूप-साक्षात्कार कराने में सहायक होती है (अनु०सू० २.२३-३१)।

जिस प्रकार जल छः रसों से युक्त होकर षड्रस-स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी अंग (शुद्ध जीव) के छः भेदों के कारण श्रद्धाभक्ति, निष्ठाभक्ति, अवधानभक्ति, अनुभवभक्ति, आनन्दभक्ति और समरसभक्ति नाम से छः प्रकार की बन जाती है (अनु०सू० ४.२१-२७; श०वि०द०, पृ. १८३)।

क. श्रद्धाभक्ति

साधक का अष्टावरण और पंचाचारों में रहने वाला निरतिशय प्रेम ही "श्रद्धाभक्ति" कहलाती है। इस स्तर में भक्ति करने वाले साधक और उपास्य का शिव में भेद-बोध रहता है। श्रद्धाभक्ति से शिव को अर्पण करने वाले पदार्थ स्थूल ही होते हैं। यह भक्ति ज्यादातर स्थूल शरीर से ही सम्बन्ध रखती है। यह श्रद्धाभक्ति भक्तस्थल के साधक में रहती है (अनु०सू० ४.२७; शि०श०को०, पृ. ५१)।

ख. निष्ठाभक्ति

जब साधक की श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ होती है, तब वह निष्ठाभक्ति कहलाती है। यह महेश्वर स्थल के साधक में रहती है। इस अवस्था में भी स्थूल पदार्थों का ही अर्पण होता है। श्रद्धाभक्ति से शिव को पदार्थों का अर्पण करते समय प्रगाढ़ प्रेम रहता है। यही "श्रद्धाभक्ति" और "निष्ठाभक्ति" में अन्तर है। निष्ठाभक्ति से मन का चाञ्चल्य धीरे धीरे कम हो जाता है। इस निष्ठा भक्ति को ही "नैष्ठिक भक्ति" भी कहते हैं (अनु०सू०४.२७; शि०श०को०, पृ.५१)।

ग. अवधानभक्ति

अत्यन्त सावधानी को अवधान कहते हैं। यह मन की एकाग्रता से सम्भव है। यह "अवधानभक्ति" मन से सम्बन्धित है। निष्ठाभक्ति की परिपक्व अवस्था

ही अवधानभक्ति है। साधक का मन अपनी उपभोग्य वस्तुओं को शिव को समर्पण करते समय यदि भूत और भविष्य का चिन्तन छोड़कर वर्तमानकालिक अर्पण क्रिया के प्रति जागृत और एकाग्र रहता है, तब मन की उस अवस्था को अवधानावस्था कहते हैं। इस अवस्था में की जाने वाली अर्पण क्रिया ही "अवधानभक्ति" कहलाती है। यह "प्रसादि-स्थल" के साधक में पायी जाती है। इस भक्ति से साधक के अहंकार का निरसन हो जाता है। अत: अवधानभक्ति युक्त साधक प्रत्येक क्रिया में "मैं करता हूँ" इस भाव को छोड़कर शिव को ही प्रेरक समझता है (अनु०सू० ४.२६; शि०श०को०, पृ. ५१)।

घ. अनुभवभक्ति

साधक अहंकारशून्य होकर निरन्तन शिवध्यान में तत्पर होने के कारण "भ्रमर- कीट-न्याय" से, अर्थात् जैसे कीट निरन्तर भ्रमर के चिन्तन से भ्रमर बन जाता है, वैसे यह साधक भी अपने में शिवस्वरूप का अनुभव करने लगता है। इस शिवानुभव को शिव की ही कृपा समझना "अनुभवभक्ति" कहलाती है। यह भक्ति "प्राणलिंगि-स्थल" के साधक में रहती है (अनु०सू० ४.२६; शि०श०को०, पृ. ५१)।

ङ. आनन्दभक्ति

अनुभवभक्ति का विकास ही "आनन्दभक्ति" है। शिवतादात्म्य के अनुभव से प्राप्त अलौकिक सुख ही आनन्द कहलाता है। अत एव साधक के अनुभव का पर्यवसान आनन्द में होता है। शिवानुभव से प्राप्त आनन्द को शिव की कृपा समझना ही "आनन्दभक्ति" कहलाती है। यह "शरण-स्थल" के साधक में रहती है। इस आनन्दभक्ति से युक्त साधक की सभी सांसारिक वासनायें प्राय: नष्ट हो जाती हैं (अनु०सू० ४.२५; शि०श०को०, पृ. ५१)।

च. समरसभक्ति

यह श्रद्धाभक्ति की पूर्ण परिणति है। साधक अपने सम्पूर्ण जीवभाव को त्यागकर जिस भक्ति की सहायता से अपने मूल स्वरूप परशिव में समरस हो जाता है, उसे ही समरसभक्ति कहते हैं। यह "ऐक्य-स्थल" के साधक में रहती है। इस समरसभक्ति को प्राप्त कर लेना ही षट्-स्थल साधना का अन्तिम

लक्ष्य है। इस समरसभक्ति से सम्पन्न साधक "ऐक्य-स्थल" का सिद्ध शिवयोगी है (अनु०सू० ४.२५; शि०श०को०, पृ. ५१)।

भसित

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "विभूति" शब्द देखिए (सि०शि० ७.५,७,८,१०; बृ०जा०उ० १ ब्राह्मण; शै०र० ७.७४)।

भस्म

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "विभूति" शब्द देखिए (सि०शि० ७.५,७,९,११; बृ०जा०उ० १ ब्राह्मण; शै०र० ७.७५)।

भावना

भावना का अर्थ वह शुद्ध मानसिक चेष्टा है, जिसका विषय शिव ही होता है, अर्थात् शिवविषयक मानसिक व्यापार का नाम भावना है। इसी को अनन्य श्रद्धा भी कहते हैं। इसका आलम्बन शुद्ध होने से यह भावना भी शुद्ध कहलाती है और यही जीव को मुक्त कराती है। आलम्बन के अशुद्ध होने पर वही भावना संसृति (संसार) का कारण बनती है। अत: वीरशैव आचार्यों ने पूजा आदि कर्म करते समय शुद्ध भावना की आवश्यकता बताई है। यह शुद्ध भावना एक ऐसी चीज है, जिसकी सहायता से भावुक व्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियों के लिए अगोचर परशिव का भी साक्षात्कार कर सकता है।

पूजा आदि धार्मिक कृत्य करते समय आराध्य शिव के प्रति अनन्य श्रद्धारूप भावना के रहने पर ही वह पूजा श्रेष्ठ और फलदायी मानी जाती है। भावना के बिना केवल यन्त्रवत् शारीरिक क्रिया होने पर उस पूजा का कोई मूल्य नहीं होता, चाहे वह कितनी ही बड़ी पूजा क्यों न हो। भावनायुक्त पूजा छोटी होने पर भी उसका फल महान् होता है और वही शिव के लिए प्रिय भी होती है।

पूजा प्रभृति कर्म करते समय यह भावना रहने पर "श्रद्धा" और ज्ञान के साथ रहने पर "निदिध्यासन" कहलाती है। श्रद्धारूप भावना से भावक को शिव की कृपा प्राप्त होती है और निदिध्यासन रूप भावना से ध्याता शिवस्वरूप होता है (सि०शि० १६.१५-१८; सि०शि० १७.५१-५४)।

भावलिंग

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "लिंग" शब्द देखिए (सि०शि० १५.३७-३९; वी०आ०चं०, पृ. ४५७; श०वि०द०, पृ. १६२,१६३)।

भावाचार

इसकी परिभाषा के लिए "सप्ताचार" शब्द देखिए (च०ब०व०, पृ. १४१०; प्रं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध०, पृ. २७५)।

भृत्याचार

इसकी परिभाषा के लिए "पंचाचार" शब्द देखिए (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.१२४-१२६)।

भोगांग

इसकी परिभाषा के लिए "अंग" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.७,१२,१४,१६)।

मध्यपिण्ड

इसकी परिभाषा के लिए "पिण्डज्ञानी" शब्द देखिए (तों०व०को०, पृ. २८३)।

मन्त्र

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (सि०शि० ८.७,१७; सि०शि० ८.२३; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद० ८.९-१३, ४८-७४; सि०शि० ८.२५-२९; वी०स०सं० ५.१४-४०)।

मन्त्रदीक्षा

इसकी परिभाषा के लिए "दीक्षा शब्द देखिए (सि०शि० ६.१४; अनु०सू० ५.४१, ५८ वी०स०सं ११.११)।

मयूराण्डरस-न्याय

इसकी परिभाषा के लिए "अविभाग-परामर्श" शब्द देखिए (सि०शि० ५.३९; तत्त्वप्रदींपिका टीका सहित)।

मल

शिव की सङ्कुचित शक्ति को "मल" कहते हैं। इसे "अविद्या" भी कहा जाता है। यह मल "आणव", "मायीय" और "कार्म" भेद से तीन प्रकार का होता है। ये तीनों मल अनादि हैं। इन अनादि मलों से आवृत शिव का अंश ही संसारी जीव कहलाता है (श०वि०द०, पृ. ९०-९१; सि०शि० ५.३४)।

क. आणव मल

शिव की इच्छाशक्ति का सङ्कुचित स्वरूप ही "आणव मल" है। इसके आवरण से जीव में "मैं अणु हूँ" यह भावना उत्पन्न होती है और वह अपने व्यापक स्वरूप को भूल कर अपने को शिव से भिन्न मानने लगता है। इस प्रकार जीव में अणुता का आपादन करके शिव और जीव में भेदबुद्धि को उत्पन्न करने वाला मल ही "आणव मल" है (श०वि०द०, पृ. ९०-९१)।

ख. मायीय मलं

जिस शक्ति से संयुक्त होकर शिव सर्वज्ञ कहलाता है, उस ज्ञानशक्ति का सङ्कुचित स्वरूप ही "मायीय मल" है। इसे "अज्ञान" भी कहते हैं। वीरशैव दर्शन में अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव अथवा भावरूप अज्ञान नहीं है, किन्तु सङ्कुचित ज्ञान ही "अज्ञान" कहलाता है। इसके आवरण से जीव में "मैं अल्पज्ञ हूँ" यह भावना उत्पन्न होती है। इस "मायीय मल" के कारण ही यह जीव शरीर से भिन्न अपने अस्तित्व को भूल कर शरीर को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है और सती, पुत्र आदि में ये मेरे हैं, इस भाव से युक्त होकर उनमें ही मोहित रहता है। इस प्रकार जीव में अल्पज्ञ भाव को उत्पन्न करके उसे संसार में मोहित करने वाला मल ही "मायीय मल" कहलाता है (श०वि०द०, पृ. ९१)।

ग. कार्म मल

शिव की क्रियाशक्ति ही सङ्कुचित होकर "कार्म मल" कहलाती है। यह जीव को आवृत करके उसमें "मैं किंचित् कर्ता हूँ" इस भावना को उत्पन्न करती है। इस कार्म मल के कारण ही जीव पुण्य और पाप कर्मों को करता हुआ स्वकृत कर्मों के फलों को भोगने के लिए मनुष्य आदि नाना योनियों में भ्रमण

करता रहता है। इस प्रकार जीव से पुण्य-पाप कर्मों को कराकर उनके फलों के उपभोग के लिए जीव को नाना योनियों में भ्रमण कराने वाला मल ही "कार्म मल" के नाम से अभिहित होता है (श०वि०द०, पृ. ९१; सि०शि० ५.४७-४८)।

महालिंग

इसकी परिभाषा के लिए "लिंग-स्थल" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२८, ३५,३६; वी०आ०चं०, पृ. ३९; च०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.३०)।

महालिंगस्थल

इसकी परिभाषा "लिंगस्थल" शब्द में देखिए (अनु०सू० ३.२८, ३५,३७; वी०आ०चं०, पृ. ३९; चं०ज्ञा०आ०, क्रियापाद ३.३१)।

महेश्वर

इसकी परिभाषा के लिए "अंगस्थल" शब्द देखिए (सि०शि० १०.२,३; सि०शि० १०.२१-२२; अनु०सू० ४.३२; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ.११८-११९)।

महेश्वरस्थल

इसकी परिभाषा के लिए "अंगस्थल" शब्द के अन्तर्गत "महेश्वरस्थल" शब्द देखिए (सि०शि० १०.२, सि०शि० १०.२१-२२; अनु०सू० ४.३२; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. ११८-११९)।

माट

वीरशैव सन्तसाहित्य में "माट" शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर पूजा या दान आदि उत्तम क्रिया को "माट" कहा गया है। यह "उपाधि माट", "निरुपाधि माट" और "सहज माट" के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

क. उपाधि माट

किसी फल की अपेक्षा रखकर किये जाने वाले पूजा, दान आदि सत्कर्म ही "उपाधि माट" कहे जाते हैं। जैसे कि स्वर्ग आदि की अपेक्षा से किया

जाने वाला याग और उसमें दिया गया दान ये दोनों क्रियायें उपाधि माट कहलाती हैं। अन्य दर्शनों में इन्हें "सकाम कर्म" कहते हैं।

ख. निरुपाधिक माट

किसी प्रतिफल की अपेक्षा न करके निष्काम भावना से, ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाने वाले पूजा, दान आदि सत्कर्मों को "निरुपाधिक माट" कहा जाता है। दर्शनान्तर में इन्हीं को निष्काम कर्म कहते हैं।

ग. सहज माट

उपास्य और उपासक में भेदबुद्धि के बिना सहज और समरसभाव से होने वाली उपासना "सहज माट" कही जाती है। उसी प्रकार सहज भाव से होने वाली दानक्रिया को भी "सहज माट" कहते हैं। अर्थात् जैसे अपने ही एक हाथ की वस्तु को दूसरे हाथ में देते समय लेन-देन की भेदभावना के बिना सहज भाव से वह क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार यदि कोई दान देते समय "मैं दे रहा हूँ" और "वह ले रहा है" इस भेदबुद्धि के बिना ही सहज भाव से दी जाने वाली दान क्रिया "सहज माट" कहलाती है (शि०श०, पृ. ८४)।

मायीय मल

इसकी परिभाषा के लिए "मल" शब्द देखिए (श०वि०द०, पृ. ९०-९१)।

मूर्तसादाख्य

इसकी परिभाषा के लिए "सादाख्य" शब्द देखिये (वा०शु०तं० १.५३-५७; सू०आ० क्रियापाद १.३६-३७)।

मोहकारिणी

जो शक्ति अपने आश्रय को विपरीत ज्ञान के द्वारा मोहित करती है, उसी को मोहकारिणी कहा जाता है। इसको अधोमाया या अविद्या भी कहते हैं। यह अविद्या आणव आदि मलत्रय से जीव को आवृत करती है, जिससे कि वह अपने व्यापक स्वरूप को भूलकर अणुता का अनुभव करता है और अनित्य, अशुचि तथा दुःखमय शरीर आदि को नित्य, शुचि और सुखमय मानकर मोह में पड़ जाता है। अत एव इसे मोहकारिणी कहा जाता है। यह स्थूल चित्,

अर्थात् अल्पज्ञत्व और स्थूल-अचित्, अर्थात् अल्पकर्तृत्ववती है, अत: जीव भी इससे युक्त होने के कारण अल्प कर्ता, बद्ध तथा लिंगांग-सामरस्य के ज्ञान से शून्य हो जाता है। इस अविद्या के कारण ही जीव अनेक प्रकार के कर्म करता हुआ उन कर्मफलों को भोगने के लिए अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस अविद्या के अपने अंश-भेद से अनेक होने के कारण तदुपहित जीव भी अनेक हो गये हैं। इस प्रकार यह मोहकारिणी अविद्या जीव की महिमा को घटाती है (सि०शि० ५.४५,४७) ।

योगांग

इसकी परिभाषा के लिए "अंग" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.६,१०,१२)।

रक्षा

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "विभूति" शब्द देखिए (सि०शि० ७.६, ७,९,११)।

रुद्राक्ष

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (सि०शि ७.४७-४८; अ०वी०सा०सं० २०.१-४; सि०शि० ७.४९-५१)।

लिंग

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.३-४; सि०शि० ११.३१-३२; वी०स०सं० ७.६९-७०; सि०शि० ६.३७-३८; सि०शि० ६.४९-५०)।

लिंगधारण

इसकी परिभाषा के लिए "गर्भलिंगधारण" शब्द देखिए (वी०आ०प्र० १.९४-१२८)।

लिंगस्थल

वीरशैव दर्शन में परमतत्त्व को "स्थल" कहा जाता है। वह सृष्टि-लीला के समय अपनी विभिन्न शक्तियों या कलाओं से संयुक्त होकर महालिंग,

प्रसादलिंग, जंगमलिंग (चरलिंग), शिवलिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग नामक छः प्रकार के लीला-विग्रहों को धारण कर लेता है। इस तरह वह "स्थल" तत्त्व ही लिंग स्वरूप हो जाने से "लिंग-स्थल", अर्थात् लिंगरूपी स्थल-तत्त्व कहा जाता है। वीरशैव दर्शन के साधक को इन लिंगों की उपासना के माध्यम से ही मूल स्थल-तत्त्व की प्राप्ति होती है। इन लिंगों का स्वरूप इस प्रकार है (अनु०सू० ३.२१-२३) —

क. महालिंग

सूक्ष्म कार्य और कारण रूप प्रपञ्च की उपादानकारणीभूत शक्ति को "चिच्छक्ति" कहते हैं। इस शक्ति का पर्याय नाम है "शान्त्यतीतोत्तरा कला"। इस "शान्त्यतीतोत्तरा कला" से संयुक्त वह स्थलरूप परशिव ही "महालिंग" कहलाता है। यह अखण्ड, गोलाकार, तेजोमय ॐकार स्वरूप है। सृष्टि के समय इसी महालिंग से "पंचशक्तियाँ", "पंचकलाएँ" और "पंचसादाख्य" आदि का उदय होता है। अतः इस महालिंग को भावी सृष्टि की हेतुभूत एक पूर्ण गर्भावस्था कह सकते हैं। यह अणु से भी अणु और महत् से भी महान् है। यही सृष्टि, संहार आदि पंचकृत्यों का नियामक है। इस "महालिंग" के उपासक अंग (जीव) को "ऐक्य" कहते हैं। यह ऐक्य-अंग इसी महालिंग में समरस होकर मुक्त हो जाता है (अनु०सू० ३.२८,३५,३६; वी०आ०चं०, पृ. ३९; च०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.३०)।

ख. प्रसादलिंग

चिच्छक्ति से संयुक्त महालिंग के सहस्रांश से आनन्दस्वरूपिणी "परा शक्ति" का प्रादुर्भाव होता है। परा शक्ति का पर्याय है "शान्त्यतीत-कला"। इस शान्त्यतीत कला से संयुक्त वह स्थल रूप परशिव ही "प्रसाद-लिंग" कहलाता है। यह सत्-चित्-आनन्दैकरस स्वरूप है। इस प्रसादलिंग में ही "शिवसादाख्य" आश्रित रहता है। शिव के ईशानमुख से इस प्रसाद-लिंग की अभिव्यक्ति होती है। प्रसाद-लिंग के उपासक अंग (जीव) को "शरण" कहते हैं। इस "शरण" नामक उपासक को इस प्रसादलिंग में रहने वाली "शान्त्यतीत कला" की कृपा से शिव के सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप का अनुभव होता है (अनु०सू० ३.२९, ३६,३७; वी०आ०चं०, पृ. ४०; च०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.३०)।

ग. जंगमलिंग

पराशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न शक्ति को "आदिशक्ति" कहते हैं। आदिशक्ति का पर्याय "शान्ति कला" है। इस शान्ति कला से संयुक्त स्थल रूप परशिव को "जंगम-लिंग" कहते हैं। इस जंगम-लिंग को "चरलिंग" भी कहा जाता है। यही "अमूर्त सादाख्य" का आश्रय है। शिव के तत्पुरुष मुख से इस जंगमलिंग की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इस लिंग का उपासक अंग (जीव) "प्राणलिङ्गी" कहलाता है। जंगमलिंग में रहने वाली शान्ति कला की कृपा से इस लिंग के उपासक जीव के मलरूपी पाश क्षीण हो जाते हैं और उसमें आत्मानुभव की अभिव्यक्ति होती है तथा साधक का मन निरन्तर शान्ति से ओतप्रोत रहता है (अनु०सू० ३.३०, ३८-३९; वी०आ०चं०, पृ. ४०; च०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.२९)।

घ. शिवलिंग

आदिशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न शक्ति को "इच्छाशक्ति" कहते हैं। इच्छाशक्ति का पर्याय "विद्याकला" है। इस विद्याकला से संयुक्त वह स्थलरूप परशिव ही "शिवलिंग" नाम से अभिहित होता है। सूक्ष्म साकार स्वरूप का होने से यह "मूर्त- सादाख्य" का आश्रय कहलाता है। शिव के अघोर मुख से इसकी अभिव्यक्ति मानी जाती है। इस लिंग के उपासक अंग (जीव) को "प्रसादी" कहते हैं। इस शिवलिंग-निष्ठ विद्या कला के द्वारा उपासक की अविद्या निवृत्त हो जाती है और उसको विद्या की प्राप्ति होती है, जिससे वह साधक माया के कार्यभूत शरीर आदि से भिन्न अपने आत्मतत्त्व को जान लेता है (अनु०सू० ३.३१, ४०; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.२९)।

ङ. गुरुलिंग

इच्छाशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न शक्ति को "ज्ञानशक्ति" कहते हैं और उसका पर्याय "प्रतिष्ठा-कला" है। इस प्रतिष्ठा कला से संयुक्त वह स्थलरूप परशिव ही "गुरुलिंग" नाम से अभिहित किया जाता है। इसे कर्तृसादाख्य का आश्रय माना जाता है। शिव के वामदेवमुख से इस गुरुलिंग की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इस गुरुलिंग के उपासक अंग (जीव) को "महेश्वर" कहते

हैं। गुरुलिंग-निष्ठ प्रतिष्ठा-कला के द्वारा उपासक के मन में शिव के प्रति अनुराग की प्रतिष्ठा होती है (अनु०सू० ३.३२, ४१,४२; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.२८)।

च. आचारलिंग

ज्ञानशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न शक्ति ही "क्रियाशक्ति" है और उसका पर्याय "निवृत्ति-कला" है। इस निवृत्ति-कला से संयुक्त वह स्थलरूप परशिव ही "आचार लिंग" कहलाता है। इसे कर्म-सादाख्य का आश्रय माना जाता है। शिव के सद्योजात मुख से इस "आचार-लिंग" की अभिव्यक्ति होती है। इस आचार-लिंग के उपासक अंग (जीव) को "भक्त" कहते हैं। आचारलिंग-निष्ठ निवृत्ति-कला के द्वारा उपासक के कर्मभोग निवृत्त हो जाते हैं और वह गुरु-लिंग आदि की उपासना की योग्यता प्राप्त कर लेता है (अनु०सू० ३.३३,४२,४३; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ३.२८)।

लिंगांग-संयोग

इसकी परिभाषा के लिए "लिंगांग-सामरस्य" शब्द देखिए (अनु०सू० ५.५६)।

लिंगांग-सामरस्य

वीरशैव दर्शन में "मोक्ष" को "लिंगांग-सामरस्य" कहते हैं। यहाँ पर शिव को "लिंग" और जीव को "अंग" कहा गया है। शिव और जीव का परस्पर समरस हो जाना ही "लिंगांग-सामरस्य" है। समरसता की प्राप्ति के लिए इस दर्शन में "सती-पति" भावना की आवश्यकता बतायी गयी है, अर्थात् शिव को "पति" और अपने को "सती" मानना चाहिए। साधक की साधना में जैसे जैसे प्रगति होती जाती है, वैसे वैसे उसके मन में शिव के प्रति प्रेम का आविर्भाव होता है। यही प्रेमभाव प्रगाढ होकर साधक में "सती-भाव" को जागृत करता है। जैसे अपने ऊपर अपना प्रेम निर्व्याज रहता है, उसी प्रकार सती-भाव युक्त साधक भी शिव से निर्व्याज प्रेम करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधक के मन में शिव के साथ अभेद-भावना का अंकुर उत्पन्न हो जाता है। इस अभेद-बोध से ही साधक को शिव के आनन्द-स्वरूप

का अनुभव होने लगता है। शिव के आनन्दस्वरूप का अनुभव करता हुआ साधक जब उस आनन्दस्वरूप परशिव से अपने पृथक् अस्तित्व को भूल जाता है, तब वह शिव के साथ समरस हो जाता है। इसी को "लिंगांग-सामरस्य" कहते हैं। यह सामरस्य उस कोटि का होता है, जैसा कि जल की जल के साथ और ज्योति की ज्योति के साथ एकाकारता होती है। यही मुक्ति है। इसी को "अंग-लिंग-ऐक्य" कहते हैं। "लिंगांग-संयोग" शब्द भी इसी का पर्याय है (सि०शि० २०.६१; क्रि०सा०, भा० ३)।

यहाँ पर "लिंग" और "अंग" का यह संयोग घट और पट के संयोग की तरह न होकर "शिखी" और "कर्पूर" के संयोग की तरह माना जाता है, अर्थात् जैसे अग्नि के संयोग से कर्पूर अग्नि-स्वरूप ही हो जाता है, अग्नि से पृथक् कर्पूर की स्थिति नहीं रह जाती; उसी प्रकार लिंग से संयुक्त अंग का भी पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। यही लिंगांग-संयोग है (अनु०सू० ५.५६)।

लिंगाचार

इसकी परिभाषा के लिए "पंचाचार" शब्द देखिये (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ९.५, ११; सि०शि० ९.३१-३३)।

लिंगायत

इसकी परिभाषा के लिए "वीरशैव" शब्द देखिए (हिं०, पृ. ६९४-९५; सि०शि० ५.१५-१६,१८; सि०शि० ६.२६-२८; चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद १०.३३,३४; पा०तं० १.६६-६७; वि०प्र० २.३१; क्रि०सा० १.३; सि०शि० ९.३४-३५)।

लीला

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप शिव के पंचकृत्यों को वीरशैव दर्शन में "लीला" कहा जाता है। शिव के इन पंचकृत्यों को "लीला" इससिए कहा जाता है कि वे उनके संकल्प मात्र से सिद्ध होकर विनोद के कारण बनते हैं। जैसे अत्यन्त निपुण नट स्वयं ही अनेक रूप धारण करके नाट्य का अभिनय करता है, उसी प्रकार शिव अकेला ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से कभी सृष्टि, कभी पालन, कभी संहार करता है और कभी सृष्ट जीवों

को अपने तिरोधान और अनुग्रह व्यापार से क्रमशः बद्ध और मुक्त करता है। शिव अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए राग-द्वेष से प्रेरित होकर सृष्टि-संहार आदि व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि वह आप्तकाम है। अत एव इस व्यापार को "लीला" कहते हैं।

प्राणियों को नाना योनियों में सुख, दुःख देने वाली शिव की इस लीला को "वैषम्य" और "नैर्घृण्य" दोष से युक्त भी नहीं माना जाता, क्योंकि वह प्राणियों को तत्तत् कर्मानुरूप सुखी, दुःखी, ज्ञानी और अज्ञानियों के रूप में बनाता है। अपनी लीला के लिए प्राणियों के कर्म की अपेक्षा करने से उसके स्वातन्त्र्य की हानि नहीं होती, क्योंकि जैसे कोई चक्रवर्ती राजा अपने ही बनाये नियम के अनुरूप कुशल व्यक्तियों को पुरस्कृत करता है, तो दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड भी देता है। यहाँ अपने ही बनाये नियम के परतन्त्र रहते हुए भी वह स्वतन्त्र ही कहलाता है, उसी प्रकार स्वरचित नियम के अनुसार प्राणियों के कर्म की अपेक्षा करने पर भी शिव स्वतन्त्र ही रहता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि, संहार आदि व्यापार शिव की "लीला" है (ब्र०सू० २.१.३३,३४; श्रीकर०भा०; वी०आ०चं०, पृ. २८; सि०शि० १.६)।

विभूति

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द देखिए (सि०शि० ७.५, ७,८,१०; बृ०जा०उ० ब्राह्मण; शै०र० ७.७३)।

विशेषाद्वैत

इसकी परिभाषा के लिए "द्वैताद्वैतात्मक विशेषाद्वैत" शब्द देखिए (श्रीकर०भा० मंगलश्लोक १४-१५, पृ. २)।

विद्याकला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२५, सू०सं०, भा०२, पृ. ४५७; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

वीर

इसकी परिभाषा के लिए "वीरशैव" शब्द देखिए (सि०शि० ५.१८)।

वीरमाहेश्वर

इसकी परिभाषा के लिए "अंग-स्थल" शब्द के अन्तर्गत "महेश्वर" शब्द देखिए (सि०शि० १०.१३-२०)।

वीरशैव

वीरशैव उन्हें कहते हैं, जो निरन्तर अहर्निश मृत्युपर्यन्त शिवलिंग को गले में धारण किये रहते हैं और अपने को "वीर", "नन्दि", "भृङ्गि" "वृषभ" तथा "स्कन्द" इन पाँच गणाधीश्वरों के गोत्र में उत्पन्न बतलाते हैं। ये लोग शिवलिंग को अपने प्राण से भी अधिक मानते हैं तथा उसको देह से कदापि अलग नहीं करते। इन्हें प्राकृत भाषा (कन्नड़) में "लिंगायत" कहते हैं (हिं०, पृ. ६९४-९५)।

"वीरशैव" शब्द में जो "वीर" विशेषण है, वह इतर शैवों से इनको अलग करता है। "वीर" शब्द की दार्शनिक और साम्प्रदायिक दो परिभाषायें हैं। दार्शनिक परिभाषा है—"वी" का अर्थ है विद्या, जो शिव और जीव के अभेद का या लिंगांग के सामरस्य का प्रतिपादन करने वाली है। "र" का अर्थ है रमण, अर्थात् शिवजीवैक्य-बोधन करने वाली विद्या में जो आनन्द को प्राप्त करता है, वह "वीर" कहलाता है। इस वीर विशेषण वाला शैव ही वीरशैव है (सि०शि० ५.१५,१६,१८)।

साम्प्रदायिक परिभाषा है कि वीरव्रत या वीरधर्म वाला शैव ही वीरशैव है। वीरशैवों को अपने इष्टलिंग (शिवलिंग) को देह से कदापि वियोग नहीं करना चाहिए, प्रमाद से कदाचित् इष्टलिंग के शरीर से गिर जाने पर प्राणत्याग करने का आदेश है (सि०शि० ६.२६-२८)। इस आदेश के अनुसार जो विकल्परहित होकर प्राणत्याग देता है, तो उसमें रहने वाली शिवलिंगनिष्ठा ही वीरव्रत या वीरधर्म कहलाती है और उस वीरधर्म वाला शैव ही वीरशैव है (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद १०.३३,३४; पा०तं० १.६६-६७; वि०प्र० २.३१; क्रि०सा० १.३)।

इसके अलावा कहीं मन्दिर में स्थापित शिवलिंग के अथवा शिवभक्त के नष्ट होने का या बाधा का भय हो, तब हिंसात्मक आक्रमणों को रोकने के लिए एक वीरशैव को अपने प्राण को भी संकट में डाल देना चाहिए। यह

भी ''वीरधर्म'' कहलाता है। इस धर्म का पालन करने वाला ''वीरशैव'' है (सि०शि० ९.३४,३५)।

इस प्रकार इसका तात्पर्य यह हुआ कि इष्टलिंग को गले में सदा धारण करने वाला, प्रसंग होने पर शिव के लिए अपना प्राण भी त्याग देने वाला और शिव-जीवैक्य बोधक विद्या में रमण करने वाला ''वीर'' कहलाता है। इन लक्षणों से युक्त शैव ही वीरशैव है।

वीरशैवों में वर्णाश्रम सम्पूर्ण माना जाता है। इस सम्प्रदाय के ब्राह्मण को ''भूरुद्र'', ''वीरमाहेश्वर'' या ''जंगम'' कहते हैं और शेष वीरशैव ''शीलवन्त'' ''बणजिग'' और ''पंचमशाली'' कहलाते हैं। वीरशैवों का भी वैवाहिक सम्बन्ध समान गोत्र, सूत्र वालों के साथ न होकर अपने से भिन्न गोत्र, सूत्र वालों के साथ किया जाता है (हिं०, पृ. ६९४-६९७)।

वीरशैव सिद्धान्त

साक्षात् श्री शिव के मुख से शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल सिद्धान्त के अनेक आगम निसृत हुये हैं। उनमें शैवतन्त्र—वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त-शैव के नाम से चार प्रकार के हैं। इनमें से सिद्धान्त-शैव के ''कामिकादि वातुलान्त'' २८ आगम हैं। इन आगमों के उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है (सि०शि० ५.९-१४)।

आगमों में प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त का ''शिवयोगी शिवाचार्य'' ने अपने ''सिद्धान्त-शिखामणि'' ग्रन्थ में संग्रह किया है। यह ग्रन्थ ''जगद्गुरु रेणुकाचार्य'' और ''महर्षि अगस्त्य'' के संवाद के रूप में है। यह वीरशैव सिद्धान्त का प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ है।

वीरशैव सिद्धान्त में जीव, शिव और जगत् ये तीनों सत्य हैं (ब्र०सू० २-३-४० श्रीकर०भा०, पृ. २७४)। ''जीव'' शिव का अंश और अणु परिमाण है (सि०शि० ५.३४; अनु०सू० ५.३)। शिव सर्वव्यापक और शक्तिविशिष्ट है (सि०शि० २०.३२)। यह जगत् शिव और शक्ति का ही विकास है। अत एव जीव और जगत् को भी शिवस्वरूप माना जाता है (सि०शि० १०.६३-७०)।

गुरु से दीक्षा प्राप्त कर अष्टावरणों से संयुक्त हुआ शुद्ध जीव ही इस सिद्धान्त का अधिकारी है (श्रीकर०भा० १.१.१; ब्र०सू०वृ०, पृ. १७-३४)। यहाँ मोक्ष के लिए "अन्धपंगुन्याय" से ज्ञान और कर्म इन दोनों का सम-समुच्चय माना जाता है, अर्थात् ज्ञान और कर्म ये दोनों समान रूप से मोक्ष के कारण हैं (सि०शि० १६.११-१४)।

यह जगत् शिवात्मक है, शिव से भिन्न नहीं और मैं भी शिवस्वरूप हूँ, इस प्रकार की उत्कृष्ट भावना को ज्ञान कहते हैं (सि०शि० १६.३१)। इस सिद्धान्त में अपने अपने इष्टलिंग की पूजा को "कर्म" कहा गया है (सि०शि० १६.५)। स्वस्वरूप का ज्ञान होने पर भी इष्टलिंग की पूजा के आमरण अनुष्ठान करने का विधान है। अत एव वीरशैव सिद्धान्त में ज्ञान और कर्म का सम-समुच्चय माना जाता है (सि०शि० १६.१२-१४)।

इस सिद्धान्त में संसार दशा में शिव और जीव का भेद और मुक्तावस्था में उन दोनों का अभेद माना जाता है। अत: इस सिद्धान्त को "भेदाभेदवादी" कहते हैं (श०वि०द०, पृ. ११५-११७)। इस सिद्धान्त के "शक्तिविशिष्टाद्वैत", "विशेषाद्वैत", "द्वैताद्वैत", "भेदाभेद" और "शिवाद्वैत" ये पाँच नाम हैं।

वेधा दीक्षा

इसकी परिभाषा के लिए "दीक्षा" शब्द देखिए (सि०शि० ६.१३; अनु०सू० ५.४०, ५७; वी०स०सं० ११.१०)।

शक्ति

वीरशैव दर्शन में "शक्ति" परशिव का एक अविभाज्य स्वरूप है। जैसे चन्द्रमा में वस्तुओं की प्रकाशिका चाँदनी अविनाभाव से रहती है, उसी प्रकार समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाली यह शक्ति परशिव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है (सि०शि० २०.१७)। सृष्टि की रचना में यह शक्ति परशिव की सहायक बनती है, अत: इसे सर्व लोकों की प्रकृति तथा परशिव की सहधर्मचारिणी कहा गया है (सि०शि०१.८)।

यह शक्ति वस्तुत: एक होने पर भी सृष्टि के समय स्व-स्वातन्त्र्य के बल से चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति के नाम से छ: प्रकार की हो जाती है (अनु०सू० ३.२६, २.७)।

क. चिच्छक्ति

सूक्ष्म कार्यकारणरूप प्रपञ्च की उपादानकारणीभूत शक्ति ही "चिच्छक्ति" कहलाती है (शि० मञ्जरी, पृ. २७)। इसीको विमर्श शक्ति और परामर्श शक्ति भी कहा जाता है। यह शक्ति बोधरूप है, अर्थात् इस चिच्छक्ति या विमर्शशक्ति से संयुक्त होने पर ही परशिव को "अस्मि" (मैं हूँ), "प्रकाशे" (मैं प्रकाशमान हूँ), "नन्दामि" (मैं आनन्दरूप हूँ)—इत्याकारक सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप का बोध होता है। अपने प्रकाशमय स्वरूप का बोध न होने पर स्फटिक आदि की तरह परशिव को भी जड़ मानना पड़ेगा, जो कि अभीष्ट नहीं है (सि०शि० २.१२-१३)।

इस विमर्शशक्ति के कारण ही परशिव सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वव्यापक और सभी कर्मों का साक्षी बन जाता है (सि०शि० २०.३२)। यह विमर्श शक्ति ही "शिव तत्त्व" से "पृथ्वी तत्त्व" पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों की तथा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का भी कारण है (शि०मं०, पृ. ३३-३४; सि०शि० २०.२९-३२)।

ख. पराशक्ति

योगियों के ध्यानयोग्य अपने को बनाने के लिए चिच्छक्तियुक्त परशिव जब चिन्तन करने लगता है, तब चिच्छक्ति के सहस्रांश से "पराशक्ति" का प्रादुर्भाव होता है (वा०शु०तं० १.२४)। यह आनन्दस्वरूप है, इसे ही परशिव की अनुग्रहशक्ति कहा जाता है। इसी शक्ति से युक्त होकर वह योगियों के ऊपर अनुग्रह करता है (शि०मं०, पृ. २७)।

ग. आदिशक्ति

पराशक्ति के सहस्रांश से आदिशक्ति का उदय होता है (वा०शु०तं० १.२५)। प्रपञ्च की कारणीभूत इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों के पहले इसकी स्थिति है, अर्थात् आदिशक्ति से ही इनकी उत्पत्ति होती है। अत एव इसे आदिशक्ति कहा जाता है (शि०मं० पृ. २७)। इस आदिशक्ति से संयुक्त होकर ही परशिव प्राणियों का निग्रह करते हैं, अर्थात् प्राणियों को निगृहीत करने का सामर्थ्य इस आदिशक्ति से ही प्राप्त है।

घ. इच्छाशक्ति

आदिशक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति का उदय होता है (वा०शु०तं० १.२५)। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनों शक्तियों की साम्यावस्था को ही इच्छाशक्ति कहते हैं। यह इच्छाशक्ति ही अपने में विद्यमान ज्ञान और क्रियाशक्ति के माध्यम से इस विश्व को उत्पन्न करती है। यही विश्व की बीजरूप है। संहार के समय यह विश्व पुन: इच्छाशक्ति में ही विलीन होकर रहता है, अत: इस इच्छाशक्ति को संहारशक्ति भी कहा जाता है। इसीसे युक्त होकर परशिव प्रपञ्च का संहार करता है (शि०मं०, पृ. २७,३४)।

ङ. ज्ञानशक्ति

इच्छाशक्ति के सहस्रांश से ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति होती है। (वा०शु० तन्त्र १.२६)। इस ज्ञानशक्ति के कारण ही शिव सर्वज्ञ कहलाता है और उसको अपने में विद्यमान प्रपञ्च का "इदं" (यह) इत्याकारक बोध होता है। अत एव इस ज्ञानशक्ति को बहिर्मुख शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर शिव प्रपञ्च की उत्पत्ति में निमित्तकारण बनता है और उत्पत्ति के अनन्तर उसका पालन भी करता है (शि०मं०, पृ. २७,३४)।

च. क्रियाशक्ति

ज्ञानशक्ति के सहस्रांश से क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है (वा०शु०तन्त्र १.२६)। यह क्रिंयाशाक्ति इस प्रपञ्च का उपादानकारण होती है। इस शक्ति से युक्त होने से शिव सर्वकर्ता बन जाता है। यही शिव की कर्तृत्वशक्ति है। इस शक्ति को स्थूल प्रयत्नरूपा भी कहते हैं (शि०मं०, पृ. २७,३४)।

शक्तिविशिष्टाद्वैत

वीरशैव दर्शन को "शक्तिविशिष्टाद्वैत" नाम से सम्बोधित किया जाता है। "शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ, तयोरद्वैतं = शक्तिविशिष्टाद्वैतम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव इन दोनों का अद्वैत, अर्थात् अभेद ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है। यहाँ पर "सूक्ष्मचिदचिद्रूपा शक्ति" तथा स्थूलचिदचिद्रूपा शक्ति के नाम से शक्ति के दो भेद हैं। सूक्ष्म चिच्छक्ति का अर्थ है सर्वज्ञत्व और सूक्ष्म-

अचिच्छक्ति का अर्थ किंचित्कर्तृत्व है। इस तरह किंचिज्ज्ञत्व और किंचित्कर्तृत्व रूप शक्ति को "स्थूलचिद्रूपा शक्ति" कहते हैं। यह शक्ति जीव की है (शि०द०, पृ. २२-२३)। इस प्रकार परस्पर शक्तिविशिष्ट जीव तथा ईश्वर के सामरस्य, अर्थात् अभेद के प्रतिपादक इस दर्शन को "शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन" कहते हैं।

यहाँ पर सर्वज्ञत्व आदि शक्तिविशिष्ट को शिव और किंचिज्ज्ञत्व आदि शक्ति विशिष्ट को जीव कहने का तात्पर्य यह है कि परशिव की लीलावस्था में दोनों का भेद है और शक्तिविशिष्ट के अद्वैत का प्रतिपादन मुक्ति काल में दोनों के अभेद को बतलाने के लिए है। इस तरह इस दर्शन में द्वैत और अद्वैत प्रतिपादक दोनों श्रुतियों का समन्वय हो जाता है (श०वि०द०, पृ. १७-१९; क्रि०सा० १.९३-९५)।

शरण

इसकी परिभाषा के लिए "अंग-स्थल" शब्द देखिए (सि०शि० १३.२-१२; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. २१०-११)।

शरण-स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "शरण" शब्द देखिए (सि०शि० १३.२-१२; अ०वी०सा०सं०, भा० २, पृ. २१०-२११)।

शान्तिकला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५७; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

शान्त्यतीतकला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२५; सू०सं०, भा० २, पृ. ४५७; त०ज्ञा०, पृ. ४२)।

शान्त्यतीतोत्तरा कला

इसकी परिभाषा के लिए "कला" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.२५)।

शिक्षा गुरु

इसकी परिभाषा के लिए ''अष्टावरण'' शब्द के अन्तर्गत ''गुरु'' शब्द देखिए (सि०शि० १५.१२-१३)।

शिव-पंचयज्ञ

इसकी परिभाषा के लिए ''भक्त'' शब्द देखिए (सि०शि० ९.२१-२४)।

शिव-प्रेरयिता

परशिव की विमर्श शक्ति में समरसभाव से रहने वाली इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्तियाँ सृष्टि के समय विमर्श शक्ति के क्षोभ से परस्पर विभक्त होकर सत्त्व, रज और तमोगुण में परिणत हो जाती हैं और ये शक्तियाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति बन जाती हैं (सि०शि० ५.३९, तत्त्वप्रदीपिका टीका सहित)। इस त्रिगुणात्मिका शक्ति के रज और तमोगुणों से असंस्पृष्ट केवल शुद्ध सत्त्वगुण उपाधि से युक्त शिव ही प्रेरक या प्रेरयिता कहलाता है। यही सभी प्राणियों के कर्म का साक्षी रहकर अपने अपने कर्मानुसार जीवों को प्रेरणा देता रहता है। अत: जीवों का प्रेरक यह शिव ही ''शिव-प्रेरयिता'' कहा जाता है (सि०शि० ५.४२)।

शिव-भोक्ता

रजोगुण जब किञ्चित् सत्त्व और किञ्चित् तमोगुण से मिश्रित होता है, तब उसे समिश्रोपाधि कहते हैं। इस समिश्रोपाधि से युक्त शिव का अंश ही भोक्ता, जीव या पशु कहलाता है। यह अपने शुभ और अशुभ कर्मों के सुखदु:खरूप फलों को भोगता है, अत: इसे भोक्ता कहा जाता है और शिव का ही अंश है, अत: इसको ''शिवभोक्ता'' कहते हैं (सि०शि० ५.४२)।

शिवभोज्य

शुद्ध तमोगुण उपाधि से युक्त शिव ही भोज्य, अर्थात् उपभोग्य विषय बन जाता है। तमोगुण जडस्वभाव का है, अत: विषय भी जड होते हैं। यहाँ पर शिव ही अपनी लीला से भोज्य वस्तु बन जाता है, अत: इन भोज्यों को ''शिवभोज्य'' कहा जाता है। इस प्रकार वीरशैव दर्शन में भोक्ता, भोज्य और प्रेरयिता ये तीनों शिवस्वरूप ही हैं (सि०शि० ५.४३)।

शिवयोग

मन्त्र, लय, हठ तथा राज इन चार योगों से विलक्षण ''शिवयोग'' का वीरशैव दर्शन में प्रतिपादन किया गया है। ''शिवेन सह योग: शिवयोग:'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव के साथ होने वाला जीव का योग ही शिवयोग कहलाता है। शिव के साथ इस अभेदभाव की प्राप्ति के साधनीभूत उपासना मार्ग को भी ''शिवयोग'' कहा गया है। यहाँ ''शिवज्ञान'', ''शिवभक्ति'', ''शिवध्यान'' और ''शिवव्रत'' इन चार अंगों से युक्त ''शिवार्चना'' ही शिव के साथ अभेद भाव को प्रकट करने में प्रधान साधन है। अत: शिवार्चना रूप उपासना को ''शिंवयोग'' कहते हैं। मत-मतान्तरों के ज्ञान को छोड़कर शिवसम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करना ही ''शिवज्ञान'' है। अन्य देवताओं को छोड़कर केवल शिव में अनन्य श्रद्धा रखना ''शिवभक्ति'' कहलाती है। बिन्दु, नाद, व्योम, मन्त्र, भुवन तथा विग्रह इन षड्रूपों में शिव का ध्यान करना ही ''शिवध्यान'' कहलाता है। भस्म शिव को अत्यन्त प्रिय है, उससे शरीर का उद्धूलन तथा त्रिपुण्ड्र धारण करना ही ''शिवव्रत'' माना गया है। अन्तरंग तथा बहिरंग में होने वाली शिव की उपासना ही ''शिवार्चना'' कहलाती है। इनमें अन्तरंग अर्चना ही श्रेष्ठ है (शि०यो०प्र० १.१५,३८)। गुरु से दीक्षाप्राप्त शुद्ध जीव ही इस अन्तरंग तथा बहिरंग शिवार्चनारूप शिवयोग का अधिकारी होता है (शि०यो०प्र० १.३६,३७)।

शरीर एवं मन की शुद्धि के लिए इस शिवयोग के साधक के लिये यम, नियम आदि अष्टांगों का विधान किया गया है (शि०यो०प्र० २.१०-६०; शि०यो०प्र० ३.१-९०)। इस शिवयोग साधनामार्ग में ''यम'' और ''नियम'' सम्पन्न साधक को ''भक्त'', आसनसिद्ध साधक को ''महेश्वर'', प्राणायाम प्रक्रिया को जानने वाले और उसमें सिद्ध व्यक्ति को ''प्राणलिंगी'', प्रत्याहार से युक्त साधक को ''प्रसादी'', ध्यान एवं धारणा से सम्पन्न साधक को ''शरण'' और शिव के साथ एकीभूत समाधिसम्पन्न साधक को ''ऐक्य'' कहा गया है (शि०यो०प्र० ३.६०-६३)।

इस प्रकार उपर्युक्त साधनों के द्वारा शिव के साथ समरसता को प्राप्त कर लेना ही ''शिवयोग'' है।

शिवलिंग

इसकी परिभाषा के लिए "लिंगस्थल" शब्द देखिए (अनु०सू० ३.३१-४०; वी०आ०चं०, पृ. ४०; चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ३.२९)।

शिवसादाख्य

इसकी परिभाषा के लिए "सादाख्य" शब्द देखिये (वा०शु०तं० १.४४-४७; सू०आ० क्रियापाद १.३३)।

शिवाचार

इसकी परिभाषा के लिए "पंचाचार" शब्द देखिए (चं०ज्ञा०आ० क्रियापाद ९.३२-५०)।

शिवोऽहंभावना

"मैं शिवस्वरूप हूँ" इस प्रकार की शुद्ध मानसिक चेष्टा को "शिवोऽहंभावना" कहा जाता है। शिवज्ञान के अनन्तर इस भावना की आवश्यकता होती है, क्योंकि ज्ञान ज्ञाता को ज्ञेय का परिचय कराता है और भावना ज्ञाता को ज्ञेयस्वरूप बना देती है। जैसे कीट को भृंग का ज्ञान होने मात्र से वह भृंग नहीं होता, किन्तु अनवरत उसी का ध्यान करते रहने से वह भी भृंग बन जाता है, उसी प्रकार शिवज्ञान होने मात्र से जीव शिवस्वरूप नहीं होता, किन्तु शिवोऽहंभावना से वह भी शिव बन जाता है। यहाँ पर भावना का अर्थ है निदिध्यासन। इससे ध्याता के विपरीत ज्ञान की सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् इस शिवोऽहंभावना से "मैं अणु हूँ", "मैं अल्पज्ञ हूँ" इस प्रकार का उसका विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाता है और ध्याता जीव शिवस्वरूप बन जाता है। इसीलिए इस भावना को आन्तरिक चक्षु कहा गया है। जैसे चक्षुरहित व्यक्ति रूप के साक्षात्कार में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार इस भावना से रहित ज्ञानी भी स्वान्तःस्थित शिव को नहीं देख पाता।

अतः शिवज्ञान के साथ शिवोऽहंभावना की भी आवश्यकता वीरशैव दर्शन में बतायी गयी है। इस "शिवोऽहंभावना" को भावलिंग की अर्चना कहा गया है, (सि०शि० १६.१६-२२)।

शील-सम्पादन

शिवज्ञान, शिवध्यान और शिव की ही प्राप्ति के लिए साधक में रहने वाली उत्कट उत्कण्ठा (प्रबल इच्छा) को "शील" कहते हैं। मन में इस प्रकार की उत्कण्ठा का उदय होना ही "शील-सम्पादन" कहलाता है। जिस साधक के मन में शिव-सम्बन्धी यह प्रबल इच्छा रहती है, उसे "शीलवान्" कहते हैं और वही शिवत्व को प्राप्तकर लेने का उत्तम अधिकारी होता है। जैसे पतिव्रता स्त्री सदा पतिपरायणा रहती है, उसी प्रकार यह शीलवान् सद्भक्त भी शिव की पूजा, ध्यान आदि में ही आसक्त रहता है और वह किसी अन्य देवता की पूजा आदि में अनुरक्त नहीं होता (सि०शि० १३.३०-३७)।

शून्य

वीरशैव मत में "शून्य" शब्द अभाववाचक न होकर एक अव्यक्त एवं सब तत्त्वों के आश्रयभूत पूर्ण तत्त्व का वाचक है। वीरशैव सन्तों ने अपनी वाणियों (वचनशास्त्र) में प्रपंच के प्रकट होने से पहले की शिव की स्थिति को "शून्य" शब्द से संकेतित किया है। इस शून्य को ही कन्नड़ भाषा में "बयलु" कहते हैं। परशिव के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप के तथा अन्य सभी तत्त्वों के भी स्फुरण से पहले की अवस्था को शून्य कहते हैं। वीरशैव सन्त सभी तत्त्वों के आविर्भाव के पहले इस तत्त्व की स्थिति मानते हैं। इस तत्त्व को शून्य इसलिए कहते हैं कि इसमें अभी कारणता नहीं आयी है और यह किसी का कार्य भी नहीं है। यह मन और वाणी का विषय नहीं है। इस प्रकार इस तत्त्व के बारे में किसी प्रकार का व्यवहार न होने के कारण इसे शून्य कहते हैं।

इस शून्य-स्थिति के भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम के भेद से तीन प्रकार कल्पित हैं। इनमें "सर्वशून्यनिरालम्ब स्थिति" सूक्ष्मतम अवस्था है, "शून्यलिंग" सूक्ष्मतर है और "निष्कललिंग" सूक्ष्म है (व०वी०ध०, पृ. १००-१०१; शि०श०को०, पृ. १,१६; वी०ध०त०सि०, पृ. ८९)।

क. सर्वशून्यनिरालम्ब

परशिव की वह सूक्ष्मतम और सहज अवस्था है, जिसका इदमित्थं करके निरूपण नहीं किया जा सकता। यह वह तत्त्व है, जो कि आदि-अनादि, शून्य-

निःशून्य और भेद-अभेद से परे है। इसका आलम्ब आधार दूसरा कोई नहीं है, किन्तु यही सर्वाधार है। अत एव इसे निरालंब कहते हैं। इसीको "निःशून्य वस्तु", "सर्व-वू-शून्यवागि", "निर्बयलु" इत्यादि पर्याय नामों से कहा गया है (व०वी०ध०, पृ. १००-१०१; शि०श०को०, पृ. १६; वी०ध०त०सि०, पृ. ८६)।

ख. शून्यलिंग

यह "सर्वशून्यनिरालम्ब" के बाद की अवस्था है, अतः यह सूक्ष्मतर है। इस समय यह निरालम्ब न होकर शून्यालम्ब होता है। यह भी वाणी, मन तथा भाव का अगोचर ही है। सर्वशून्यनिरालम्ब अवस्था में वह पूर्ण स्वरूप अपने आपमें है। अत एव शून्य का आलम्बन नहीं करता। यह एक अव्यक्त महासंकल्प अवस्था है। उसमें जब संकल्प व्यक्त होता है, तो उसको अपने संकल्प के कारण शून्य को आलंबन बनाना पड़ता है। तब वह सर्वशून्य निरालंब ही शून्यलिंग बन जाता है। यह शून्यलिंग ही एक प्रकार से भावी शुद्ध तत्त्वोत्पत्ति का पूर्वाभास है। इसमें सब कुछ शून्य स्थिति में है (अ०वी०सा०सं० ४.१-१८; व०वी०ध०, पृ. १०१)।

ग. निष्कललिंग

शून्यलिंग के बाद की अवस्था है निष्कल लिंग। इस अवस्था में परशिव सत्-चित्-आनन्द, नित्य-परिपूर्ण और निरञ्जन स्वरूप में रहता है। यह सब तत्त्वों की गर्भावस्था है, अर्थात् निष्कल-लिंग के गर्भ में भावी सभी तत्त्व शून्य रूप छोड़कर सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इस तत्त्व को "निष्कल" इसलिए कहा जाता है कि इसमें सब कलायें अव्यक्त रूप में रहती हैं। दृश्य प्रपंच के कारणीभूत अखण्ड गोलाकार महालिंग की उत्पत्ति का स्थान ही निष्कललिंग है (व०वी०ध०, पृ.१०१; अ०वी०सा०सं० ५.१-२१; शि०श०को०, पृ. १६)।

शून्य-संपादन

शून्य की प्राप्ति या अनुभूति को "शून्य-संपादन" कहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म मूलतत्त्व को, जो न किसी का कार्य है और न वह अभी कारणता को ही प्राप्त हुआ है, ऐसे परमशिव को वीरशैव सन्तों ने "शून्य" कहा है। उसको शून्य इसलिए भी कहा जाता है कि उस अखण्ड तत्त्व को वाणी, मन तथा अशुद्ध बुद्धि

से नहीं जाना जा सकता। उस तत्त्व के विषय में बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियाँ व्यापारशून्य हो जाती हैं। इस प्रकार अशुद्ध मन, बुद्धि आदि के लिए अगोचर होने के कारण उस परमतत्त्व को "शून्य" कहा गया है। मन और वाणी के अगोचर उस तत्त्व को शुद्ध बुद्धि से प्राप्त करना ही शून्य-संपादन कहलाता है।

वीरशैव सन्तसाहित्य में "शून्यसंपादने" नाम का एक कन्नड़ भाषा का ग्रन्थ है। इसमें उस अगोचर शून्य तत्त्व के विषय में उन सन्तों के अमूल्य विचारों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में "प्रभुदेव", "अक्क-महादेवी", "बसवेश्वर", "चन्न बसवेश्वर" आदि प्रमुख वीरशैव सन्तों का, जिन्होंने अपने अहंकार को शून्य करके उस परम शून्य तत्त्व का स्वात्मरूप से अनुभव किया था, परस्पर तात्त्विक संवाद बहुत ही सुन्दर रूप में चित्रित है। यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी के वीरशैव सन्तों के धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन का भी परिचायक है। यह कथात्मक होने पर भी गंभीर विचारों से भरा हुआ है। कथाओं के माध्यम से यहाँ "शून्य" प्रभृति तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। वीरशैव सन्तसाहित्य में यह ग्रन्थ प्रमुख माना जाता है।

इस ग्रन्थ का "शिवगण-प्रसादीमहादेवप्रया", "गुम्मलापूर-सिद्धलिंग-यति", "गुलूरु-सिद्ध वीरणाचार्य" और "केंच-वीरण्णोडये" आदि विद्वानों ने अपनी अपनी पद्धति से संपादन किया है। इन ग्रन्थों का समय १५वीं शताब्दी माना जाता है (वी०त०प्र०, पृ. १५१; व०वी०ध०, पृ. १२९-१३०)।

श्रद्धाभक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "भक्ति" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.२७; शि०श०को०, पृ. ५१)।

षट्स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "अंग स्थल" शब्द देखिए (अनु०सू० २.१०-१३; अनु०सू० ४.४३)।

षट्स्थल-सम्प्रदाय

जीव को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली षट्स्थल प्रक्रिया के प्रतिपादक वीरशैव दर्शन को षट्स्थल-सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय में उपासक अंग

(जीव) के मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने पर क्रमशः भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण तथा ऐक्य नाम की छः अवस्थाओं की प्राप्ति बतायी गयी है (इन अवस्थाओं की परिभाषा ''अंग-स्थल'' शब्द में प्रतिपादित है)। जैसे उपासक जीव की छः अवस्थायें हैं, उसी प्रकार उपास्य लिंग (शिव) की भी आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग, जंगमलिंग, प्रसादलिंग और महालिंग के नाम से छः लीला-अवस्थायें मानी गयी हैं (इन अवस्थाओं की परिभाषा के लिए ''लिंग-स्थल'' शब्द देखिए)।

शिव के इन लीला-विग्रहों की उपासना करता हुआ जीव अपनी उपासना के बल से तथा शिव के अनुग्रह से क्रमशः भक्त, महेश्वर आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ अन्त में ''ऐक्यस्थल'' में महालिंग के साथ समरस हो जाता है। इस छः प्रकार की उपासनाजन्य अवस्थाओं की प्राप्ति के द्वारा उपासक जीव के लिए मोक्षमार्ग के प्रतिपादक इस वीरशैव दर्शन को षट्स्थल-सम्प्रदाय कहा गया है।

सत्याचार

इसकी परिभाषा के लिए ''सप्ताचार'' शब्द देखिए (चं०ब०व० १४१०, पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध०, पृ. २७५)।

सदाचार

इसकी परिभाषा के लिए ''पंचाचार'' शब्द देखिए (चं०ज्ञा०आ०क्रियापाद ९.६, १९-३१)।

सदाशिव

इच्छाशक्ति की अन्तरंग ज्ञानशक्ति से संयुक्त परशिवांश ही उपासकों के अनुग्रहार्थ जिस ध्यानगम्य सूक्ष्म साकार को धारण करता है, उसे ''सदाशिव'' कहते हैं। यह शक्ति का प्रथम उन्मेष है। जैसे जल में भिगोंया गया चना अंकुरित होने की प्रक्रिया में अपनी पूर्व अवस्था से विलक्षण अवस्था को धारण करता है, उसी प्रकार ''शक्तितत्त्व'' का ज्ञानांश के प्राधान्य से होने वाला सृष्ट्युन्मुख ''इदन्ता'' रूप यह प्रथम स्फुरण ही ''सदाशिव-तत्त्व'' है। यह शिव की शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत है (शि०मं०, पृ. ३५)।

यह अपने नाम के अनुरूप उपासकों को सदा मंगल प्रदान करने वाला है। पाँच "सादाख्य" ही इस सदाशिव के पाँच मुख हैं। ये चार दिशाओं में चार और एक ऊर्ध्व में हैं। इनमें "कर्मसादाख्य" पूर्व दिशा का, "कर्तृसादाख्य" दक्षिण दिशा का,."मूर्तसादाख्य" पश्चिम दिशा का, "अमूर्तसादाख्य" उत्तर दिशा का और "शिवसादाख्य" ऊर्ध्व दिशा का मुख कहलाता है। इन्हीं मुखों से शैवतन्त्र के सिद्धान्तागमों की उत्पत्ति होती है। वस्तुत: यह कहा जा सकता है कि "सदाशिव तत्त्व" पाँच सादाख्यों का समष्टि स्वरूप है। अर्थात् "सदाशिव तत्त्व" से ही सादाख्यों का स्फुरण होता है।

सद्भक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "भक्ति" शब्द के अन्तर्गत "श्रद्धाभक्ति" देखिए (अनु०सू० ४.२७; शि०श०को०, पृ. ५१)।

सप्ताचार

क्रियाचार, ज्ञानाचार, भावाचार, सत्याचार, नित्याचार, धर्माचार और सर्वाचार इन सात प्रकार के आचारों को "सप्ताचार" कहा गया है। ये सात आचार अन्तरंग की शुद्धि के साधन माने जाते हैं। वीरशैव सन्तसाहित्य में इनका विवरण इस प्रकार है—

१. क्रियाचार

जैसे क्षुधा, तृष्णा आदि शरीर के स्वाभाविक धर्म होते हैं, उसी प्रकार वीरशैव धर्म में प्रतिपादित स्नान, भस्मधारण, अष्टविध एवं षोडशविध उपचारों से गुरु, लिंग और जंगम की पूजा आदि करना यदि साधक का स्वभाव बन जाता है, तो उसे "क्रियाचार" कहते हैं।

२. ज्ञानाचार

शिवभक्तों एवं शिवज्ञानियों में अनन्य श्रद्धा रखकर उनकी वाणी (वचनशास्त्र) का अध्ययन, उन शिवभक्तों के द्वारा अनुभूत "मैं शिव स्वरूप हूँ" इस शिवानुभव को प्राप्त कर लेना ही "ज्ञानाचार" कहलाता है।

३. भावाचार

अज्ञानावस्था के काम, क्रोध आदि दुर्गुणों के स्वरूप को समझ कर, उन्हें त्यागकर सदा सद्गुणों से युक्त होने से साधक के अन्त:करण में जिस परिशुद्ध भावना का उदय होता है, उसे "भावाचार" कहा गया है।

४. सत्याचार

लेन देन व्यवहार में आशा आदि से युक्त होकर कदापि असत्य न बोलना, दूसरों को देने वाले सदुपदेशों का स्वयं आचरण करना तथा स्वयं किये हुए वादे का प्राणसंकट के प्रसङ्ग में भी परिपालन करना "सत्याचार" कहलाता है।

५. नित्याचार

हठयोग से प्राप्त होने वाली अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों की अभीप्सा न करके सहज रूप से प्राप्त उपभोग्य वस्तुओं को शिव-प्रसाद समझकर उसी से सन्तृप्त होना "नित्याचार" है।

६. धर्माचार

शिव की अर्चना से प्राप्त "पादोदक" (चरणामृत) तथा "प्रसाद" के अतिरिक्त ऐहिक एवं पारलौकिक किसी प्रकार के फल की अपेक्षा न करना ही "धर्माचार" कहलांता है।

७. सर्वाचार

उपर्युक्त सभी आचारों का पालन करते हुए भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण तथा ऐक्य इन छ: साधनाजन्य अवस्थाओं को प्राप्त करके लिंगांग-सामरस्य रूप मोक्ष को प्राप्त करना ही "सर्वाचार" है (च०ब०व० १४१०; पं०प्र०, पृ. ५८-६०; व०वी०ध०, पृ. २७५-२७६)।

समरस भक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "भक्ति" शब्द देखिए (अनु०सू० ४.२५; शि०श०को०, पृ. ५१)।

सर्व वू शून्यवागि

इसकी परिभाषा के लिए "सर्वशून्य निरालम्ब स्थल" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. १६)।

सर्वशून्य निरालम्ब-स्थल

इसकी परिभाषा के लिए "शून्य"-शब्द के अन्तर्गत "सर्व-शून्य-निरालम्ब" शब्द देखिए (व०वी०ध०, पृ. १००-१०१; शि०श०को०, पृ. १६)।

सर्वशून्यवनोळगोण्ड

इसकी परिभाषा के लिए "शून्य" शब्द के अन्तर्गत "सर्वशून्य-निरालम्ब" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. १६)।

सर्वाचार

इसकी परिभाषा के लिए "सप्ताचार" शब्द देखिए (च०ब०व० १४१०; व०वी०ध०, पृ. २७६; पं०प्र० पृ. ५८-६०)।

सहज माट

इसकी परिभाषा के लिए "माट" शब्द देखिए (शि०श०को०, पृ. ८४)।

सहस्रांश

वीरशैव दर्शन में चिच्छक्ति से क्रियाशक्ति पर्यन्त षड्विध शक्तियों की उत्पत्ति को बताते समय चिच्छक्ति के सहस्रांश से पराशक्ति की, पराशक्ति के सहस्रांश से आदिशक्ति की, आदिशक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति की, इसी प्रकार ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति की भी उत्पत्ति बतायी गयी है। यहाँ पर "सहस्रांश" का अर्थ है हजारवाँ भाग, अर्थात् एक पूर्ण वस्तु में समान परिमाण के हजार भाग करने पर, उनमें एक भाग जितना परिमाण का होता है, उसे "सहस्रांश" कहते हैं (वा०शु०तं० १.२४-२६)।

सादाख्य

परशिव जगत्सृष्टि के लिए जब इच्छा करता है, उस समय वह स्वयं "शिवतत्त्व" और "शक्तितत्त्व" बन जाता है। ये दोनों मिलकर आगे उत्पन्न

होने वाली चित् और अचित् सृष्टि के कारण बनते हैं। इन दोनों में से ''शक्ति'' जब अपने ज्ञानांश से ''इदन्ता'' का प्रथम स्फुरण कराती है, तब उसको ''सदाशिव-तत्त्व'' कहते हैं। उसी सदाशिव तत्त्व को ''सादाख्य'' शब्द से सम्बोधित किया गया है (शि०मञ्जरी)। यह सादाख्य सकल (साकार) कहलाता है। सादाख्य का जो सकल स्वरूप है उसका अनुभव सामान्य जनों को नहीं होता, किन्तु योगी, ज्ञानी और मन्त्रोपासना करने वाले उच्चकोटि के साधकों को ही वह होता है। उन्हीं साधकों के पूजा, ध्यान आदि के निमित्त परशिव अपनी ''शक्ति'' से सादाख्य का स्फुरण करता है (वा०शु० तन्त्र १.२८-२९; सू०आ०क्रियापाद १.२३)।

इसी के माध्यम से साधक शुद्ध निष्कल परशिव में समरस होता है। यह ''शिव- सादाख्य'', ''अमूर्तसादाख्य'', ''मूर्तसादाख्य'', ''कर्तृसादाख्य'' और ''कर्मसादाख्य'' के नाम से पाँच प्रकार का होता है (वा०शु०तन्त्र १.३०,३१)। इन पाँच सादाख्यों के पाँच पर्याय हैं। जैसे कि शिव सादाख्य को ''सदाशिव'', अमूर्तसादाख्य को ''ईश'', मूर्तसादाख्य को ''ब्रह्मा'', कर्तृसादाख्य को ''ईश्वर'' और कर्मसादाख्य को ''ईशान'' भी कहते हैं (वा०शु०तु० १.३३-३४; सू०आ०क्रियापाद १.२४-२६)।

क. शिवसादाख्य

परशिव की जो पराशक्ति है, उसको ''शान्त्यतीत कला'' भी कहते हैं। उस परा शक्ति के दशमांश से शिवसादाख्य का प्रादुर्भाव होता है। पराशक्ति से उत्पन्न होने के कारण यह शुद्ध है। आकाश में स्फुरित विद्युत् के समान यह सर्वतोमुख और सूक्ष्म-ज्योति-स्वरूप है। यह विद्युत् वर्ण का है। सभी तत्त्वों के आलयभूत सदाशिव को ''शिव-सादाख्य'' कहा गया है (वा०शु०तं० १.४४-४७; सू०आ०क्रियापाद १.३३)।

ख. अमूर्तसादाख्य

शान्ति कला का पर्यायवाचक जो ''आदिशक्ति'' शब्द है, उस आदिशक्ति के दशमांश से अमूर्तसादाख्य का प्रादुर्भाव होता है। आदिशक्ति के अमूर्त होने के कारण उससे उत्पन्न यह सादाख्य भी अमूर्त कहलाता है। कोटि सूर्य प्रकाश के समान इसका दिव्य तेज है और इसकी आकृति ज्योति के स्तम्भ के समान

है। प्रपञ्च की उत्पत्ति और विलय का स्थान होने के कारण इसको ''मूलस्तम्भ'' और ''दिव्यलिंग'' भी कहा जाता है। इन लक्षणों से युक्त ''ईश'' को ही ''अमूर्तसादाख्य'' कहा गया है (वा०शु०तं० १.४८-५२; सू०आ०क्रियापाद० १.३४-३५)।

ग. मूर्तसादाख्य

इच्छाशक्ति के, जो कि ''विद्याकला'' भी कहलाती है, दशमांश से मूर्तसादाख्य की सृष्टि होती है। इच्छा शक्ति के मूर्त स्वरूप (सूक्ष्म साकार) होने से उससे उत्पन्न यह मूर्तसादाख्य कहलाता है। अग्नि की ज्वाला के समान इसकी आकृति होती है। इसके ऊर्ध्व भाग में एक मनोहर वक्त्र है, जिसमें तीन नेत्र विराजमान हैं। यह सभी अवयवों से संयुक्त है। इसको चार भुजायें हैं। ये चारों हाथ कृष्ण-हरिण, परशु, वरदमुद्रा और अभय मुद्राओं से सुशोभित हैं। इस प्रकार सभी सुलक्षणों से संयुक्त ''ब्रह्मा'' को मूर्त- सादाख्य कहा जाता है (वा०शु०तं० १.५३-५७; सू०आ०क्रियापाद १.३६-३७)।

घ. कर्तृसादाख्य

प्रतिष्ठा कला की पर्यायवाचक जो ज्ञानशक्ति है, उसके दशमांश से ''कर्तृ-सादाख्य'' की उत्पत्ति होती है। ज्ञान शुद्ध स्वरूप है, अत: उससे उत्पन्न यह कर्तृसादाख्य भी शुद्ध स्फटिक की प्रभा के समान प्रतीत होता है। यह भी साकार है। इसके चार सिर, चार मुख, बारह नेत्र, आठ कान, दो चरण और आठ हाथ हैं। इन आठ हाथों में से दाहिनें चार हाथों में क्रमश: त्रिशूल, परशु, खड्ग और अभय मुद्रायें हैं। उसी प्रकार बायें चार हाथों में क्रमश: पाश, नाग, घण्टा और वरद मुद्रायें हैं। इस प्रकार सभी अवयवों से युक्त, सभी आभूषणों से अलंकृत जो ''ईश्वर'' है, उसी को कर्तृसादाख्य कहते हैं (वा०शु०तं० १.५८-६४; सू०आ० क्रियापाद १.३८-४२)।

ङ. कर्मसादाख्य

क्रियाशक्ति के, जो कि निवृत्ति कला भी कहलाती है, दशमांश से कर्मसादाख्य का उदय होता है। क्रिया को ही कर्म कहते हैं, अत: क्रियाशक्ति से उत्पन्न इस सादाख्य को कर्मसादाख्य कहा गया है। सृष्टि और संहार का निमित्त कर्म ही होता है, अत: इन कर्मों के स्वामी को कर्मसादाख्य कहते हैं। इसका

स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—इस सादाख्य को पाँच शिर, पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुख में तीन तीन नेत्र विराजमान हैं। इसकी दस भुजायें और दो पाद हैं, जो कि दोनों कमलों पर विराजित हैं। इसके दाहिने पाँच हाथों में क्रमश: त्रिशूल, परशु, खड्ग, अभय-मुद्रा और वज्रायुध है। बायें पाँच हाथों में क्रमश: नाग, पाश, अङ्कुश, घण्टा तथा अग्नि हैं। इस सादाख्य के दस हाथों के दस प्रकार के चिह्न उसके दशविध उत्कृष्ट गुणों या शक्तियों का द्योतन करते हैं। जैसे कि त्रिशूल से सत्त्व आदि त्रिगुणों का, परशु से शक्ति का, खड्ग से प्रताप का, वज्रायुध से दुर्भेद्य सामर्थ्य का तथा अभय मुद्रा से अनुग्रह शक्ति का द्योतन होता है, इसी प्रकार वाम भाग के हाथों में रहने वाले नाग से विधि, अर्थात् आज्ञा शक्ति का, पाश से मायाशक्ति का, अङ्कुश से विवरण अर्थात् आवरण रहितत्व का (शिव को अपने स्वरूप का आवरण नहीं रहता है), घण्टा से नादशक्ति का एवं अग्नि से संहार सामर्थ्य का द्योतन होता है। इन दस प्रकार के उत्कृष्ट गुणों से युक्त तथा दिव्य गन्ध, दिव्य माला, दिव्य वस्त्रों से अलंकृत जटामुकुटधारी, शान्तस्वरूप और मन्द मुस्कान वाले ''ईशान'' को ही कर्मसादाख्य कहते हैं (वा०शु०तं० १.६५-१०७; सू०आ०क्रियापाद १.४३-५१)।

सुवर्ण-कुण्डल न्याय

सुवर्ण ही एक आकारविशेष को प्राप्त कर ''कुण्डल'', अर्थात् कान का आभरण-विशेष बन जाता है। यहाँ पर स्वर्ण के कुण्डल के आकार में परिणत होने पर भी उसके मूल-स्वरूप स्वर्ण में जैसे कोई विकार नहीं होता, किन्तु कुण्डलावस्था में भी वह पूर्ण स्वर्ण ही रहता है, उसी प्रकार वीरशैव दर्शन में शिव अपने मूल स्वरूप में कोई विकार अथवा स्वरूप की किसी हानि के बिना स्व-स्वातन्त्र्य शक्ति के बल से इस विश्व के रूप में परिणत हो जाता है। इसी को ''सुवर्ण-कुण्डल न्याय'' कहा जाता है।

इसी प्रकार वीरशैव दर्शन में प्रपञ्च मिथ्या नहीं है, किन्तु शिव का ही परिणाम होने से शिवस्वरूप ही है और सत्य है। अत एव इस दर्शन में ''सर्वं लिङ्गमयं जगत्'' कहा गया है। वस्तुत: अद्वैत वेदान्त में जिसे विवर्त कहा जाता है, जिससे कि स्व-स्वरूप की हानि के बिना अन्य-स्वरूप का आपादन होता है, उसी को वीरशैव दर्शन में ''अविकृत-परिणामवाद'' कहते हैं और उसका ''सुवर्ण-कुण्डल न्याय'' के दृष्टान्त से प्रतिपादन करते हैं (श०वि०द०, पृ. २१८)

सूक्ष्मचिदचिद्रूपा शक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "शक्ति-विशिष्टाद्वैत" शब्द को देखिए (शि०द०, पृ. ६-८)।

स्थल

वीरशैव सिद्धान्त में परशिव ब्रह्म को "स्थल" नाम से जाना जाता है। वह एक, अखण्ड और स्वप्रकाश वस्तु है, जिसका आदि और अन्त नहीं है। यह सच्चिदानन्द- स्वरूप विमर्शशक्तिविशिष्ट रहता है। सच्चिदानन्द-स्वरूप का जो बोध है, वही विमर्श- शक्ति कहलाती है। इस बोधरूप शक्ति के अभाव में शिव स्वप्रकाश होने पर भी, रत्न आदि के समान जड़ हो जाता है, अत: इस दर्शन में परशिव को शक्तिविशिष्ट माना गया है। "यत्रादौ स्थीयते विश्वमन्ते यत्र च लीयते। तत् स्थलम्" इस उक्ति के अनुसार सचराचर प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणीभूत इस परशिव का "स्थल" नाम से निर्देश करना सार्थक हो जाता है। स्थल रूपी इस परशिव को जब उपास्य और उपासक रूप से लीला करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परशिव में, शान्त समुद्र के वक्षस्थल पर विपुलाकार तरंगों के उठने के पहले क्षुद्र कम्पन के समान स्पन्द उत्पन्न होता है, जिसे विमर्श शक्ति का क्षोभ कहते हैं। उस क्षोभ से सामरस्य का विभेद होकर शक्तितारतम्य से "अंगस्थल" और "लिंगस्थल" के भेद से स्थल रूपी परशिव दो भागों में विभक्त हो जाता है। इनमें "लिंगस्थल" उपास्य शिव है और अंगस्थल उपासक जीव है (अनु०सू० २.१-१८; श०वि०द०, पृ. १७७; व०वी०चिं०, उत्तरखण्ड २.४१-५९)।

स्थलचिदचिद्रूपा शक्ति

इसकी परिभाषा के लिए "शक्तिविशिष्टाद्वैत" शब्द देखिए (शि०द०, पृ. २२-२३)।

स्वयजंगम

इसकी परिभाषा के लिए "अष्टावरण" शब्द के अन्तर्गत "जंगम" शब्द देखिए (सि०शि० १५.५२-५६; वी०स०सं० १५.१५-२१; वे०वी०चिं० उत्तरखण्ड १२.२०१-२०५)।

हस्त

सुचित्त, सुबुद्धि, निरहंकार, सुमन, सुज्ञान और सद्भाव इन छः प्रकार के शुद्ध अन्तःकरणों को वीरशैव दर्शन में "हस्त" कहा गया है। जैसे बाह्य वस्तुओं के स्पर्श के लिए तथा किसी कार्य को करने के लिए हाथ एक प्रधान माध्यम होता है, उसी प्रकार साधक अपने अन्तरंग आत्मतत्त्व के स्पर्श, अर्थात् ज्ञान के लिए सुचित्त, सुबुद्धि आदि छः शुद्ध अन्तःकरणों को माध्यम (साधन) बनाता है। अतः इन अन्तःकरणों को "हस्त" शब्द से सम्बोधित किया गया है। ये क्रमशः भक्त, महेश्वर आदि षट्स्थल के साधकों के हस्त माने जाते हैं। चित्त जब विषय का चिन्तन छोड़कर शिव का चिन्तन करने लगता है, तो उसे "सुचित्त" कहते हैं। इसे भक्त-स्थल के साधक का हस्त माना जाता है, अर्थात् सुचित्त साधक ही भक्त कहलाता है। शिव के अस्तित्व का निश्चय करने वाली बुद्धि को "सुबुद्धि" कहते हैं। इसे महेश्वर का हस्त माना गया है। इस सुबुद्धि के माध्यम से महेश्वर को शिव के अस्तित्व के सम्बन्ध में होने वाले संशय का निरसन हो जाता है। सर्वत्र अहं-अहं इस भावना को त्यागकर "सर्वं शिवमयम्" इस प्रकार की भावना को "निरहंकार" कहते हैं। इसे "प्रसादी" का हस्त माना गया है। इस निरहंकार-हस्त के माध्यम से यह प्रसादि-स्थल का साधक सुख-दुःख आदि सभी अवस्थाओं में शिव के अनुग्रह का ही दर्शन करता है। चाञ्चल्य रहित मन को "सुमन" कहा जाता है। यह प्राणलिंगी का हस्त है। इसी के माध्यम से यह साधक हृदय में ज्योतिस्वरूप से विराजमान प्राणलिंगी की अर्चना, अर्थात् ध्यान करता है। शिव-स्वरूप के ज्ञान को "सुज्ञान" कहते हैं। यह शरण का हस्त माना गया है। इस सुज्ञान के माध्यम से साधक को शिव का साक्षात्कार होता है। मैं शिवस्वरूप हूँ, इस प्रकार की भावना को "सद्भाव" कहते हैं। यह ऐक्य-स्थल के साधक का हस्त है, अर्थात् यह साधक "शिवोऽहं भावना" के माध्यम से निदिध्यासन करता हुआ स्वयं शिवस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार ये शुद्ध अन्तःकरण शिव की उपासना में साधन बनकर साधक को शिवस्वरूप बनाने में सहायक होते हैं, अतः इन्हें "हस्त" कहा गया है (अनु०सू० ७.४५-५०)।

♦♦♦

तन्त्रागमीय ज्ञानकोश

सिद्धान्त शैवागम

सिद्धान्त शैवागम

अण्ड (चतुर्विध)

पौराणिक साहित्य में चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है। भूलोक से सत्यलोक तक समग्र ऊर्ध्वलोक (पृथ्वी सहित) और नीचे के अधोभुवन पातालादि उसी के अन्तर्गत हैं। पातञ्जल दर्शन के विभूति पाद में जहाँ सूर्य-संयम से भुवनों के ज्ञान के विषय में कहा गया है, वहाँ इन्हीं सब भुवनों से अभिप्राय है। आगमों से यह पता चलता है कि इन सब भुवनों के अतिरिक्त और भी बहुत से भुवन हैं। वास्तव में भुवनों की संख्या अनन्त है। मुख्य-मुख्य भुवनों की भी संख्या कम नहीं है। असल बात यह है कि पुराणों में केवल पृथ्वी तत्त्व के अन्तर्गत भुवनों की गणना है एवं उन भुवनों की समष्टि ब्रह्माण्ड के नाम से वर्णित है। किन्तु आगम-वाङ्मय से पता चलता है कि पृथ्वी तत्त्व के बाहेर भी विश्व का विराट् विस्तार है।

शैव सिद्धान्त में विश्व का विभाजन और विवरण अध्व एवं अण्ड सृष्टि द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इनमें अध्व सृष्टि का वर्णन अध्वा एवं षडध्व शब्द की परिभाषा में किया गया है। अण्ड शब्द का सामान्य अर्थ है आवरण अथवा कोश। प्रत्येक अण्ड में तत्त्व और भुवन हैं। ये चार प्रकार के हैं—शक्त्यण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और पृथ्व्यण्ड। क्रमश: इनका यहाँ विवरण दिया जा रहा है।

शक्त्यण्ड

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय स्वरूप सम्पूर्ण विश्व केवल पराहन्ता का चमत्कार है। अपने स्वरूप को भी छिपा देने वाली शक्ति शैव दर्शन में आत्मख्याति के नाम से प्रसिद्ध है। परमेश्वर की यह निषेधात्मक शक्ति आच्छादक बनकर बन्धन का कारण होती है, तो उसी अवस्था को शक्त्यण्ड के नाम से जाना जाता है। यह शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव इन तीन तत्त्वों से बनती है। इसके गर्भ में मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और पृथ्वण्ड उसी प्रकार छुपे रहते

हैं, जैसे कि बीज में अङ्कुर को उत्पन्न करने वाली शक्ति छिपी है। इसीलिए इसको शक्त्यण्ड कहते हैं। शक्त्यण्ड में केवल शुद्ध सात्त्विक, ज्योतिर्मय भुवनों की स्थिति मानी गई है। इसके अधिष्ठाता सदाशिव तथा ईश्वर हैं।

मायाण्ड

माया से लेकर पुरुष तक मायाण्ड की स्थिति मानी गई है। पंचकंचुक भी इसी अण्ड में समाविष्ट हैं। इस मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड रहते हैं। जैसे एक ही समुद्र के अन्दर असंख्य लहरें या बुद्‌बुद आदि की स्थिति होती है, उसी तरह इनकी भी स्थिति मानी गई है। यह मायाण्ड मायीय, कार्म और आणव नामक तीन मलों के साथ संयुक्त होने के कारण मोह को उत्पन्न करने वाला है, भेद-दृष्टि की सृष्टि करता है और इसीलिए सभी प्राणियों को बन्धन में डालने वाला है। प्रकृत्यण्ड की तरह पृथ्व्यण्ड की भी इसमें बीजावस्था में स्थिति मानी जाती है। गहन नाम से प्रसिद्ध रुद्र इस अण्ड के अधिपति हैं।

प्रकृत्यण्ड

प्रकृत्यण्ड वैसे ही असंख्य हैं, जैसे ब्रह्माण्ड। एक प्रकृत्यण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। जल से लेकर प्रकृति तक के तत्त्वों की समष्टि से प्रकृत्यण्ड बनता है। सत्त्व, रज और तमोगुण वाली प्रकृति कार्यकारणभाव से परिणत होकर पशु प्रमाताओं के लिए सुख, दुःख और मोह स्वभाव के भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करती है और इनको भोगासक्त बना देती है। इस अण्ड के अधिपति महाविभूतिसंपन्न भेददृष्टिप्रधान भगवान् विष्णु हैं।

पृथिव्यण्ड

मनुष्य से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी परिमित प्रमाताओं के स्वरूप को पूरी तरह से ढ़क देने वाला अन्तिम अण्ड पृथिव्यण्ड है। अन्य शास्त्रों में यह ब्रह्माण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। सांख्यतत्त्वकौमुदी की ५३वीं कारिका में चौदह प्रकार के सर्ग का उल्लेख मिलता है। इनके नाम ये हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच, ऐन्द्र, पैत्र, पशु, मृग, पक्षि, सरीसृप, स्थावर एवं मानुष। इस चतुर्दशविध भूतसर्ग की स्थिति इसी पृथिव्यण्ड अथवा ब्रह्माण्ड में मानी जाती है। इस ब्रह्माण्ड या पृथिव्यण्ड के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं।

इस प्रकार यह चतुर्विध अण्ड परमेश्वर का विलासमात्र है। स्वयं भगवान् शिव लीलामात्र प्रयोजन के लिए इनको प्रकाशित करते हैं (परमार्थसार, पृ. १०-१२; तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ. १५३)।

अद्वैत

शैव सिद्धान्त में अद्वैत पद सम्बन्धवाची है। यह द्वैत का निषेध नहीं करता। मुक्ति दशा में जीवात्मा केवल शिवगुणों को प्राप्त करता है। इस अवस्था में मल के क्षीण होने से साधक अपने जीवभाव को भूल ही जाता है और उसकी अन्तर्दृष्टि में एकमात्र शिवभाव ही शेष रहता है। शिव और जीव की ऐसी स्थिति को ही शैव सिद्धान्त में अद्वैत सम्बन्ध कहा जाता है। जीव और शिव का सम्बन्ध अद्वैत सम्बन्ध है। जीव और शिव दोनों बराबर होकर ऐक्य अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह सिद्धान्त वीरशैव मत में भी स्वीकृत है।

सिद्धान्तवादी कहते हैं कि आत्मा का नेत्र और सूर्य की भाँति अद्वैत सम्बन्ध है। छान्दोग्य श्रुति के अनुसार (६.२.१) अद्वैत शब्द का अर्थ 'न द्वयम् अद्वयम्' है, अर्थात् दो नहीं है। इस प्रकार यहाँ इसे निषेधात्मक नहीं माना जाता, क्योंकि अभावार्थ, सादृश्यार्थ, विरोधार्थ और अन्यार्थ—इन चार अर्थों में नञ् शब्द का प्रयोग होता है। शङ्कर, रामानुज आदि नञ् शब्द को अभावार्थक मानते हैं। ईश्वर आत्मा से अभिन्न है, इस अर्थ में अद्वैत शब्द का प्रयोग मानते हैं, किन्तु सिद्धान्त शैववादी अभिन्नार्थक मानते हैं। इस अभिन्न सम्बन्ध को दृढ करने के लिए ही अद्वैत शब्द का यहाँ प्रयोग किया जाता है। आत्मा शरीर से भिन्न होने पर तदात्मक बन जाता है। इसी प्रकार आत्मा अनीश्वर होने पर भी ईश्वर से अभिन्न हो जाता है। अत एव ईश्वर और आत्मा का द्वय और अद्वय सम्बन्ध युगपत् है। सिद्धान्ती मुक्ति की अवस्था में भी द्वैत स्वीकार करता है। अतः यहाँ अद्वैत शब्द विशिष्ट अर्थ में दोनों के सम्बन्ध को बताने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है (स्पेशल लेक्चर्स ऑन शैव सिद्धान्त, पृ. ३०९; शैव सिद्धान्त फिलासफी, (पाईट), पृ. ६०-६१)।

अधिकार-मुक्त

जब अणु-तत्त्व क्रम से अशुद्ध अध्वा को लाँघ कर शुद्ध अध्वा में प्रवेश करते हैं, तब वे अधिकारी कहलाते हैं। शुद्धविद्या से लेकर शिव तत्त्व तक,

अर्थात् विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव—ये शुद्ध तत्त्व हैं। इनमें रहने वाले भुवन शुद्ध भुवन कहलाते हैं। इनमें पक्वमल विज्ञानाकल अणु ही प्रवेश पा सकते हैं। जब वे शुद्धविद्या में प्रवेश करते हैं, तो मन्त्र कहलाते हैं। जब ईश्वर तत्त्व में प्रवेश पाते हैं, तो ये मन्त्रेश्वर नाम से जाने जाते हैं। जब सदाशिव से शिव तक इनका प्रवेश होता है, तो इनको मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है। इन सबको निम्न भुवनों पर शासन करने का अधिकार है, क्योंकि इनमें **भोगवासना** और **लयवासना** रहती है। जब इनको शिवानुग्रह से शिवज्ञान की प्राप्ति होती है, जब इनका सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व अपनी आत्मा में लीन हो जाता है, तब ये अधिकार मल से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार के जीवों को अधिकार-मुक्त कहा जाता है (रत्नत्रय, पृ. ९४-९६)।

अधिकारी

संसार-चक्र को चलाने के काम में जो प्राणी शिव की इच्छा का अनुसरण करते हैं, वे अधिकारी कहलाते हैं। पञ्चमुख स्वच्छन्दनाथ शिव और अनन्त आदि विद्येश्वर ये सभी अधिकारी हैं। वस्तुतः मुख्य अधिकारी वे ही हैं। इनके अतिरिक्त जो सर्वज्ञत्व आदि ईश्वर के गुणों से संपन्न हैं, साक्षात् अथवा परम्परा से जिनको आगम सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो मल-परिपाक के पूर्ण हो जाने पर भी अधिकार मल से समन्वित हैं तथा जिनको भगवान् शिव ने अनुग्रह कर पशु-प्रमाताओं पर शासन करने के अधिकार से दीक्षित कर दिया है, ऐसे मन्त्र-महेश्वर आदि भी अधिकारी कहलाते हैं। अभिषेक दीक्षा से दीक्षित ये अधिकारी अपर-पति अथवा आत्म-शिवाचार्य कहलाते हैं। इनमें ११८ मण्डलेश्वर कला से पृथ्वी तत्त्व तक अधिष्ठित हैं। अनन्तादि द्वारा परम्परा से अनुगृहीत श्रीकण्ठ प्रभृति असख्य रुद्र ब्रह्माण्डाधिपति बनते हैं। ये सकलावस्था में अधिकारी हैं। इनमें से कुछ अन्य देवताओं पर अनुग्रह करते हैं और इन देवताओं से कुछ मनुष्यों पर अनुग्रह करते हैं। रुद्र आदि को सकल अवस्था में चार प्रकार के शक्तिपात के अनुसार अनुग्रह और अधिकार प्राप्त होता है। उसी क्रम से उनको मुक्ति-लाभ भी मिलता है। ये अधिकारी पक्व मलाधिकारी और अपक्व मलाधिकारी के भेद से पुनः दो प्रकार के होते हैं। इनको क्रम से शुद्ध और अशुद्ध भोग के अनुसार संसार में नियोजित किया जाता है। शुद्ध आत्मा को साक्षात् अधिकारी शिव अधिकार-संपन्न बनाते हैं और शुद्ध-

अशुद्ध आत्माओं को अनन्त आदि के द्वारा अधिकार का अवसर प्राप्त होता है (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २०-२१)।

अध्वा

यह शब्द सृष्टि के विस्तार को समझाने में सहायक है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों में सृष्टि का विश्लेषण इस शब्द के अन्तर्गत किया गया है। अध्व शब्द की व्युत्पत्ति तन्त्रालोक के (६.३०) व्याख्याकार जयरथ इस प्रकार कहते हैं—'अद्यत इति अध्वा' अर्थात् जो भक्षण करता है, वह अध्वा है। स्पष्ट अर्थ यह है कि यहाँ संविद् रूपी शक्ति का पूरा संकोच हो जाता है। शून्य से पृथिवी पर्यन्त समस्त विश्व वाच्य और वाचक रूप में स्थित है। पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप में यह क्रमशः वर्ण, मन्त्र और पद इन नामों से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वाच्य अध्वा में भी तीन भेद हैं। इन्हें क्रमशः कला, तत्त्व और भुवन कहते हैं। वर्ण परा अवस्था में रहने के कारण विश्व का अभेद रूप में विमर्श करता है। मन्त्र सूक्ष्म अवस्था का होने के कारण विश्व का भेदाभेद रूप में विमर्श करता है। अध्वा की संख्या छः होती है, अतः इनको षडध्व कहते हैं। कला, तत्त्व और भुवनों के विभाजन के अनुसार शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध अध्वा के रूप में भी इसको विभाजित किया जाता है।

पाँच कला, छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौबीस भुवन, पचास वर्ण, एकादश मन्त्र और पद इक्यासी हैं। शैव सिद्धान्त ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है। इनमें कला, तत्त्व और मन्त्र की यहाँ स्वतन्त्र परिभाषाएँ दी गई हैं। यहाँ संक्षेप में वर्ण, पद और भुवनाध्वा का विवेचन किया जायगा (भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. २८५; तन्त्रालोक, ६, ५-७; रत्नत्रय, पृ.३६-४४)।

वर्णाध्वा

वर्णों की प्रमारूपता स्वीकार की गई है। प्रमा का अर्थ है—अनवच्छिन्न रूप से सहज परामर्शरूपता। यह प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती। यह स्वयं स्फुरित शक्ति है। वर्ण मायिक और अमायिक भेद से दो प्रकार के हैं। अमायिक वर्णों में शक्ति है। ये संकेत- निरपेक्ष हैं और संवित् का विमर्श करते हैं। वर्णों के बिना न पद है और न मन्त्र बन सकते हैं। इनकी संख्या पचास है। अकार

से लेकर क्षकार तक पचास वर्णों को ही मातृका की संज्ञा भी दी जाती है। शैव सिद्धान्त के ग्रन्थों में तत्त्वों के अन्तर्गत वर्णों का विभाजन इस प्रकार किया गया है— शिव और शक्ति तत्त्व में १६ स्वर वर्ण हैं। सदाशिव में ककार, ईश्वर में ख, विद्या में ग, माया में घ, काल में ङ, नियति में च, कला में छ, अशुद्धविद्या में ज, राग में झ, पुरुष में ञ, अव्यक्त में ट, बुद्धि में ठ, अहंकार में ड, मन में ढ, पाँच ज्ञानेन्द्रियों में—ण, प, फ, ब, भ, पंच कर्मेन्द्रियों में— म, य, र, ल, व, पंच तन्मात्राओं में तवर्ग, पंच भूतों में श, ष, स, ह और क्ष हैं (तत्त्वप्रकाशिका, पृ. ७३-१२४; पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ. ६, श्लो. ४६; मालिनीविजय, पृ. ३, श्लो. १०-१५)।

पदाध्वा

जिससे जाना जाता है, वह पद कहलाता है। यह प्रमाणरूप, विकल्परूप और संजल्परूप है। वर्णों के संघट्ट से पद बनता है। पद अर्धमात्रा काल में वर्णों को संकलित कर लेता है। यह परामर्शरूप है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में इनकी संख्या ८१ बताई गई है। तदनुसार इनका विवरण इस प्रकार है—

शान्त्यतीत कला में केवल ॐकार एक पद है।

शान्ति कला में— (१) नित्ययोगी, (२) योगपीठसंस्थ, (३) शाश्वत, (४) ध्रुव, (५) अनाश्रित, (६) अनाथ, (७) अनन्त, (८) शिव, (९) सर्वव्यापी, (१०) व्योमरूप, (११) व्योमव्यापी नामक ११ पद हैं।

विद्या कला में— (१) व्यापिन्, (२) व्योमिन्, (३) अचेतनाचेतन, (४) महेश्वर, (५) ज्योतिरूप, (६) सर्वयोगाधिप, (७) सर्वविद्याधिकृत, (८) अनिधन, (९) गोप्ता, (१०) गुह्यातिगुह्य, (११) ॐ नमो नमः, (१२) सद्योजात, (१३) वामदेव, (१४) अघोर, (१५) तत्पुरुष, (१६) ईशान, (१७) शिव, (१८) सर्वप्रभु, (१९) ॐनमः शिवाय, (२०) ध्यानहार—ये २० पद हैं।

प्रतिष्ठा कला में — (१) महेश्वर, (२) परमात्मा, (३) शर्व, (४) शिव, (५) निधनोद्भव, (६) निधन, (७) अनिधन, (८) ॐस्वः, (९) ॐभुवः, (१०) ॐभूः, (११) धू धू धू, (१२) नानाना, (१३) अनादि, (१४) अभस्म, (१५) अधूम, (१६) अनग्ने, (१७) अरूप, (१८) ज्योति ज्योति, (१९) तेज तेज, (२०) प्रमथ प्रमथ, (२१) अरूपि अरूपि नामक २१ पद हैं।

निवृत्ति कला में— (१) ॐ नमो नमः, (२) शिवाय, (३) ॐ नमोनमः, (४) सर्वद, (५) शर्व, (६) शिव, (७) सूक्ष्म सूक्ष्म, (८) शब्द शब्द, (९) पिङ्ग पिङ्ग, (१०) पतङ्ग पतङ्ग, (११) तुरु तुरु, (१२) साक्षिन् साक्षिन्, (१३) पूर्वस्थित, (१४) असंस्तुत, (१५) संस्तुत, (१६) अनर्चितानर्चित, (१७) ब्रह्मविष्णुरुद्रपर, (१८) सर्वसान्निध्यकर, (१९) सर्वभूतसुखप्रद, (२०) भवोद्भव, (२१) भव भव, (२२) सर्व सर्व, (२३) प्रथम प्रथम, (२४) मुञ्ज मुञ्ज, (२५) योगाधिपति, (२६) महातेज, (२७) सद्भावेश्वर, (२८) महादेव— ये २८ पद हैं।

इस प्रकार शान्त्यातीत कला में एक, शान्ति कला में ग्यारह, विद्या कला में बीस, प्रतिष्ठा कला में इक्कीस और निवृत्ति कला में अट्ठाईस—कुल मिलाकर ८१ पद हैं (ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, भा० ३, पृ. १८, १६६-१७०)।

भुवनाध्वा

यह छः अंध्वों में एक है। शहद के छत्ते में जैसे अनेक कोटर होते हैं, उसी तरह इस विश्व में अनन्त भुवन विद्यमान हैं, अनन्त रत्नों के सदृश, पुरुषाकार, पर्वत, गज, त्रिशूल, बांसुरी, विमान, मछली आदि के समान इन भुवनों की आकृतियाँ हैं। प्रत्येक तत्त्व में भिन्न-भिन्न संख्या में भुवनों की स्थिति है। इनमें व्याप्यव्यापकभाव रूपी सम्बन्ध है। इनमें सृष्टि और संहार के तारतम्य से क्रम-वैचित्र्य दिखाई देता है। प्रत्येक भुवन का अपना अधिष्ठातृ देवता है। इनका साक्षात्कार आगमविद् योगिगण करते हैं।

शान्त्यतीत कला में— (१) अनाश्रित, (२) अनाथ, (३) अनन्त, (४) व्योमरूपिणी, (५) व्यापिनी, (६) ऊर्ध्वगामिनी, (७) मोचिका, (८) रोचिका, (९) दीपिका, (१०) इन्धिका, (११) शान्त्यतीता, (१२) शान्ति, (१३) विद्या, (१४) प्रतिष्ठा, (१५) निवृत्ति—कुल पन्द्रह भुवन हैं।

शान्ति कला में— (१) सदाशिव, (२) शिखण्डी, (३) श्रीकण्ठ, (४) त्रिमूर्ति, (५) एकरुद्र, (६) एकनेत्र, (७) शिवोत्तम, (८) सूक्ष्म, (९) अनन्त, (१०) मनोन्मनी, (११) सर्वभूतदमनी, (१२) बलप्रमथिनी, (१३) बलविकरणी, (१४) कलविकरिणी, (१५) काली, (१६) रौद्री, (१७) ज्येष्ठा, (१८) वामा—ये कुल अठारह भुवन हैं।

विद्या कला में— (१) अङ्गुष्ठमात्र, (२) ईशान, (३) एकेक्षण, (४) एकपिङ्गल, (५) ऊर्ध्व, (६) भव, (७) वामदेव, (८) महाद्युति, (९) शिखेश, (१०) एकवीर, (११) पञ्चान्तक, (१२) सौर, (१३) पिङ्ग, (१४) ज्योति, (१५) संवर्त, (१६) क्रोध, (१७) एकरुद्र, (१८) अनन्त, (१९) अज, (२०) उमापति, (२१) प्रचण्ड, (२२) एकवीर, (२३) ईशान, (२४) भव, (२५) उग्र, (२६) भीम और (२७) वाम—ये कुल २७ भुवन हैं।

प्रतिष्ठा कला में— (१) श्रीकण्ठ, (२) औम, (३) कौमार, (४) वैष्णव, (५) ब्राह्म, (६) भैरव, (७) कर्तृ, (८) अकर्तृ, (९) ब्राह्म, (१०) प्राजेश, (११) सौम्य, (१२) ऐन्द्र, (१३) गान्धर्व, (१४) याक्ष, (१५) राक्षस, (१६) पैशाच, (१७) स्थूलेश्वर, (१८) शङ्कुकर्ण, (१९) कालंजर, (२०) मण्डलेश्वर, (२१) माकोट, (२२) दारुवन, (२३) द्विरण्ड, (२४) छगलण्ड, (२५) स्थाणु, (२६) स्वर्णाक्ष, (२७) भद्रकर्ण, (२८) गोकर्ण, (२९) महालय, (३०) अविमुक्त, (३१) रुद्रकोटि, (३२) वस्त्रापद, (३३) भीमेश्वर, (३४) महेन्द्र, (३५) अट्टहास, (३६) विमलेश, (३७) कनखल, (३८) नोखल, (३९) कुरुक्षेत्र, (४०) गया, (४१) भैरव, (४२) केदार, (४३) महाकाल, (४४) मध्यमेश, (४५) आम्रातक, (४६) जल्पीश, (४७) श्रीशैल, (४८) हरिश्चन्द्र, (४९) लकुलीश, (४९) भारभूति, (५०) दिण्डी, (५१) मुण्डी, (५२) विधि, (५३) पुष्कर, (५४) नैमिष, (५५) प्रभास, (५६) अमरेश—कुल छप्पन भुवन हैं।

निवृत्ति कला में— भद्रकाली से लेकर कालाग्निरुद्र पर्यन्त एक सौ आठ भुवन हैं। इनका विवरण ईशानशिवगुरुदेवपद्धति आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए। इस प्रकार शान्त्यतीत कला में १५, शान्ति कला में १८, विद्या कला में २७, प्रतिष्ठा कला में ५६ और निवृत्ति कला में १०८—कुल २२४ भुवन हैं (शैवपरिभाषा, पृ. १३७-१३८; तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. १-३९)।

शुद्धाध्वा

"शुद्धाध्वा के कर्ता शिव हैं" इस आगम-वाक्य के अनुसार शुद्धाध्वा की सृष्टि शिव करते हैं। वस्तुतः अङ्कुर-स्वरूप में स्थित शक्ति शनैः शनैः कला, तत्त्व और भुवन रूप में सृष्ट होती है। सृष्टि शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की है। शिव शुद्ध तत्त्व और भुवनों को उत्पन्न करके विद्येश्वरादि को बैन्दव शरीर में योजित करते हैं।

शुद्ध सृष्टि में बिन्दु से नाद का और नाद से शुद्धविद्या का क्रमश: आविर्भाव होता है। पति नित्यशुद्ध, अपरिमित ज्ञान और क्रिया शक्ति से युक्त तथा शरीररहित होने पर भी शुद्ध सृष्टि का कारण है।

जब परिमित आत्मा का किसी शरीर से सम्बन्ध होता है, उस समय उसको निमित्तभूत शरीर कहते हैं। इस शरीर से तादात्म्य के कारण उसमें सविकल्पक एवं वस्तुविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रकार का शिव का स्वभाव नहीं है। वह निर्विकल्पक सृष्टि का कारण है। निर्विकल्पक सृष्टि के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं पड़ती। शिव के सर्वसमर्थ होने के कारण वह निर्विकल्पक ज्ञान के ऊपर की सृष्टि करता है। यह शुद्ध सृष्टि है। शिव इस सृष्टि का कर्ता है। वह उसके बन्धन में नहीं पड़ता। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक स्वयं इन्द्रजाल का निर्माण करने पर भी उससे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार शिव स्वयं निर्लिप्त रहता है।

अशुद्धाध्वा

माया से लेकर प्रकृति तक शुद्धाशुद्ध सृष्टि होती है। इसको मिश्राध्वा भी कहते हैं। प्रकृति से पृथ्वी तक की सृष्टि अशुद्ध सृष्टि है। इस प्रकार शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध सृष्टि तत्त्वों के कारण विभाजित की जाती है। शुद्ध सृष्टि में चिदंश की प्रधानता रहती है, शुद्धाशुद्ध सृष्टि में दोनों का मिश्रण और अशुद्ध सृष्टि में जड़ तत्त्व की प्रधानता होती है। यह सारी जागतिक स्थूल सृष्टि अशुद्ध अध्वा में समाविष्ट है।

अध्वशोधन

दीक्षा के समय गुरु शिष्य के षडध्व की शुद्धि करके मन्त्रोपदेश करता है। षडध्व- शुद्धि अथवा अध्वशुद्धि दीक्षा संस्कार का एक अवान्तर व्यापार है, जो कि आचार्य द्वारा संपन्न किया जाता है। शुद्ध संस्कारों के अनुगुण छ: प्रकार की दीक्षा मानी जाती है। जैसे कि कला दीक्षा, तत्त्व दीक्षा, भुवन दीक्षा, वर्ण दीक्षा, मन्त्र दीक्षा और पद दीक्षा।

गुरु शिष्य के पशुभाव को दूर करने के लिए पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति से समाविष्ट होकर अपने हृदय में उस शक्ति को परमार्थ रूप से स्फुरित करके समग्र अध्वा को, उसके संकोच को निवृत्त करके, अनवच्छिन्न चिति शक्ति के

स्फुरण के रूप में प्रदर्शित करते हुए दीक्षा एवं ज्ञानादि द्वारा शोधित करता है। अत एव जो मन्त्र आदि गुरु के स्फुरणरूप हैं, वे शोधक हैं और जो पशु आत्मा में अभिनिविष्ट हैं, वे शोधनीय हैं। मन्त्र आदि में इस प्रकार शोध्यशोधक भाव है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. २८५-२८६; मृगेन्द्रागम, क्रियापाद, पृ. १७३-१७४)।

अनुस्रोतस्

मुख्य स्रोतों का अनुसरण करने वाले अनुस्रोतस् कहलाते हैं। ये आठ प्रकार के हैं—शैव, मान्त्रेश्वर, गाणपत्य, दिव्य, आर्ष, गौह्यक, योगिनीकौल और सिद्धकौल। सृष्टि के प्रारंभ में शिव की आज्ञामात्र से आविर्भूत संशयरहित अखण्ड ज्ञानशक्ति ही शैव ज्ञान कहलाती है। ईशान, अर्थात् मन्त्रेश्वरों, गण-देवताओं, सामान्य देवताओं, ऋषि- मुनियों के द्वारा शिव की ही इच्छा के अनुसार जिस ज्ञान का विस्तार किया जाता है, वह क्रमशः मान्त्रेश्वर, गाणपत्य, दिव्य और आर्ष के नाम से प्रसिद्ध है। गुह्यक शब्द भुजग, यक्ष और दानवों का भी ग्राहक है। इनके द्वारा भगवान् शिव की प्रेरणा से जो ज्ञान का विस्तार होता है, वह गौह्यक के नाम से प्रसिद्ध है। शिव की प्रेरणा से योगावधान में तत्क्षण जो ज्ञान योगिनियों को प्राप्त होता है, उसको योगिनीकौल ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान इन योगिनियों के पास ही रहता है। इसी प्रकार सिद्धों को अपने योगाभ्यास के क्षण में जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह सिद्धकौल ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान भी केवल सिद्धों के पास ही रहता है (मृगेन्द्रागम, चर्यापाद, पृ. २१९-२२१)।

अभिषेक

आगमशास्त्र में दीक्षा के विधान के साथ अभिषेक का भी विधान मिलता है। मृगेन्द्रागम के क्रियापाद के अष्टम पटल में अभिषेक क्रिया का विशेष विवरण दिया गया है।

उच्च कुल प्रसूत, श्रद्धा, दया आदि सद्गुण-सम्पन्न तथा शैवागमों के अध्ययन के फलस्वरूप जिसका संशय नष्ट हुआ है और सिद्धियों को गुप्त रखने वाला जो शिष्य इस प्रकार के गुणों से संपन्न है, उसी को गुरु आचार्य दीक्षा देकर शिष्य का विशेष प्रकार का अभिषेक करता है। अभिषेक का विधान इस प्रकार है—

शुभ दिन और शुभ नक्षत्र को देखकर गुरु शिव की पूजा करके पाँच कुम्भ रखता है। इन कुम्भों में ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी और ज्योतिष्मती आदि औषधियों; पुष्पराग, माणिक्य, हीरा आदि नवरत्न; हरिताल, चन्दन, अगुरु इत्यादि सुगन्धित द्रव्य आदि को डालने का विधान है। इन पाँचों कुम्भों में सद्योजातादि पाँच ब्रह्म-मन्त्रों के द्वारा देवताओं को आमन्त्रित करना होता है। इन पाँचों कुम्भों को रेशम के वस्त्र से आच्छादित तथा सूत्र, यज्ञोपवीत, पल्लव आदि से सुशोभित करके चन्दन, अगुरु और कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करना होता है। ईशान दिशा में सुन्दर पीठ निर्माण करके उस पर शिष्य को बिठाना होता है।

आचार्याभिषिक्त गुरु शिवभाव में प्रविष्ट कराकर स्वयं सुषुम्ना में प्रवेश करके शिव- मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुम्भों में शिवभावना करते हुए पाँचों कुम्भों से शिष्य का अभिषेक करता है। अभिषेक की यही प्रक्रिया है (मृगेन्द्रागम, क्रिया०, पृ. १८८)।

अवसर

अधिकारी पद की परिभाषा के अन्त में अधिकारावसर की चर्चा आई है। इसके साथ भोगावसर और लयावसर के मिलाने से अवसर तीन प्रकार के होते हैं। शैव सिद्धान्त शास्त्र में तत्त्व, अध्वा और अवस्था शब्दों में भी इन अवसरों का विवेचन किया गया है। मतङ्गपारमेश्वर आगम में तृतीय तथा चतुर्थ पटलों में इनका त्रिविध तत्त्व के रूप में विवरण प्रस्तुत किया गया है। जब कि रत्नत्रय में इनका त्रिविध अवस्था के रूप में वर्णन मिलता है। इन्हीं तीनों तत्त्वों का अथवा अवस्थाओं का शैवसिद्धान्तपरिभाषा में त्रिविध अवसर के नाम से विवेचन मिलता है। उक्त ग्रन्थों के आधार पर यहाँ संक्षेप में इन त्रिविध अवसरों की परिभाषा प्रस्तुत की जा रही है।

अधिकारावसर

पक्वमल और अपक्वमल अणु-वर्गों में क्रम से मोक्ष और भोग की निष्पत्ति के लिए शिव सृष्टि आदि कार्य करते हैं। इन अणुओं के लिए बिन्दु और माया से उत्पादित तनु, करण, भुवनों से सम्बन्ध उत्पन्न करना ही **सृष्टि** है। इन सबका भोग-काल ही **स्थिति** है। इन सबका नियोजन-काल ही **संहार** है। इन सब भोगों में हेयता का ज्ञान न होना ही **तिरोधान** कहलाता है। इनमें ज्ञानोत्पादन

द्वारा स्वातन्त्र्य का बोध करा देना **अनुग्रह** कहलाता है। अनादिमुक्त ईश्वर का यह पंचकृत्यात्मक व्यापार शुद्ध प्राणियों के लिए साक्षात् प्रवृत्त रहता है और अशुद्ध जीवों के लिए अनन्त आदि परम्परा से यह प्रवृत्त होता है। इसको अधिकारावसर कहा जाता है। स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न ईश्वर ईशान आदि पाँच शक्तियों के द्वारा सदाशिव, ईश्वर और विद्यातत्त्व स्थित अणुओं को परोपकार करने का अधिकार प्रदान करते हैं, वही अधिकार तत्त्व है (रत्नत्रय, पृ. ९५; मतङ्गवृत्ति, पृ. ७८-८०; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २०-२१)।

भोगावसर

जिन अणुओं में अपने उच्च अधिकार से उत्तीर्ण शिव, शक्ति और सदाशिव तत्त्वाश्रित और केवल शुद्ध माया में भोग की लालसा रह गई है, वे भोगावसर में रहने वाले अणु हैं। आगमशास्त्र में इनको आत्मशिव कहते हैं। अधिकारावसर और भोगावसर में रहने वाले जीव ईश्वर की आराधना करते हैं।

इन अणुओं की भोग-लालसा महामाया के कारण होती है। जो अशुद्धाणु बुद्धि में तादात्म्य कर सुख की कामना करते हैं और जो इन कामनाओं के कारण विषयों में आसक्त होते हैं, उनकी यह विषयासक्त अवस्था भोगावस्था कहलाती है। इस अवसर को भोगतत्त्व इसलिए कहा जाता है कि यह पति का स्वरूप है, वह बिन्दु-तत्त्वमय है। यह सकल और निष्कल है और विश्व के समस्त भोग इसीमें समुद्दिष्ट हैं। यह बैन्दवात्मक शुद्ध शरीर को उत्पन्न करके भोग का कारण बनता है (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २१; रत्नत्रय, पृ. ९६; मतङ्गपारमेश्वरवृत्ति, पृ. ९६)।

लयावसर

आत्मशिव का सन्निधिकारी परशिव है, इसको भोगी भी कहते हैं। परशिव ही आत्मशिव के रूप में अपना भोग भोगने के कारण, कालान्तर में भोग से छुटकारा पाने के कारण, अत्यन्त परिपूर्ण स्व-स्वरूप को पाने के कारण लयावस्था को प्राप्त कर लेता है। यह लयावस्था अथवा लयावसर दूसरी दृष्टि से परमोक्ष प्रदान करनेवाली अवस्था है। चिद्रूपी समुद्र में शिवानुग्रह प्राप्त, परिणत मल वाले कुछ अणु अपनी आत्मा में लीन हो जाते हैं। ये अणु शिवसाम्य को प्राप्त कर लेते हैं। यही लयावस्था है।

पति वस्तुत: ज्ञानक्रिया-युक्त है। उसी में सदा सृष्टि और लय होता रहता है। पति की शक्ति कार्यविरत होने पर लयतत्त्व को प्राप्त कर लेती है, यह निष्कल तत्त्व ही लयतत्त्व है। वस्तुत: शैव सिद्धान्त में अधिकार, भोग और लय शिव के, शक्ति के कार्य की दृष्टि से तत्त्व कहलाते हैं। शुद्ध बैन्दव शरीर युक्त अणु जब अपने को इस अवसर में पाते हैं, तब इनको इन अवसरों में नामाङ्कित किया जाता है। ये इस स्थिति का लाभ उठाते हैं। अत: इस स्थिति को अवसर कहा जाता है। जब ये अणु इन अवस्थाओं में रहकर कुछ अनुभव करते हैं, तब इनको अवस्था के अन्तर्गत गिना जाता है। यह एक होने पर भी दृष्टिकोण के भेद से अलग अलग प्रतीत होते हैं। अत एव तीनों ग्रन्थकार अपनी-अपनी दृष्टि से इनको प्रस्तुत करते हैं (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २१; रत्नत्रय, पृ. ९६; मतङ्गपारमेश्वर, पृ. ६४-६९)।

अवस्था

शैवपरिभाषा में आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन है—१. सकलावस्था, २. केवलावस्था और ३. शुद्धावस्था। आत्मा, प्राण और अन्त:करण के बिना अभिव्यंजक सामर्थ्य के न रहने के कारण केवल आणव मल से युक्त होने से जिसकी संकल्प, ज्ञान और क्रियाशक्ति आवृत हो जाती है और वह कुछ न जानने वाली स्थिति में रहता है, तो उसको केवलावस्था कहते हैं। इसे प्राणी की सुषुप्ति अवस्था भी कहते हैं। जब आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से युक्त होता है, तो इसको सकलावस्था का आत्मा कहा जाता है। यह अवस्था जाग्रत् और स्वप्न दशाओं में अभिव्यक्त होती है। जब कर्मसाम्य हो जाता है और उसके अनुपात से शक्तिपात हो जाता है, तब आत्मा गुरुकृपा के कारण मलत्रय से निवृत्त हो जाता है और उसमें शिवैक्य की अभिव्यक्ति होती है, तब इस प्रकार की अवस्था को शुद्धावस्था कहते हैं। यह शुद्धावस्था तुर्यादशा में अभिव्यक्त होती है। तुर्यातीत पद पर तो स्वयं शिव ही स्थित हैं। इन्हीं अवस्थाओं के संदर्भ में कहना यह है कि सकलावस्था से केवलावस्था की प्राप्ति तक पाँच प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। इनके नाम ये हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत।

जाग्रत्

नाद से लेकर पृथ्वी तक ३६ तत्त्वों के साथ जब आत्मा भाग्य के अनुसार सब प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, तब इस अवस्था को **सप्रतिभा जाग्रत्** अवस्था कहते हैं। इसीको सकलावस्था भी कहते हैं। विषय सुख का अदृष्ट न रहने के कारण प्रेरकरूपी शुद्ध पञ्चतत्त्व, भोजयितृ स्वरूप सात तत्त्व, पञ्चमहाभूत—इन १७ तत्त्वों में उपरति होने के कारण तथा वागादि पाँच, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार तत्त्व, शब्दादि पाँच, वचनादि पाँच, दश प्राण—इन सबके साथ क्षेत्रज्ञ नामक आत्मा के मुख में ३५ तत्त्वों के रहने पर भी आणव मल की अतिशयता से प्रेरकत्व और भोजयितृत्व भाव से निर्व्यापार होकर विषयों को ठीक तरह नहीं जानता, तब इसको **अप्रतिभा जाग्रत्** अवस्था कहते हैं।

स्वप्न

इन्हीं ३५ तत्त्वों से युक्त क्षेत्रज्ञ नामक आत्मा कण्ठ में स्थितिलाभ करके व्यावहारिक विषयों को छोड़कर तात्कालिक रूप से उत्पन्न होने वाले प्रातिभासिक विषयों का अनुभव करता है, तो इस अवस्था को स्वप्नावस्था कहा जाता है।

सुषुप्ति

स्थूल और सूक्ष्म देह-भोगों को त्याग करके जब हृदय में चित्त और प्राणवायु के साथ शुद्धावस्था की स्थिति होती है, तो उसे सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है।

तुरीय

जब नाभि-स्थान में प्राण वायु के साथ द्वितीय आत्मा रहती है, तब इसको तुरीय अवस्था कहा जाता है।

तुरीयातीत

जब मूलाधार में तत्त्व और तात्त्विक आदि को छोड़कर आत्मा केवल आणव मल से आवृत रहता है, तब इसको तुरीयातीत अवस्था कहते हैं। इसको नित्य केवलावस्था भी कहा जाता है। इस प्रकार केवलावस्था के पाँच प्रकार होते हैं।

सिद्धान्तसारावलि और सिद्धान्तबोध में निर्मल जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। जैसे कि—अकार, उकार, मकार, बिन्दु और तदधिष्ठित शिव तथा शक्ति के योग से निर्मल अन्त:करण वाला आत्मा हृदय में बैठकर दृश्यमान समग्र प्रपञ्च को शिवस्वरूप में तथा विषय सुख को स्वरूपानन्द के रूप में अनुभव करता है। इस प्रकार की अवस्था को **निर्मल जागत्** अवस्था कहते हैं।

जाग्रत् अवस्था के कारणीभूत अकार को उकार में और बाह्य विषयों का ग्रहण करने वाले मन को अहंकार में लीन करके तथा अहंकारादि चतुष्टय को ॐकार के अ उ म् और बिन्दु के साथ कण्ठ में सोऽहं भावना में स्थिति प्राप्त करना **निर्मल स्वप्नावस्था** कहलाती है।

स्वप्नावस्था के कारणीभूत अकार को उकार में और बाह्य विषय को ग्रहण करने वाले मन को अहंकार में लय करके तथा अहंकार का मकार में 'अहं' इस प्रकार के अभिमान के कारणीभूत अहंकार का बुद्धि में लय हो जाता है। बुद्ध्यादि तीनों का तथा उनको प्रेरणा देने वाले मकारादित्रय का सुषुप्तिस्थानभूत तालु के मूल में देह, इन्द्रिय और वृत्तिरहित, शब्द के अगोचर, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपी अगोचर रूप से अवस्थिति प्राप्त करना ही **निर्मल सुषुप्ति** अवस्था है।

सुषुप्ति अवस्था के कारणीभूत मकार का बिन्दु में और निर्णयात्मक बुद्धि का चित्त में लय हो जाता है। इसके फलस्वरूप लयीभूत चित्त के साथ आत्मा तुर्यावस्थान भूत भ्रूमध्य में अन्त:करण के बाह्य व्यापार से रहित होकर नाद और बिन्दु के साथ केवल इन्द्रियमात्र से अवस्थित होता है। इसको **निर्मल तुरीयावस्था** कहते हैं।

बिन्दु और नाद, जो कि तुर्यावस्था के कारण हैं, उनका इस कुटिल चित्त के साथ प्रकृति में लय हो जाने पर तुर्यातीत अवस्था का उदय ब्रह्मरन्ध्र में होता है। वहाँ आत्मा में भीतर और बाहर व्यापक रूप से अखण्डाकार, अद्वय और परिपूर्ण शिवस्वरूप की अनन्यरूप से अभिव्यक्ति होती है। यही **निर्मल तुरीयावस्था** है। इसी अवस्था को शुद्धावस्था कहा जाता है (शैवपरिभाषा, पृ. ६२-६४)।

अष्टाङ्ग योग

शैव सिद्धान्त के मतङ्गपारमेश्वर जैसे आगम-ग्रन्थों में षडङ्ग योग का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु मृगेन्द्रागम में अष्टाङ्ग योग प्रतिपादित है। ऐसा होते हुए भी पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग से इसमें कुछ अन्तर है। मृगेन्द्रागम योगपाद के अनुसार प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, वीक्षण, जप और समाधि ये सात योग के अङ्ग हैं तथा स्वयं योग अङ्गी के रूप में आठवाँ है। वहाँ इनके लक्षण, स्वरूप आदि का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

प्राणायाम

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक प्राण वायु के पाँच प्रकारों का और उनकी वृत्तियों का निरूपण मृगेन्द्रागम के विद्यापाद में (११.२१-२७) किया गया है। मृगेन्द्रागम विद्यापाद (११.२२-२३) तथा उसके भाष्य में निरुक्ति के भेद से शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। प्रणयन (बाहर ले जाना) अथवा प्राणन (जीवन) क्रिया का संपादक होने से यह प्राण है, ऊह अर्थात् विमर्शप्रधान तर्क भी प्राण का ही व्यापार है। प्राण बल को भी कहते हैं। चिति (चैतन्य), आतिवाहिक शरीर और शक्ति के लिए भी प्राण शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार विविध अर्थों में प्रयुक्त होने वाले प्राण तत्त्व का आयाम, नियमन, अपने वश में करना ही प्राणायाम नामक योगाङ्ग का मुख्य प्रयोजन है। मृगेन्द्रागम योगपाद (१९-३५ श्लो.) में इसके पूरक, कुम्भक, रेचक, निगर्भ, संगर्भ आदि अनेक भेद प्रदर्शित हैं।

प्रत्याहार

विषयप्रवण चित्त और इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त करके, उनसे प्राप्त होने वाले क्षुद्र सुख से उनको विमुख करके अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिए उनका प्रत्याहरण करना ही प्रत्याहार नामक योगाङ्ग के रूप में विख्यात है, अर्थात् विषयों से इन्द्रियों तथा अपने चित्त को हटा लेना ही प्रत्याहार है। इस प्रत्याहार के अभ्यास से चित्त, इन्द्रिय और अर्थों (विषयों) का संयोग होने पर भी उनसे लिप्त नही होता, क्योंकि प्रत्याहृत चित्त, बाहरी व्यापारों से निर्लिप्त हो जाता है। इस स्थिति में वह अपने संकल्पित लक्ष्य में चित्त को स्थिर (धारण) करने में समर्थ हो जाता है। प्रत्याहृत चित्त से ही साधक में मनन करने की शक्ति जग जाती है (मृगेन्द्रवृत्ति, पृ. ४६१)।

धारणा

प्रत्याहृत चित्त को स्थिर संकल्प से स्थिर रखना ही धारणा है। सगर्भक कुम्भक प्राणायाम के द्वारा बारह क्षण तक चित्तवृत्ति का निरोध होने पर धारणा की प्राप्ति होती है। मृगेन्द्रागम योगपाद (३५-३६ श्लो.) में धारणा शब्द को स्थित्यर्थक और स्थानार्थक माना है। प्रथमत: पृथ्वी से लेकर शिव तत्त्व तक धारणा करनी चाहिए। इन तत्त्वों के विभिन्न वर्णों और मण्डलों में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिए। इन सबमें व्यस्त अथवा समस्त रूप में योगी को धारणा करनी चाहिए। यदि साधक का चित्त विक्षिप्त है, तो इसको धारणा की तरफ लगाने के लिए योगी के हृदय में पार्थिवी धारणा करनी चाहिए। इससे मन की स्थिरता आती है। यदि प्यास की बाधा सताती है, तो उसे कण्ठ में वारुणी धारणा करनी चाहिए। यदि जठराग्नि में अग्निमान्द्य का अनुभव होता है, तो उसको प्रज्वलित करने के लिए अग्नि की धारणा करनी चाहिए। इसी तरह से हृदय और कण्ठ-स्थान में प्राणादि वायु की धारणा की जाती है। हृदय में आकाश की धारणा करने से विष का शमन होता है।

प्राणायाम और प्रत्याहार के अभ्यास से चित्त धारणा और ध्यान की ओर बढता है। नाभिचक्र, हृदय-पुंडरीक, मूर्धज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि आन्तर तथा बाह्य देशों (स्थानों) में चित्त की वृत्तियों को बाँध देना ही पातंजल दर्शन में धारणा नामक योगांग माना गया है। जैसा कि ''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' (३.१) इस सूत्र में और उसके भाष्य तथा टीका-ग्रन्थों में प्रतिपादित है। यह एक प्रकार का अभ्यास है। इसका भावना में समावेश नहीं किया जाता।

शिवयोग-मार्ग में द्वादश धारणाएँ इस प्रकार कही गई हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) नाभिचक्र, (४) हृच्चक्र, (५) कण्ठचक्र, (६) राजदन्त अथवा जिह्वामूल, (७) भ्रूचक्र, (८) निर्वाणचक्र, (९) ब्रह्मरन्ध्र (अष्टदल पद्म), (१०) अहंकार, (११) अक्षरस्वरूप और (१२) निष्कल शिव। यह एक प्रकार से पातंजल योग-सम्प्रदाय में प्रदर्शित आन्तर और बाह्य देशों की ही विशद व्याख्या है।

ध्यान

धारणा नामक योगांग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त में परमेश्वर के त्रिनेत्र, पंचवक्त्र आदि आकारों की एकतानता ही ध्यान है। जैसे बारह सगर्भ प्राणायामों

से धारणा संपन्न होती है, उसी तरह से बारह धारणाओं से ध्यान की निष्पत्ति मानी गई है (मृ०यो०, श्लो. ४९)।

ध्यान के प्रभाव से दिव्य आलोक (प्रकाश) का आविर्भाव होता है। इससे नाना प्रकार की सिद्धियों का आविर्भाव होता है। योगी पृथ्वी से लेकर शिव तत्त्व तक समस्त तत्त्वों को स्वात्मसात् कर लेता है। कामिकागम के अनुसार समस्त तत्त्वसमूह को अपना ही स्वरूप समझा जाता है। यही तत्त्व-व्याप्ति कहलाती है। इन सब तत्त्वों के संकोच को हटाकर शिवतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। वैराग्यशाली योगी धारणा-व्याप्ति के क्रम से समग्र जगत् को प्रत्यक्ष कर लेता है।

पातंजल योग के अनुसार चित्तवृत्तियों की एकतानता ही ध्यान है। ("तत्र प्रत्ययस्यैकतानता ध्यानम्" (३.२)। धारणा में किसी एक अभीष्ट स्थान पर ज्ञानवृत्ति को आबद्ध किया जाता है। वह खण्ड रूप से तथा धारावाहिक रूप से चलता है। अभ्यास के बल से जब चित्तवृत्ति एकतान, अर्थात् अखण्ड धारा की भाँति होती है, तब उसे ध्यान कहते हैं। चित्तस्थैर्य की विशेष अवस्था में किसी भी ध्येय विषय पर इस ध्यान का प्रयोग कर सकते हैं। ध्यान-शक्ति के पैदा होने पर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान लगा सकता है। धारणा का प्रत्यय पानी की धारा के समान और ध्यान का प्रत्यय शहद की धारा के समान एकतान होता है (मृगेन्द्रवृत्ति, पृ. ४२७)।

वीक्षण

इसको अभिवीक्षण, ऊह और सत्तर्क भी कहते हैं। इस अवस्था में प्राणवायु अतिसूक्ष्म होकर बोध को जगाती है और साधक में अपने स्वरूप के निर्भासनार्थ पोषक ज्ञान का उदय करती है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (श्लो. १८, पृ. ११४) में कहा गया है कि तर्क ही योगाङ्गों में सबसे उत्तम है। योगी अपनी आन्तर स्थिति को समझ कर अपने स्वरूप के अवभासक ज्ञान को पक्ष में और उसके विरुद्ध भासित होनेवाले ज्ञान को हेय समझ कर हटाते चलता है। कौन सा ज्ञान ग्रहण करने योग्य है और कौन सा नहीं, इसका निर्देशक ही सत्तर्क अथवा ऊह कहलाता है।

यह सत्तर्क अशुद्ध विकल्पों को हटाने के बाद बुद्धि में उदित होता है। यह साधारण व्यावहारिक तर्क से विलक्षण है। व्यावहारिक तर्क में विकल्पों

से पुन: विकल्पान्तरों का उदय होता है। यह सत्तर्क बुद्धि के परा कोटि को प्राप्त होने पर उदित होता है। यह शुद्धविद्या के अंश के स्पर्श के कारण बुद्धि में उदित होने पर भी अपने आत्मस्वरूप का प्रत्यभिसत्यापन कराता है। यह जब पराकाष्ठा को पहुँचता है, तो इसी को भावना कहते हैं। इसी सत्तर्क के कारण साधक अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित मोक्ष को हेय समझ कर स्वमार्ग में प्रवृत्त होता है। सत्तर्क को शुद्धविद्या भी कहते हैं, क्योंकि यही योगी को सद्गुरु के पास ले जाता है। यह सत्तर्क किसी किसी को शास्त्र के ज्ञान से प्राप्त हो जाता है तथा किसी किसी को पूर्वकृत सुकृत के कारण स्वयं स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार का सत्तर्क सांसिद्धिक ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वीक्षण, अभिवीक्षण, ऊह अथवा सत्तर्क के नाम से प्रसिद्ध इस योगांग का आगम अथवा तन्त्रशास्त्र में विशेष महत्त्व है (मृगेन्द्रवृत्ति, पृ. ४६४; तन्त्रालोक, आ० ४, पृ. १३-१५)।

जप

ध्येय वस्तु को अपने संमुख करने के लिए अन्त:संकल्परूप मानस, स्वसंवेद्य अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनिरूप उपांशु तथा सबको सुनाई पड़ने वाले वाचिक जप के रूप में मन्त्र का आवर्तन जप कहलाता है। इस त्रिविध जप का वर्णन मनुस्मृति (२.८५) में भी मिलता है। वहाँ बताया गया है कि विधियज्ञ से दस गुना जपयज्ञ विशिष्ट है। वाचिक जप से उपांशु जप सौ गुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ है।

शैवागमों में जप का विशेष स्थान है। इष्ट का साक्षात्कार जप से होता है, इसी से सर्वविध सिद्धि प्राप्त होती है। जो परम पद की प्राप्ति करना चाहता है, उसको क्रमश: बाह्य जप से विमुख होकर आन्तर जप में निविष्ट होना चाहिए। अन्तर्वैखरी में जप के कारण बहिर्वैखरी कृत जप का स्वाभाविक अनुसन्धान होता. है। मध्यमा भूमि में जप सहज अपने आप होने लगता है। पश्यन्ती अवस्था में मन्त्र इष्ट का रूप धारण करता है। यहीं पर संमुखीभाव प्राप्त होता है।

भावयुक्त अभ्यास के फलस्वरूप जप चार स्तर पर चार प्रकार की वाग्-भूमि में अपने आप चलता है। यही वास्तविक जप है। अवस्था के भेद से

भी जप के तीन भेद हैं— पहली अवस्था में हृदय में जप होता है, द्वितीय अवस्था में नाभि में तथा तृतीय अवस्था में मूलाधार में जप होता है।

समाधि

ध्यान की एकतानता के फलस्वरूप जब केवल ध्येय का ही अनुभव शेष रह जाता है, तो चित्त की उस स्थिति को समाधि कहते हैं। पातंजल योग के अनुसार ध्येय विषयमात्र निर्भास, स्वरूपशून्य के समान ध्यान ही समाधि है। इनमें सबीज एवं निर्बीज रूपी संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो समाधियाँ होती हैं। वस्तुत: ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। चित्तस्थैर्य ही समाधि की सर्वोत्तम अवस्था है। शैव सिद्धान्त इसी समाधि को लक्षित करते हैं, अर्थशून्य निर्बीज समाधि को लक्षित नहीं करते। शैव सिद्धान्ती शिव के आकार के साथ चित्त के स्थैर्य को समाधि कहते हैं। ध्यानावस्था में मूर्ति के स्वरूप की चित्त में जो एकतानता है, उसीको समाधि माना जाता है। अपनी जीवावस्था का संकोच हटाकर शिवावस्था के अनुभव का ही नाम वहाँ समाधि है (मृगेन्द्रवृत्ति, योगपाद, पृ. ४६२)।

योग

व्यस्त और समस्त रूप में प्राणायाम आदि अंगों के अभ्यास से समाधि स्थिति में जो शिव का साक्षात्कार हुआ है, उसीका तादात्म्यभाव प्राप्त करना योग है। जिस प्रकार सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश से व्याप्त होकर संसार में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार योगी समग्र विश्व की शक्तियों से अभिन्न होकर विभासित होता है। जिस प्रकार तरङ्ग रहित समुद्र में अपना स्वरूप दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने शान्त चित्त में सर्वज्ञ- स्वरूप, आनन्द-स्वरूप शिव का साक्षात्कार होता है। मृगेन्द्रागम, योगपाद (श्लो. ३) में उपर्युक्त सात अंगों के साथ अष्टम योगांग के रूप में स्वयं अंगी योग की ही गणना की गई है (मृगेन्द्रागम, योगपाद, पृ. ४२७)।

अहङ्कार

बुद्धि तत्त्व से इन्द्रियाद्यारम्भक अहंकार तत्त्व उत्पन्न होता है। इस अहंकार के कारण शरीर में प्राणादि का संचार होता है। यह बुद्धि से विलक्षण इसलिए

माना जाता है कि विषयाभिमुखीकरण बुद्धि का व्यापार है और विषय-संग्रह करने वाला ऐक्यबोध अहंकार का कार्य है। यह जीवन, संरम्भ और गर्व के भेद से तीन प्रकार का है। पञ्च प्राण वायु का धारक बोधयुक्त **जीवन** अहंकार कहलाता है। इससे शरीर, मन और इन्द्रियों में मैं हूँ, यह ज्ञान होता है। **संरम्भ** का अर्थ है प्रयत्न। यह अपने अहंकार की पूर्ति के लिए जो काम करता है, वह प्रयत्न कहलाता है। **गर्व** का तात्पर्य है ग्राहक का अध्यवसाय। यह भी अहंकार का ही कार्य है। यह तैजस (सात्त्विक), राजस (वैकारिक) तथा तामस (भूतादि) के नाम से प्रसिद्ध है। तैजस (सात्त्विक) अहंकार से मन तथा चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वैकृत (राजस) अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। भूतादि (तामस) अहंकार से शब्दादि पाँच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं (शैवपरिभाषा, पृ. ११३-११५)।

आगम

पञ्चमन्त्रतनु शब्द की परिभाषा में शिव के पाँच मुखों का निरूपण किया गया है। इनके नाम ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात हैं। इन पाँच मुखों से निर्गत हुआ शास्त्र आगम शास्त्र है। सदाशिव रूपी सूर्य के ऊर्ध्व मुख से सदा ज्ञान की अभिव्यक्ति होती रहती है। इसको ग्रहण करने के लिए तदनुरूप शक्ति की आवश्यकता होती है। यह गिरिजाख्य शक्ति किसी भाग्यशाली पुरुष के अन्त:करण में जागरूक होकर उस ज्ञानप्रवाह को स्वात्मसात् करती है। अनन्तर उसी व्यक्ति को निमित्त बनाकर यह शक्ति उस माहेश्वर ज्ञान को वाक्यों में बाँधती है। इस प्रकार का निबन्धन ही लोक में आगम नाम से प्रसिद्ध है।

आगम शब्दात्मक होने पर भी वस्तुत: यह दिव्य एवं अपौरुषेय है। तत्त्वत: आगम का स्वरूप अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञानविशेष है, नित्या वाक् का स्थूल स्वरूप है। यह वाक् मन्त्रद्रष्टा को छोड़कर अन्य के संमुख प्रकट नहीं होती।

वस्तुत: यह वागात्मक नहीं बोधात्मक है। यह अभिव्यक्तिकाल में शब्द क्रम से प्रकाशित होती है। शिव में समवेत शक्ति के दो स्वरूप है—ज्ञान और क्रिया। पर और अपर के भेद से ज्ञानशक्ति के भी दो रूप हैं। एक बोधात्मक

और दूसरा वागात्मक है। वागात्मक ज्ञान में ही आगमशास्त्र प्रतिष्ठित है। पौष्कर आगम ने शास्त्र को नादात्मक स्वीकार किया है।

यह नादात्मक बोध ही वागात्मक बनकर शब्द का स्वरूप धारण कर लेता है। इसमें समस्त शास्त्र बोधरूप में वर्तमान हैं। इसको परम-परामर्श कहते हैं। परा वाक् की अवस्था में शुद्ध बोधात्मक ज्ञान उदित होता है। पश्यन्ती अवस्था की स्थिति में यह अवबोध अस्फुट रूप से वाच्यवाचक भाव में आने लगता है। मध्यमा भूमि में यह बोध वेदक रूप में, अर्थात् दो अंशों में विभक्त होकर गुरु और शिष्य का स्वरूप ग्रहण करता है। गुरु-शिष्य भाव में यह गुप्त ज्ञान प्रगट होता है। परमेश्वर अपनी पाँच शक्तियों— चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया को पाँच मुखों के रूप में प्रकट करता है। सदाशिव के इन पाँच मुखों के संघटन से पंचस्रोतस् यह ज्ञान वैखरी दशा में प्रकटित होकर आगम-शास्त्र का रूप एवं आकार धारण करता है।

आ=पाश, ग=पशु, म=पति का वाचक है। आ=शिवज्ञान, ग=मोक्ष और म=पति इस तरह से भी आगम शब्द की व्याख्या करते हैं। यह ज्ञानपरम्परा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से प्रगट होती है। शिष्य को इनका ज्ञान दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ क्रम से प्राप्त होता है।

शैव सिद्धान्त में आगमों की संख्या २८ मानी जाती है। इनमें से १० शैवागम और १८ रौद्रागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। शिव के ईशान मुख से— (१) कामिक, (२) योगज, (३) चिन्त्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्त, (७) सूक्ष्म, (८) सहस्र, (९) अंशुमत्, (१०) सुप्रभेद

तत्पुरुष मुख से—(११) ललित, (१२) अनल, (१३) वातुल

अघोर मुख से—(१४) स्वायंभुव, (१५) वीर, (१६) रौरव, (१७) मुकुट, (१८) किरण

वामदेव मुख से— (१९) सिद्ध, (२०) सन्तान, (२१) सर्वोत्तर (२२) चन्द्रज्ञान, (२३) विमल

और सद्योजात मुख से—(२४) विजय, (२५) पारमेश्वर, (२६) निःश्वास, (२७) प्रोद्गीत, (२८) मुखबिम्ब नामक आगमों का आविर्भाव होता है।

आगम-पाद

शैव सिद्धान्त का प्रत्येक आगम चार पादों में विभक्त हैं। इनके नाम है— विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद। मतङ्गपारमेश्वर (३.८-१३) प्रभृति आगम-ग्रन्थों में इनका विवरण इस प्रकार मिलता है—

विद्यापाद

इसमें पति, पशु और पाश नामक तत्त्वों का शुद्ध रूप में कार्यकारणभाव से विवेक किया जाता है, उनके लक्षणों का निरूपण किया जाता है तथा परमार्थ (उपादेय) तथा हेय वस्तु का विचार भी किया जाता है। मतङ्गपारमेश्वर आगम के विद्यापाद में उक्त विषयों का १५०० श्लोकात्मक ३६ पटलों में विवेचन किया गया है। विद्यापाद का मुख्य विषय सिद्धान्त शैव का दर्शन पक्ष है।

क्रियापाद

इसके अन्तर्गत मन्त्र और उनका स्वरूप, मातृका और उनका वैशिष्ट्य, मण्डल और उसकी रचना, विभिन्न प्रकार की मुद्राओं की रचनाविधि के विषयों के साथ समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य के लक्षण तथा उन उन अवस्थाओं तक पहुँचने की साधना का वर्णन किया जाता है। आचार्य और उनके भेद, नित्य-नैमित्तक कर्म, विधि-निषेध आदि के लक्षणों का भी यहाँ विचार रहता है। दीक्षा, शक्तिपात आदि का लक्षण, नाना प्रकार की दीक्षाओं का, जो साधकों को दी जाती है, विवरण भी इसी पाद में रहता है। दीक्षा सम्बन्धी न्यास, अध्वशुद्धि, सकलीकरण आदि विषय भी इसमें वर्णित हैं। मतङ्गपारमेश्वर आगम में ये सब विषय एक हजार श्लोकों में वर्णित हैं। इसमें लिङ्ग-पूजा, लिङ्गनिर्माण, पीठनिर्माण, अर्चनपद्धति, अग्निकार्य, उत्सव, अभिषेक, स्नान इत्यादि का विशद वर्णन मिलता है।

योगपाद

जिसमें विरक्त और मुमुक्षुओं के लिए मुक्ति और योगियों के लिए प्राणायाम, प्रत्याहार आदि षडङ्ग योग का उपदेश किया जाता है, यह योगपाद कहा जाता है। मतङ्गपारमेश्वर आगम के योगपाद में उक्त विषयों का ५०० श्लोकों में विस्तार से वर्णन किया गया है। षडङ्ग योग के अतिरिक्त सप्ताङ्ग

और अष्टाङ्ग योग का वर्णन मृगेन्द्रागम आदि में वर्णित है। मृगेन्द्रागम प्रतिपादित योग का वर्णन अष्टाङ्ग योग शब्द की परिभाषा में देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त षट्चक्र, नाड़ी-विज्ञान, प्राण-विज्ञान आदि विषय भी विभिन्न सिद्धान्त शैवागम ग्रन्थों में वर्णित हैं।

चर्यापाद

इसमें समयी, पुत्रक आदि दीक्षाओं से दीक्षित व्यक्तियों के समय, आचार आदि का, उनके पारस्परिक सद्व्यवहार का वर्णन मिलता है। ब्रह्मचारी शिष्य का दूसरे ब्रह्मचारी शिष्य से कैसा सम्बन्ध हो, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कैसा हो, इनका वर्णन भी यहाँ मिलता है। आगम का यह पाद चर्यापाद के नाम से विख्यात है। वाद और संवाद का लक्षण भी यहाँ प्रतिपादित है। जल्प और वितण्डा का यहाँ कोई स्थान नहीं रहता। शैव सिद्धान्त में देवता की बहिरङ्ग पूजा भी चर्या कहलाती है, जिससे मानसिक स्तर पर आध्यात्मिक उन्नति के प्रति आकांक्षा उत्पन्न होती है। मन्दिर की सफाई, पुष्पसंग्रह, दीपदान, माल्यनिर्माण, शिवभक्तों की सेवा इत्यादि का भी चर्या में अन्तर्भाव होता है (मतङ्गपारमेश्वरवृत्ति, पृ. ३०-३१; शैव सिद्धान्त फिलासफी, पाइट, पृ. १२४)।

आगम-प्रामाण्य

यथार्थ का उपदेष्टा पुरुष आप्त कहलाता है। इस आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द- प्रमाण कहा जाता है। यह वाक्य दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक वाक्य है—जैसे नदी के तीर पर पाँच फल हैं। परमाप्त सदाशिव के वाक्य हैं वेद और आगम। वेद के वाक्यों की तरह शैवागम भी यथार्थ ज्ञान प्रदान करते हैं। अत एव इनको प्रमाण मानना चाहिए। निर्मल, सर्वज्ञ, पक्षपातरहित, यथार्थ ग्राहक एवं अव्यय रूप शिव परिपूर्ण स्वतन्त्र और पशु के पाशों को नष्ट करने वाला है। शिव-प्रणीत होने के कारण वेद के समान ही आगमों को भी प्रमाण मानना युक्त है। कामिक आगम के अनुसार शैवागम दो प्रकार के हैं— श्रौत और अश्रौत। श्रौतागम श्रुति के सारभूत हैं। ये संख्या में २८ हैं। अतः इनको वेद के समान ही प्रमाण माना जाता है (शैवपरिभाषा, पृ. २०-२२)।

आचार्य

शैव सिद्धान्त में आचार्य का विशेष स्थान है। यह गुरु भी कहलाता है। साधक का शक्तिपात का अनुभव तीन प्रकार से होता है— पहला साक्षात् शिव से, दूसरा शास्त्र- चिन्तन से, तीसरा मानव देहधारी आचार्य से। आचार्य साधक की योग्यता के अनुरूप दीक्षा आदि प्रक्रिया द्वारा अनुग्रह करता है। जिस प्रकार परमेश्वर में पञ्चविध कृत्यकारित्व शक्ति है, उसी प्रकार दीक्षा से शुद्धिप्राप्त आचार्य को यह शक्ति प्राप्त रहती है। अत एव आचार्य को शिव-समान माना जाता है। ईश्वरानुग्रह के कारण आचार्य के सब प्रकार के मल नष्ट हो जाते हैं, किन्तु अधिकार-मल शेष रह जाता है। इसी अधिकार-मल के कारण उसे दीक्षा आदि देकर अणुओं का कल्याण करना शिव के आदेश से करना पड़ता है। देहधारण करने पर भी आचार्य को पशु, अर्थात् अन्य अणुओं के समान नहीं माना जाता। आचार्य का देह बिन्दु से उत्पन्न होता है और साधारण जीवों का देह माया से उत्पन्न होता है।

आचार्य शिव के समान इसलिए माना जाता है कि शिव अपनी शक्ति के साथ अन्तरङ्ग रूप में रहने पर भी पशुओं के अनुग्रह हेतु बहिरङ्ग में बैन्दव रूप गुरुमूर्ति को धारण करता है। निष्कर्म होने के कारण इसका सम्बन्ध विशुद्ध भोग के साथ रहता है, अत एव इसको आचार्य कहते हैं। आचार्य और शिव को एक शरीर अवलम्बी माना जाता है, क्योंकि इन दोनों का कार्य एक है। समान होने के कारण, दोनों का साधर्म्य होने से इनको एक माना गया है। लौकिक जगत् में इन दोनों का अभेद माना गया है कि 'गुरु ही शिव है, शिव ही गुरु हैं' (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २-३)।

कर्म

धर्म और अधर्म के नाम से अभिहित होने वाले, नाना प्रकार के अनादि काल से चले आ रहे कर्मों को पाशों में गिना गया है। माया के अधीन कार्य करने वाले प्रत्येक पुरुष के लिए निश्चित भोग्य पदार्थों को दिलाने वाले संस्कार कर्म के नाम से जाने जाते हैं। इनको बीज, अदृष्ट अथवा सहकारी भी कहा जाता है। मन, वाणी, शरीर से उत्पन्न होने के कारण ये कर्म त्रिविध माने जाते हैं। मन से होनेवाला धर्म रूपी कर्म इष्टदेवता का ध्यान, धारणा इत्यादि

है। मानसिक अधर्मरूपी कर्म परधन, परस्त्री की अपेक्षा आदि है। वाचिक धर्म-कर्म मन्त्रजप इत्यादि है और वाचिक अधर्म-कर्म परापवाद और परनिन्दा आदि है। कायिक धर्मों के अन्तर्गत देवतार्चन और अधर्म-कर्म में अगम्यागमन आदि की गणना होती है। लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्र के भेद से कर्म पंचविध माना जाता है। लोककल्याण के लिए वापी, कूप आदि का निर्माण लौकिक धर्म-कर्म है और अभक्ष्यभक्षण आदि अधर्म-कर्म। ज्योतिष्टोम आदि का अनुष्ठान करना वैदिक धर्म-कर्म है, जब कि वैदिक कर्मों का तिरस्कार करना अधर्म-कर्म है। आध्यात्मिक धर्म-कर्म वैराग्य आदि हैं। योगजन्य कर्म आतिमार्गिक कहलाते हैं। विज्ञानजन्य कर्म मान्त्र कर्म है। ये सभी कर्म वैषयिक सुख-दुःख आदि के कारण हैं, अत एव ये पाश माने गये हैं (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. ३०-३१; शैवपरिभाषा, पृ. ९३)।

कर्मसाम्य

समान बल वाले किन्तु परस्परविरोधी फल देने वाले पुण्यरूप, अपुण्यरूप अथवा पुण्यापुण्यरूप कर्म जब एक साथ फलदान के प्रति उन्मुख हो जाते हैं, तो इस स्थिति को कर्मसाम्य कहा जाता है। शैव सिद्धान्त में शिवानुग्रह के दो कारण माने गये हैं—कर्मसाम्य और मलपरिपाक। शिवानुग्रह के अनुभव के लिए कर्मसाम्य की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि इसीसे तिरोधान शक्ति की निवृत्ति होती है। इस तरह से यह अनुग्रह शक्ति के आविर्भाव में मुख्य कारण माना जाता है। कर्म यदि समान बल वाले और परस्पर विरोधी फल देने वाले न होंगे, तो उस दशा में उनका फल-भोग बिना बाधा के चलेगा। ऐसी स्थिति में तिरोधान शक्ति का व्यापार निवृत्त नहीं होगा, अतः कर्मसाम्य के लिए परस्परविरोधी फलोन्मुख कर्मों की समबलता आवश्यक मानी गई है। इष्ट और अनिष्ट निमित्तक कर्मद्वय की समता के होने पर उस समय दीक्षा से कर्म- क्षय होकर मुक्ति-लाभ हो जाता है।

कर्मसाम्य की अवस्था में कर्मों की फलप्रदा शक्ति परस्पर विरोध से ही जब क्षण भर के लिए भी अवरुद्ध हो जाती है, तो तिरोधान शक्ति का प्रभाव ढ़ीला पड़ जाता है। ऐसा होने पर शिव की अनुग्रह शक्ति का स्पर्श जीवों को हो जाता है और उसका प्रभाव भी सद्यः अनुभव में उसे आ जाता है।

तब वह शक्ति बिना किसी बाधा के जीव के अन्तस्तल पर अपना प्रभाव जमा देती है (शैवपरिभाषा, पृ. १३४; मृगेन्द्रवृत्ति, पृ. २२६)।

कला

शैव सिद्धान्त में चिदाकाश, कुण्डलिनी शक्ति और बिन्दु पर्यायवाची शब्द हैं। बिन्दु के क्षुब्ध होने पर शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध जगत् की रचना होती है। सूर्य से जिस प्रकार रश्मियाँ निकलती हैं, उसी तरह शुद्ध बिन्दु से किरणमालाएँ निकलती हैं। इन मूल किरणों अथवा शक्तियों की धारा का शैवागम में कला के रूप में वर्णन किया गया है।

शैवपरिभाषा में आत्मा की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से अभिव्यक्त तत्त्व को कला कहा गया है। अभिव्यक्ति से तात्पर्य है—आत्मा के आवरण का हट जाना। यह बिन्दु की विशेषावस्था है, सूक्ष्म सृष्टि का प्रथम उन्मेष है। शक्ति सृष्ट्युन्मुख होकर कलारूप में परिणत होती है। यह कला पाँच प्रकार की है— शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. ९४; रत्नत्रय, पृ. ३५)।

शान्त्यतीता कला

सबसे अधिक निकटवर्ती कला, जो कि बिन्दु के साथ अभिन्न रूप से वर्तमान है, शान्त्यतीता कला है। इसको परा और परमा कला भी कहते हैं। शेष पाँचों अध्वा इस कला में अव्यक्त रूप से रहते हैं। इसी कला से अन्य समस्त कलाओं की सृष्टि होती है। वस्तुत: यह चिदाकाशरूपिणी है। यह सब कलाओं में व्याप्त है। महाकाशस्वरूप ऊर्ध्व कमल में इसका ध्यान किया जाता है। शक्ति और शिव तत्त्व, पन्द्रह भुवन, शिव और ईशान मन्त्र एक पद, सोलह वर्ण, स्फटिक की कान्ति के समान वर्ण वाला वृत्तमण्डल और सदाशिव कारण है (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ. १२९; रत्नत्रय, पृ. ४१-४२)।

शान्ति कला

इस कला में समस्त अणुसमुदाय अथवा प्रलीन जीवों का रागद्वेष विलीन हो जाता है और इनका संकल्प भी प्रशान्त हो जाता है। अत: इस कला की अवस्था को शान्ति कला कहते हैं। भ्रूमध्य स्थित कमल के केन्द्र में इस कला

का ध्यान सहस्त्रों किरणों में विसृत प्रकाश के रूप में करना चाहिए। सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक तीन तत्त्व, वामादि सदाशिवान्त १८ भुवन, तत्पुरुष और कवच नामक दो मन्त्र, ११ पद और तीन वर्णों का इसमें निवास है। इसका षट्कोणात्मक मण्डल और कारण ईश्वर है (रत्नत्रय, पृ. ४१; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. १३७-१३८)।

विद्या कला

इस कला में सुप्त अणु अथवा जीवों के सामने अपने संकल्प अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं और इनका प्रयोजन ज्ञात हो जाता है, इनकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। स्वस्तिक चिह्न से अंकित त्रिकोणस्वरूपा अनेक प्रकार के प्रकाशों को स्फुरित करने वाली विद्या कला का तालु में स्थित कमल के मध्य में नील अंजन के समान द्युति के रूप में ध्यान करना विहित है।

इस प्रकार समस्त अध्वाओं को, समस्त अर्थों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने के कारण इस कला में माया से पुरुष पर्यन्त ७ तत्त्व और २७ भुवन, शिखा और अघोर नामक दो मन्त्र, २० पद और ७ वर्ण स्थित हैं। इसका वर्ण लाल है। मण्डल त्रिकोणात्मक और कारण रुद्र है (रत्नत्रय, पृ. ४१; शैवपरिभाषा, पृ. १३७)।

प्रतिष्ठा कला

प्रलीन हुए अणुओं के संघ के संकल्प की और अर्थ की प्रसिद्धि जिस कला में प्रतिष्ठित है, वह कला प्रतिष्ठा के नाम से विख्यात है। बहु आलोकशालिनी, शुक्ल अर्ध चन्द्रमा की आभा से युक्त, नील कमल के दलों से अंकित इस कला का ध्यान कण्ठ-मध्य में करना चाहिए। इस कला में मूल प्रकृति से लेकर जल पर्यन्त २३ तत्त्व, ५६ भुवन, शिरस् और वामदेव नामक दो मन्त्र, पद २१ और वर्ण २३ स्थित हैं। श्वेत रंग का इसका मण्डल अर्धचन्द्राकार है और कारण विष्णु है (शैवपरिभाषा, पृ. १३७)।

निवृत्ति कला

प्रलीन अणुसमूह के संकल्प फल की प्राप्ति किए बिना जिसमें विनिवर्तित हो जाते हैं, वह निवृत्ति कला अभिहित की जाती है। इससे आगे कलाओं

का बाहर फैलना निवृत्त हो जाता है, इसलिए भी इसको निवृत्ति कला कहते हैं। इसमें सद्योजात और हृदय नामक दो मन्त्र हैं, २८ पद और वर्ण एक है। इसका रंग पीला, मण्डल चतुरस्र और कारण ब्रह्मा निरूपित है।

इन पाँच कलाओं की समष्टि ही बिन्दु है। बिन्दु क्षुब्ध होकर ज्योति और शब्द के रूप में प्रकट होता है, किन्तु ज्योति और शब्द क्रमश: बहिर्मुख होते होते आच्छन्न हो जाते हैं। दीप के प्रकाश के बाहर जैसे छाया दिखाई देती है, वैसे ही अभिव्याप्त बिन्दु के बाहर छाया रूपी माया दिखाई देती है। यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। प्रकाश महामाया का राज्य है। इन पाँच कलाओं में से तीन कलाएँ, अर्थात् निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या माया-राज्य के अन्तर्गत हैं। शेष दो कलाएँ, अर्थात् शान्ति और शान्त्यतीता कला महामाया राज्य के अन्तर्गत हैं (शैवपरिभाषा, पृ. १३७; तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि)।

काण्ड

शैव सिद्धान्त में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या इन तत्त्वों को शुद्ध तत्त्व कहते हैं, माया से लेकर पुरुष तक शुद्धाशुद्ध तत्त्व तथा प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक अशुद्ध तत्त्व हैं। इनमें शुद्ध तत्त्व प्रेरक काण्ड, शुद्धाशुद्ध तत्त्व भोजयितृ काण्ड और अशुद्ध तत्त्व भोग्य काण्ड के अन्तर्गत माने जाते हैं।

प्रेरक काण्ड

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। इनकी सृष्टि शुद्धाध्व सृष्टि कहलाती है। इन तत्त्वों के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इन तत्त्वों का भोग कर्मभोग नहीं कहलाता। इन शुद्ध तत्त्वों के अन्तिम तीन के अधिष्ठाता मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र हैं। ये सकल और प्रलयाकल अणुओं को प्रेरित करते हैं। अत एव इनको प्रेरक काण्ड कहते हैं। (शैवपरिभाषा, पृ. ८७)।

भोजयितृ काण्ड

प्रकृति का भोग करने वाला भोक्ता कहलाता है। यह पुरुष है। यह पंचकंचुकों से बद्ध है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल अणुओं में इस प्रकार का भोक्तृत्व

नहीं है। पुरुष तत्त्व युक्त आत्मा का सम्बन्ध प्रकृति के साथ रहने के कारण प्राकृत भोग सकल पुरुष में सम्मत है। यह प्रकृति का भोग प्रत्येक अणु का प्रति पुरुष के साथ सम्बन्ध प्रतिनियत है, अत एव माया से पुरुष तत्त्व पर्यन्त सात अशुद्ध तत्त्व भोजयितृ काण्ड कहलाते हैं (शैवपरिभाषा, पृ. १०२)।

भोग्य काण्ड

पञ्चतन्मात्रा से आकाश, वायु, तेज, अप्, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों का स्फुरण होता है। प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक अशुद्ध भोग्य काण्ड कहलाता है। इन्द्रियों में यद्यपि स्वत: भोग्यत्व नहीं है, तथापि आलोचनादि द्वारा बुद्धि में विषयविमर्श होने के कारण बुद्धि का भी भोग्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। अत: इन सबको भोग्य काण्ड के अन्तर्गत माना जाता है (शैवपरिभाषा, पृ. १२८)।

केवली

शतरत्नसंग्रह (पृ. ७७-७८) में मतङ्गपारमेश्वर प्रभृति शैवागम ग्रन्थों के आधार पर चार प्रकार के केवलियों का विवरण दिया गया है। ये हैं— ज्ञानकेवली, योगकेवली मूर्तिकेवली और शक्तिकेवली। सर्वज्ञानोत्तर के प्रमाण पर बताया गया है कि किसी न किसी कला में रहने की स्थिति को केवलावस्था कहा जाता है। उस स्थिति में अवस्थित दीक्षित व्यक्ति केवली कहलाता है। दीक्षा बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों के लिए विहित है। इनमें से बुभुक्षु भोगपदवी को प्राप्त करता है और मुमुक्षु देह के अवसान के बाद प्रभु अवस्था से अतीत शिव को प्राप्त करता है। उक्त चतुर्विध केवलावस्था बुभुक्षु स्थिति की मानी गई है। उनका परिचय वहाँ इस प्रकार दिया गया है। केवली चार प्रकार के होते हैं—

ज्ञानकेवली

बुभुक्षु दीक्षित भोग चाहता है, मोक्ष नहीं। अत: वह शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक चार कलाओं, तदन्तर्वर्ती भुवनों और तत्त्वों में ही रहता है। ये सभी बन्धन रूप माने गए हैं, जहाँ पर कि जीव विविध भोगों को भोगता हुआ उनसे प्राय: उपरत नहीं होता। अपने भोग, वीर्य और इच्छा बल की सहायता से अथवा दीक्षा देने वाले गुरु की कृपा से केवली जीव सदाशिवसंघात बन जाते हैं, किन्तु कारणेश्वर नहीं बन सकते और न शिवत्व को ही प्राप्त

कर सकते हैं, किन्तु इनमें से ज्ञानकेवली शिव का सायुज्य लाभ कर शान्ति कला के भुवनों में अनन्त काल तक शान्तिपूर्वक निवास करते हैं।

योगकेवली

विद्या कला के भुवनों में निवास करने वाले जीव शैव सिद्धान्त शास्त्र में योगकेवली कहलाते हैं। ये सालोक्य पदवी प्राप्त करते हैं।

शक्तिकेवली

प्रतिष्ठा कला के भुवनों में निवास करने वाले जीव इस शास्त्र में शक्तिकेवली कहलाते हैं। ये सामीप्य पदवी प्राप्त करते हैं।

मूर्तिकेवली

निवृत्ति कला के भुवनों में वास करने वाले जीव मूर्तिकेवली कहलाते हैं। ये सभी काम्य लोकों में निवास करते हैं। नाद नामक तत्त्व में रहने वाले अणु (जीव) भी मूर्तिकेवली कहलाते हैं। इनसे भिन्न जीवों की गणना रुद्रों में होती है (शतरत्नसंग्रह, पृ. ७७-७८)।

चिच्छक्ति

समस्त चित्तवृत्तियों से उत्तीर्ण शुद्ध चित्प्रकाशरूपा चिच्छक्ति को भी प्रमाण माना जाता है। चक्षुरादि इन्द्रियों को विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य को देनेवाली चिच्छक्ति एक विलक्षण तथा सर्वग्राहक प्रमाण होती है। यह अकलुषित एवं आत्माभिमुखी शक्ति है। यह वस्तुत: प्रमातृरूपा है, प्रमाणरूपा नहीं (शैवपरिभाषा, पृ. ३-४)।

चित्त

प्रकृति तत्त्व से चित्त की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में तीन गुणों की साम्यावस्था हट जाती है और उनमें वैषम्य उत्पन्न होने लगता है, निर्विकल्पक ज्ञान की स्थिति प्रादुर्भूत हो जाती है। महान्, गुण, अव्यक्त आदि इसके पर्याय नाम हैं। यह चित्त सत्त्व, रज, और तम तीन प्रकार का है। प्रकाशवृत्तिक सत्त्व, प्रवृत्तिवृत्तिक रज और नियमनादिवृत्तिक तम है। इसको पौष्करागम में स्पष्ट किया गया है। सन्तोष, आर्जव, शौच, क्षमा, स्मृति, सौहित्य, परमौत्सुक्य, दान्ति,

शान्ति—ये सत्त्ववृत्ति के गुण माने जाते है। शौर्य, क्रौर्य, महोत्साह, स्वाभिमान, दार्ढ्य, निर्दयता, भोग और दम्भ रजोगुण की वृत्तियाँ हैं। मन्दता, अविशुद्धता, गुरुता, अधिक निद्रा, मद, आलस्य, मूढभाव— ये तामस वृत्ति के गुण हैं। ये सब चित्त की ही विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं (शैवपरिभाषा, पृ. १०३-१०४)।

जीवन्मुक्त

साधक योगी मायिक शरीर में रह कर भी मुक्ति का अनुभव कर सकता है। इसी स्थिति को जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में समस्त मलों का ध्वंस हो जाता है। केवल प्रारब्ध कर्म के शेष रहने के कारण वह शरीर में रहकर भी शिव-साक्षात्कार कर सकता है। इसको सारा विश्व शिवमय प्रतिभासित होता है। इसका व्यवहार भी शिवमय रहता है। समस्त विषयों को यह शिव को अर्पित कर देता है। अत एव इसको विषय के व्यापारों का अनुभव नहीं होता।

देवीकालोत्तर आगम के अनुसार जीवन्मुक्त दशा में पूजा, अर्चना, नमस्कार, चिन्तन, नित्य और नैमित्तिक कर्म की आवश्यकता नहीं पड़ती। जीवन्मुक्त योगी केवल ज्ञेय की अवस्था में रहता है। निश्वासकारिका में बताया गया है कि जिस प्रकार अत्यन्त शीघ्र गमनशील वायु भी आकाश को छोड़कर नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यक्ति का चित्त भी शिव में रहने के कारण शिव को छोड़कर अज्ञान-कल्पित विषयों में नहीं रहता। सामान्य मनुष्य का चित्त तो इन्द्रिय और विषय के साथ सदा रमा रहता है, किन्तु जीवन्मुक्त का चित्त सदा इन्द्रियातीत रहता है। चिच्छक्ति के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उधर ही चित्त की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि जीवन्मुक्त को अपना चित्त चैतन्य शक्ति का विलासमात्र प्रतीत होता है। जीवन्मुक्त साधक आवरण रहित होकर शिवानन्द में लीन रहता है और अन्य जीवों के प्रति सदा करुणाभाव से ओतप्रोत रहता है। (शैवपरिभाषा, पृ. ५२.१५३; शतरत्नसंग्रह, पृ. ८६-८७)।

तत्त्व

विश्व का विस्तार जिसमें होता है, उसे तत्त्व कहते हैं। परमार्थसार में तत्त्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जहाँ से सब तत्त्व विस्तार प्राप्त

करते हैं, वह तत्त्व है। प्रलय पर्यन्त उनका अस्तित्व रहता है। कश्मीर शैव दर्शन की भाँति शैव सिद्धान्त में भी छत्तीस तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। पुरुष और प्रकृति से लेकर पचीस तत्त्व सांख्यदर्शन के अनुसार है। यद्यपि स्वरूप में न्यूनाधिक अन्तर है। पृथ्वी से लेकर प्रकृति पर्यन्त २४ तत्त्व अशुद्ध माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त काल, कला, विद्या, राग, नियति ये पाँच तत्त्व कंचुक कहे जाते हैं। इनकी सृष्टि माया तत्त्व से मानी जाती है। पुरुष, माया और पाँच कंचुक ये सात तत्त्व शुद्धाशुद्ध तत्त्व माने जाते हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव ये पाँच तत्त्व शुद्ध तत्त्व हैं। इनका अलग से निरूपण किया गया है। सद्योज्योति शिवाचार्य कृत तत्त्वसंग्रह और भोज कृत तत्त्वप्रकाश में छत्तीस तत्त्वों का सुन्दर निरूपण किया गया है। तत्त्वत्रय और रत्नत्रय में इनका निरूपण दूसरे प्रकार से मिलता है। तमिल भाषा में छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ हैं। जिनको तिरुमुर कहते हैं। इनमें तत्त्वों की संख्या १९,२५,३६ अथवा ९६ तक मानी गई है (परमार्थसार, पृ. ३१; तत्त्वप्रकाश, पृ. ६१; स्टडीज इन शैव सिद्धान्त, पिल्लई, पृ. ३५)।

शुद्ध तत्त्व

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। किरणागम के (शतरत्नसंग्रह, पृ. ५०) वचनानुसार शिव ही शुद्ध तत्त्वों की सृष्टि के कारण हैं। इसमें सूक्ष्माभिधानक वाग्वृत्ति रहती है। शिव तत्त्व का विकार शक्ति तत्त्व है। ज्ञानमात्र से युक्त होने के कारण परमात्मा में अधिष्ठित तत्त्व शिवतत्त्व है। शक्ति तत्त्व शिव तत्त्व में अभिन्न रूप से रहता है। इसमें निवृत्त्यादि कलाएँ रहती हैं और पश्यन्ती नामक वाग्- वृत्ति विद्यमान है। शिव में शक्ति के अधिष्ठित रहने के कारण इसको शब्द तत्त्व कहते हैं। इसमें केवल क्रियाशक्ति रहती है। शक्ति तत्त्व का विकार सदाशिव तत्त्व है। इसमें मध्यमा वाणी अधिष्ठित है। जिसमें ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियाँ समप्रवृत्त होकर अधिष्ठित रहती हैं, इसको सदाशिव तत्त्व कहते है। यह सामीप्य मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार यह तनु, करण, भुवन आदि की सृष्टि का भी कारण है। सदाशिव तत्त्व का विकार ईश्वर तत्त्व है। क्रिया शक्ति से युक्त ईश्वर तत्त्व है। अनन्तेशादि तथा उनकी आराधना करने पर जिन्होंने अनन्तादि के पद प्राप्त किए हैं, ऐसे रुद्राणु और उनके तनु-भुवनादि का कारण ईश्वर तत्त्व है। ईश्वर तत्त्व का विकार विद्या

तत्त्व है। इसमें वैखरी वाग्-वृत्ति अधिष्ठित है। यह सात करोड़ मन्त्रों के तनु-भुवन आदि का सम्पादन करती है। इसमें ज्ञान की अधिकता होती है, अत एव इसको विद्या तत्त्व कहते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि शिवादि पाँच शुद्ध तत्त्व साक्षात् बिन्दु तत्त्व से निष्पन्न होते हैं (शैवपरिभाषा, पृ. ८४-८५)।

शुद्धाशुद्ध तत्त्व

शिव से लेकर पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्व हैं। इनमें माया, काल, कला, राग, विद्या, नियति और पुरुष ये सात चित् और अचित् स्वरूप के तत्त्व हैं, अत एव इनको शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहते हैं। ये विद्या कला के अन्तर्गत हैं। पुरुष तत्त्व को चिद्रूप उपाधि के कारण चित्स्वरूप माना जाता है, जिस प्रकार जपा-कुसुम के सम्बन्ध से शुद्ध स्फटिक भी लाल दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म और अधर्म की उपाधि से इस प्रकार प्रतीत होता है। इन सात तत्त्वों का विवरण उन उन शब्दों में दिया गया है (तत्त्वप्रकाशिका, पृ. ६३)।

अशुद्ध तत्त्व

मूल प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त २४ तत्त्व जड़ होने के कारण अशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत चौबीस तत्त्व हैं। अव्यक्त, महत्, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रस, घ्राण (ज्ञानेन्द्रिय) और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये तत्त्व अशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। पुरुष के भोग के लिए कला ही राग तत्त्व के पश्चात् अव्यक्त को उत्पन्न करती है। गुणों के अभिव्यक्त न होने कारण वह अव्यक्त कहलाती है। अव्यक्त से ज्ञान, क्रिया तथा नियमन रूप, सुख-दु:ख-मोह स्वरूप सत्त्व, रजस् और तमस् नामक गुणतत्त्व व्यक्त होता है। त्रिगुणों से बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि से अहंकार और उस तैजस अहंकार से मन, वैकारिक से इन्द्रियाँ तथा भूतादि से तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। मन इच्छात्मक है। उसकी क्रिया संकल्प है। ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि पाँच ग्राह्य विषय हैं। कर्मेन्द्रियों के उच्चारण, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्द कार्य हैं। बाह्य करण कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के भेद से पुन: दस प्रकार के हैं। तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। ये सब अशुद्ध तत्त्व के अन्तर्गत हैं (तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. १०२-१२३)।

तिरोधान शक्ति

शिव के पाँच कर्म प्रसिद्ध हैं। उनका विवरण पञ्चकृत्य शब्द की परिभाषा में दिया गया है। निग्रह व्यापार का ही दूसरा नाम है तिरोधान शक्ति। तिरोधान या निग्रह शब्द से आत्मस्वरूप का आच्छादन समझना चाहिए। शैव सिद्धान्त के अनुसार अनादि काल से आत्मा में एक आवरण विद्यमान है। उस आवरण को मल कहते हैं। वह मल प्रमाता के वास्तविक स्वभाव को छिपाये रखता है। उसकी इस सामर्थ्य को तिरोधान शक्ति कहते हैं। यत: इसके प्रारम्भ का पता लग नहीं सकता, अत: इसे अनादि माना गया है। मल की यह शक्ति भी मूलत: शिव की ही शक्ति है, क्योंकि यह आवरण रूपी पर्दा भगवान् की तिरोधान शक्ति के प्रभाव से ही आविर्भूत होता है। अद्वैत शैव मत में परमशिव स्वयं ही अपनी इच्छा से इसका ग्रहण करता है, स्वयं शिवस्वरूप में रहकर क्रीड़ा के लिए स्वांग धारण करता है। शैव सिद्धान्त में इसकी प्रवृत्ति कब और कैसे हुई, इसका अन्वेषण करने पर भी पता नहीं चलता, तथापि यह भगवान् की निग्रहशक्ति का व्यापार मात्र है। शैव सिद्धान्त में अणु (जीवात्मा) अनादि काल से स्वभावसिद्ध रूप में विद्यमान है। उसके शिवस्वभाव या स्वरूप का आवरण परमेश्वर की तिरोधान शक्ति से संपन्न होता है। अद्वैतवादी शैव भी एक अणु का बहु होना, बहुत से रूपों को ग्रहण करना, भगवान् की तिरोधान शक्ति का ही व्यापार मानते हैं (भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. १५१-१५२)।

दस कार्य

इस शब्द का अर्थ है दस प्रकार की उपलब्धियाँ अथवा दस प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव। इन्हें दस सोपान अथवा आत्मसंस्कार के दस उपाय समझना चाहिए। आगमिक तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत इन विधियों का वर्णन मिलता है। ये दस सोपान आगम दर्शन को मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करने वाले हैं। ये अति सूक्ष्म हैं और साधारण ज्ञानगम्य नहीं हैं। इन दस सोपानों का क्रम इस प्रकार है—

(१) तत्त्वरूप, (२) तत्त्वदर्शन, (३) तत्त्वशुद्धि; (४) आत्मरूप, (५) आत्म- दर्शन, (६) आत्मशुद्धि; (७) शिवरूप, (८) शिवदर्शन, (९) शिवयोग और (१०) शिवभोग।

ये आत्मा की आन्तरिक प्रगति के दस स्तर हैं। कतिपय आगमविद् अमल अथवा निर्मल अवस्था में तीस स्तर मानते हैं। कुछ आगमों में दस कार्यों का पाँच शुद्ध अवस्थाओं में वर्गीकरण किया गया है, जो कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। सन्त तिरुमूल ने अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ तिरुमन्दिरम् में दस कार्यों का वर्णन किया है। शिवज्ञानवल्लार ने भी अपने ग्रन्थ में इनका विवरण प्रस्तुत किया है। तदनुसार संक्षेप में यहाँ उनका परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

तत्त्वरूप

साधक की आत्मा का प्रथम परिवर्तन ही तत्त्वरूप है। तत्त्वरूप का मतलब है तत्त्वों के आकारों को अथवा उनके वास्तविक तत्त्वों के मूल को ज्ञात करना। सबसे स्थूल सृष्टि का विकास भौतिक है। आत्मा का अत्यन्त स्थूल एवं जड़ आवरण आत्मतत्त्व कहलाता है। वे तत्त्व २४ हैं। इनके कारण साधक पिण्ड को अपना आत्मस्वरूप समझता है। पहले सोपान में इसको हटाकर देहतत्त्व के रहस्य को समझना साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही साथ बन्धन के स्वरूप को भी समझना पड़ता है। जब साधक इस स्तर पर पहुँच जाता है, तब उसमें आत्मतत्त्व को देखने की सामर्थ्य आ जाती है। परिणाम को उत्पादन करने वाले गुण हैं, इस बात को वह जानता है। इतना ही नहीं, वह उन गुणों के परिणाम का भी साक्षात्कार कर लेता है। उमापति शिवाचार्य अपने शिव-प्रकाशम् नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि साधक को प्रत्येक तत्त्वरूप का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। पृथ्वी से नादपर्यन्त तत्त्वों का साक्षात्कार करना ही वास्तविक तत्त्वरूप है। तत्त्व भी आत्मा को बाधित करते हैं तथा इनकी भी सीमा है, यह ज्ञान कर लेना चाहिए। साधक द्वारा सब तत्त्वों के रहस्य का साक्षात्कार कर लेना ही तत्त्वरूप साक्षात्कार है।

तत्त्वदर्शन

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, काल, कला, राग, अविद्या, नियति, पुरुष, प्रकृति, मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, पंचभूत—इन ३६ तत्त्वों का जब साधक साक्षात्कार करता है, तो आत्म-विपरीत बोध अथवा मिथ्या-बोध के कारण इनके स्वभाव एवं

परिणाम को अपने आत्म-तत्त्व में आरोपित कर लेता है। फलतः वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। साधक जब विमर्श के द्वारा तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता है, तो उसका यह अज्ञान हट जाता है, वह अशुद्ध एवं शुद्ध तत्त्वों के स्वभाव को जान लेता है। तत्त्वदर्शन को ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन में तत्त्व-विमर्श कहते हैं। विज्ञानभैरव आदि ग्रन्थों में तत्त्वविमर्श की प्रक्रिया के द्वारा आत्मस्वरूप के साक्षात्कार की विधि का विस्तार से निर्वचन किया गया है।

तत्त्वशुद्धि

वस्तुतः शरीर में अशुद्ध तत्त्वों के कारण इसकी प्रवृत्ति निम्न स्तर की है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कारण चित्त बहिर्मुख और सतत मलत्रय से आवृत हो कर भवचक्र में घूम रहा है। गुरुदीक्षा, न्यास, मन्त्रोपदेश आदि की प्रक्रिया के द्वारा साधक अपने पिण्ड को शुद्ध करता है। इसीको तत्त्वशुद्धि कहते हैं। आत्मदर्शन के लिए तत्त्वशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। जड़ तत्त्व और चेतन तत्त्व का ज्ञान होने पर तत्त्वशुद्धि के होते ही स्वभाव में परिवर्तन मालूम पड़ता है, तब साधक को शिव के शक्तिपात का अनुभव होने लगता है। परमात्मा की कृपा एवं अनुग्रह का बोध अङ्कुरित हो जाता है। शुद्ध सात्त्विक विचार जागरित हो जाते हैं। तत्त्वशुद्धि के होने पर ही सही अर्थ में आत्मरूप का पता चलता है।

आत्मरूप

आत्मरूप का मतलब आत्मा के वास्तविक स्वभाव को पहचानना है। यह आत्मा शुद्ध अणु स्वरूप है। इसका वास्तविक स्वरूप आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों से आवृत है। यही इसकी अज्ञानावस्था है। आत्मा अज्ञानावस्था में इन्द्रियाभिमानी रहने के कारण विषय-वासना से ग्रस्त रहता है। दस कार्य साधना के फलस्वरूप तत्त्व- शुद्धि द्वारा जब उसमें सात्त्विक गुण उद्बुद्ध होते हैं, तो इससे वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने लगता है। जिस प्रकार तत्त्वरूप नामक उपाय से वह तत्त्वों के स्वभाव को जानता है, उसी प्रकार यहाँ अब वह तत्त्व से मुक्त आत्मस्वरूप को भी जान लेता है। इस स्तर में वह त्रिविध मलों से मुक्त हो जाता है, इसका अज्ञान का आवरण हट जाता है। अब इसमें आत्मदर्शन की इच्छा तीव्र होने लगती है।

आत्मदर्शन

अपने स्वरूप में स्थिति तथा उस स्वरूप का विमर्शन आत्मदर्शन कहलाता है। इसमें अपनी इच्छा नाम की कोई वस्तु नहीं है। व्यक्तिगत विचार और ज्ञान के बिना स्वरूप की प्राप्ति ही आत्मदर्शन है। साधक जब आत्मनिरीक्षण करने लगता है, तब उसे आत्मदर्शन से यह पता चलता है कि मैं अब तक अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया से सारा कार्य और व्यवहार चला रहा था, यह ज्ञान वास्तविक नहीं है, यह केवल भ्रम है। गुणविशिष्ट आत्मस्वरूप वास्तविक नहीं है। गुणों के कारण ही जीव की संसार में प्रवृत्ति होती है। इन सबसे मुक्त होने पर ही साधक अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकता है।

आत्मशुद्धि

आत्मशुद्धि एक गहन स्थिति है। इस स्थिति में साधक तत्त्वों से पूर्ण उदासीन होकर आत्मदर्शन के फलस्वरूप शिव के साथ एकत्व का अनुभव करता है। जब आत्मा पूर्ण रूप से शरणागत हो जाता है, तब वह बन्ध और मोक्ष से मुक्त हो जाता है, क्योंकि इस स्थिति में आत्मा की व्यक्तिगत इच्छा और क्रिया का कार्य नहीं रहता। वह शिवरूप के दर्शन की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

शिवरूप

आत्मशुद्धि की प्रक्रिया से साधक सभी तत्त्वों के सम्पर्क से मुक्त हो जाता है और अपने वास्तविक शिवस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब शुद्ध आत्मा तत्त्वों से मुक्त हो जाती है, तो क्षण भर के लिए वह बिलकुल शुद्ध रहती है। उस क्षण में वह अपने में केवल आत्मतत्त्व का अनुभव करती है, पश्चात् झट से शिवरूप का स्पर्श कर लेती है। इस अवस्था में इसको शिव के आकार का दर्शन प्राप्त होता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि शिव कोई व्यक्तिविशेष अथवा पृथक् सत्ता नहीं है, तब शुद्ध आत्मा शिव का किस प्रकार दर्शन कर सकती है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शुद्ध आत्मा शिव से अलग है, इस बात का अनुभव स्वयं करती है, तथा शिव को अपने से अलग देखती

है। सर्वज्ञत्व और व्यापकत्व आदि गुण शिव के ही हैं, इसका ज्ञान उसको हो जाता है। इतना ही नहीं, शिव माया के कारण तनु, करण, भुवन और भोग एवं आवर्त रूपी संसारचक्र का कारण है। शिव मल-परिपाक करा कर जीव का उद्धार भी करता है। वह परमगुरु बनकर शक्तिपात के द्वारा जीव का उद्धार करता है। शिव सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। सबके हृदय- पुण्डरीक में अङ्गुष्ठमात्र ज्योतिरूप है, इस स्थिति को वह जानता है। इस प्रकार साधक की शुद्ध आत्मा में शिव के इन स्वरूपों के भासित होने में कोई बाधा नहीं है। फलतः साधक को उपर्युक्त स्वरूपों का साक्षात्कार अपनी ही आत्मा में जब होता है, तब वह शिवरूप कहलाता है।

शिवदर्शन

दस कार्य की सातवीं भूमि में साधक जो अनुभव प्राप्त करता है, उसके फलस्वरूप, वह शिव के और समीप पहुँचता है। शिवरूपता के पुनः पुनः विमर्शन के अभ्यास से साधक की आत्मा परिपूर्ण शिवदशा के समीप पहुँचती है। यहाँ पहुँचने पर साधक अपने आपको शिवभाव के भीतर ठहरा हुआ सा पाता है। उसमें सर्वज्ञता आदि विभूतियाँ चमकने लगती हैं। इस तरह से वह अपने आपको शिववत् देखने लगता है। इसी को शिवदर्शन कहते हैं। शिव का यह सामीप्य ही शिवदर्शन नामक अष्टम सोपान है। जब वह अहंकार और ममकार से मुक्त होता है, तो अपने में ही शिवचरण और पराशक्ति की स्थिति का साक्षात्कार करता है। शिव को सब पदार्थों में देखना ही शिव का चरण-दर्शन समझना चाहिए। शिवानुग्रह रूपी शान्तता को ही शिव का किरीट समझना चाहिए। साधक शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। यह न कूटस्थ स्वरूप में है, न मायावस्था में है। पराशक्ति के साक्षात्कार के कारण इसको शिव की तरह पञ्चकृत्य करने की शक्ति प्राप्त होती है। पश्चात् यह साधक शिव के परमानन्द में एकता का अनुभव करता है। इस एकता को ही शिवदर्शन कहते हैं।

शिवयोग

साधक के जीवन में जो कुछ होता है, उसको वह शिवानुग्रह समझता है तथा शिव को ही सत्य मानता है। वह अपने सम्पूर्ण व्यवहार को शिवज्ञान

के परिप्रेक्ष्य में अनुभव करने लगता है। वह इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि भला-बुरा जो कुछ होता है, वह शिव की कृपा से ही होता है। जो कुछ विचार मेरे मन में आते हैं, इन सबका कारण शिव है, यह दृढ भावना उसमें रहती है। इस अवस्था में साधक प्राय: शिवभाव के ही विमर्शन में इस तरह से संलग्न बना रहता है कि अपनी जीवोचित सत्ता को मानों भूल ही जाता है। एकमात्र शिव की ही परिपूर्ण सत्ता उसकी ज्ञान-दृष्टि में चमकने लगती है। ऐसी दशा को शिवयोग की दशा कहते हैं। इस अवस्था में स्थित साधक को यह ज्ञान रहता है कि शिव की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। अत: वह इस प्रकार का व्यवहार करता रहता है कि अपनी व्यक्तिगत इच्छा नाम की चीज कुछ नहीं है। जो शिव की इच्छा है, वही मेरी इच्छा है, इस प्रकार की धारणा वह करता है। जब साधक अपने में शिवतादात्म्य का अनुभव करने लगता है, तो साधना के इस स्तर को शिवयोग कहते हैं।

शिवभोग

शिवयोग के परिवक्व हो जाने पर साधक को उस परिपूर्ण आनन्दघनता के चमत्कार की अंनुभूति होती है, जिस आनन्दघनता के सतत आवेग से परमेश्वर सृष्टि-संहार आदि पंचकृत्यों की लीला करता रहता है। ऐसी अनुभूति को शिवभोग कहते हैं। सिद्धांन्त शैवों के अनुसार मुक्त प्राणी इसी शिवभोग की अवस्था में सदा के लिए निमग्न हो जाता है। शिवभोग दस कार्यों का अन्तिम सोपान है। साधक को अपने कर्तृत्वाभिमान को हटाकर पूर्ण रूप से शिवोऽहं-भाव में रहना चाहिए। जब साधक का पूरा तादात्म्यभाव हो जाता है, अर्थात् शिव के साथ एक होने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, तो शिव ही उसके भोग-क्षेत्र का वाहक बन जाता है। इतना ही नहीं, वह साधक की आत्मा को पूर्ण रूप से विलीन कर लेता है, साधक के शरीर और आत्मा को अपना बना लेता है। साधक की खाना-पीना, चलना-फिरना, सोचना-विचारना जैसी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को शिव अपनी ही समझकर उनका संचालन करता है। इस शरणागत साधक के सब योग शिव के ही भोग होते हैं। इस प्रकार शिव साधक की आत्मा को किसी भी भेदभाव के बिना पूर्ण रूपान्तरित करता है और अपना बना लेता है। यह आगमों में वर्णित परा योग-भूमिका के सदृश है। साधक शिव के साथ युक्त होता है और अद्वैत अवस्था का अनुभव

करता है। इस स्तर का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। यही अन्तिम सोपान है। इसका केवल अनुभव होता है (स्पेशल लेक्चर्स ऑन शैवसिद्धान्त, पृ. १७६-१७९)।

नाद

नाद बिन्दुतत्त्व का प्रथम परिणाम है। बिन्दु इच्छाशक्ति से समाविष्ट शिव है, जो प्रकाश-प्रधान है। नाद उसीका विमर्श-प्रधान स्वरूप है। सदाशिव दशा नाद का ही बहि: प्रस्फुटन है। चित्तवृत्तिरूप ज्ञान में भी नाद व्याप्त है, क्योंकि वहाँ भी वस्तु-विमर्शन होता है। शुद्ध विमर्श नाद का सूक्ष्मतर स्वरूप है। उसका आकार परिपूर्ण 'अहं' है। बुद्धिवृत्तिरूप नाद विषयोन्मुख विमर्श है और सदाशिवात्मक नाद विद्यादशोचित भेदाभेदात्मक विमर्श है। शैव सिद्धान्त मत में ज्ञान आत्मा के साथ समवेत रूप से रहने पर भी यह नाद की उपाधि है। आत्मा के अनन्त ज्ञान के कारण नाद असंख्य है। भिन्न भिन्न ज्ञान बुद्धिवृत्ति न होकर नादवृत्त्यात्मक है। ज्ञानशक्ति की अतिसूक्ष्म स्थिति ही नादवृत्ति है। नादवृत्ति का मायावृत्ति के साथ सम्बन्ध होने के कारण सविकल्पक ज्ञान में प्रवृत्ति होती है। ज्ञान को बुद्धि की वृत्ति मान लेने पर शुद्ध भुवनों में स्थित अनन्तादि में सविकल्पक ज्ञान होना सम्भव नहीं होगा। माया के ऊपर बुद्धि तत्त्व की गति नहीं है। अत एव इस सिद्धान्त में नादतत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। बुद्धि द्वारा अध्यवसित विषय बुद्धि से उत्पन्न नहीं हो सकता। बुद्धि से अध्यवसित ज्ञान किसी भी इन्द्रिय से परिगृहीत अवश्य होगा। इसी प्रकार अन्त:संजल्प से विषयाध्यवसाय होता है। अक्षर बिन्दु रूप अन्त:संजल्प का कारण नाद है। यह नाद अन्त:संजल्प को उत्पन्न करता है। इसी नाद के कारण बुद्धि बाह्य विषय के प्रतिबिम्ब का अध्यवसाय कर लेती है। व्यक्त शब्द अन्त:संजल्प का बाहरी आकार है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय, तो अर्थ बुद्धिजनक नहीं है, नाद अन्त:संजल्प रूप से विषय को बुद्धि के सामने स्थापित करता है। बुद्धिकृत अध्यवसाय व्यक्त वर्णों द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुत: नाद शक्तितत्त्व का ही नामान्तर है। इसीलिए इसको शैव सिद्धान्त में स्वीकृत द्वितीय तत्त्व के रूप में मान्यता प्राप्त है।

नियति

माया के क्षेत्र में जितना भी व्यवहार चलता है, उसकी नियामिका नियति है। नियति के नियमों के अनुसार ही वस्तुओं का स्वभाव और प्रभाव बनता है। कार्यकारणभाव भी नियति के ही अधीन है और कर्मफलभोग का नियम भी। कीट से लेकर ब्रह्मा तक सभी प्राणी नियति के अधीन काम करते हैं। नियति से ऊपर विद्याक्षेत्र के प्राणी मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर होते हैं।

पञ्चकृत्यकारी

शिव यद्यपि निष्कल है, तथापि क्रीडार्थ यह पाँच प्रकार के कृत्य (कार्य) करता रहता है। ये कार्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह। इसीलिए इसको पञ्चकृत्यकारी कहा जाता है।

सृष्टि

पक्वमल और अपक्वमल दोनों प्रकार के पशुओं को क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध भोगों की निष्पत्ति के लिए बिन्दु अथवा माया में से उत्पादित शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि के साथ सम्बन्ध की योजना ही **सृष्टि** कहलाती है। तत्त्वप्रकाश की कुमार-वृत्ति में उद्धृत शैवरहस्य के अनुसार सृष्टि पाँच प्रकार की है—भाव, तत्त्व, भुवन, भूत और प्रत्यय।

स्थिति

शिव का यह पालक कृत्य है। इस संसार को कर्मफलभोग के अनुसार चिरकाल तक चलाए रखने के कृत्य को **स्थिति** कहते हैं।

संहार

उत्तर-उत्तर तत्त्व को पूर्व-पूर्व तत्त्व में विलीन करने के कृत्य को **संहार** कहते हैं। इस स्थिति में कार्यों का लय हो जाता है। सभी जागतिक कार्य अपने-अपने उपादानों में सूक्ष्म रूप में सिमट जाते हैं।

तिरोधान

तिरोधान तिरोभाव भी कहलाता है। सृष्टि में जीव के वास्तविक स्वभाव को जो छिपाता ही जाता है और प्राणियों को बन्धन के गर्तों में ढकेलता जाता

है, वह कृत्य शिव का तिरोधान व्यापार है। जीव को पाशों से आच्छादित कर देना ही शिव का तिरोधान कार्य है। वस्तुतः तिरोधान व्यापार का प्रयोजन अन्ततः अणुओं पर अनुग्रह करना ही है।

अनुग्रह

अनुग्रह परमेश्वर के उस कृपात्मक कृत्य को कहते हैं, जो जीवों को मोक्षमार्ग में आगे-आगे बढ़ने के प्रति प्रेरणा देता है और इस कार्य में उनकी सहायता करता है। ईश्वर अपनी शक्ति से पशुओं के आवरण को दूर करके उनको भोग तथा मोक्ष प्रदान करता है। पशुओं को अणिमा आदि सिद्धियों का भोग करवाता है। ईश्वर ही विश्व की उत्पत्ति की हेतुभूत समस्त शक्तियों में स्पन्दन-व्यापार को उत्पन्न करता है। भक्ति और श्रद्धा के तारतम्य से उत्कृष्ट, मध्य और अपकृष्ट रूप से जीव अनुग्रह को ग्रहण करते हैं। वस्तुतः ज्ञानशक्ति के द्वारा अज्ञानरूपी मल को हटाकर अपने स्वतन्त्र शिवस्वरूप का बोध कराना ही अनुग्रह व्यापार का प्रयोजन है (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २०-२१; तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. ३२; शतरत्नसंग्रह, पृ. ३६; मृगेन्द्रागम, पृ. ३८)।

पंचमन्त्रतनु

शिव जिस सूक्ष्मतर शरीर में प्रकट होकर जीवों पर विविध प्रकार से अगुग्रह की लीला को निभाते हैं, उस शरीर के पाँच मुख हैं, जिन्हें ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर कहते हैं। ये ईशान आदि पाँच मन्त्रों के प्रतिनिधि हैं। इन्हीं से भगवान् शिव का शरीर बनता है। अतः इस रूप में शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है। मतंग पारमेश्वर, विद्या. (४.१४-१५) में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

ईशान

ईशान मन्त्र का स्वरूप यह है—"ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवः॥" यह सभी प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। इसका स्वभाव अनुग्रह करने वाला है। शिव इस स्वरूप में रहकर मल-रहित जीवों को शिवत्व प्रदान करता है। इससे कामिक आदि दस शिवागमों की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति अन्य चार मुखों के ऊपर

शीर्ष स्थान में हैं। मतङ्गपारमेश्वरागम में शिव को ईशानमूर्धा कहा गया है। ईशान शिव का चित्-शक्तिप्रधान स्वरूप है। इस मुख का वर्ण अन्य चारों के वर्णों के सम्मिश्रण से बना हुआ है (मतङ्ग, पृ. १३; पाशुपतसूत्र, पृ. १४५-१४६)

तत्पुरुष

तत्पुरुष के मन्त्र का स्वरूप यह है—"तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥" तत्पुरुष शिव का पूर्वाभिमुख है। इसका अभिप्राय यह है कि महामायारूपा व्यापिनी शक्ति निरन्तर स्पन्दित होती रहती है। वह शक्ति सतत शिव के साथ रहती है। प्रत्येक मन्त्रतनु में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का स्फुरण होता रहता है। गणकारिका में सब प्रकार की विद्याओं और उनके कार्यों की व्यापक अधिष्ठान स्वरूप अधिष्ठातृ शक्ति को पूरणी कहा जाता है और नाना प्रकार के शरीरों का निर्माण करने वाली शक्ति को पौरुष्य कहते हैं। ये दोनों स्वभाव भगवान् शिव के हैं। अत एव इसको तत्पुरुष कहते हैं। इसको जगत् की स्थिति का निमित्त भी बताया जाता है। तत्पुरुष शिव का निवृत्ति-शक्तिप्रधान स्वरूप है। इस मुख से शिव ने ललित, अनल और वातुल इन तीन आगमों का उपदेश किया। तत्पुरुष मुख का वर्ण लाल माना गया है (पाशुपतसूत्र, पृ. १०७-१०८; मतङ्ग, पृ. ८९)।

अघोर

अघोर मन्त्र का स्वरूप यह है—"अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः शर्व सर्वेभ्यः नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥" अघोर का अर्थ है अतिशान्त अनुग्रहशील स्वरूपयुक्त शिव और अपरिमित स्वरूप विशिष्ट शिव। घोर शब्द का अर्थ है अशान्त जीव। इन पर अनुग्रह शिव ही कर सकता है। शिव के अनन्त रूप हैं, जो पशुओं को संमोहित करते हैं। इसको शर्व भी कहा जाता है। यह सब प्रकार की विद्याओं का प्रेरक भी है। गणकारिका में कहा गया है कि शिव जगत् के जीवों को सुख प्रदान करने के लिए नाना प्रकार के शरीर धारण कर उनमें अधिष्ठित होता है। वही स्वरूप अघोर है। इसको शर्व इसलिए कहा जाता है कि यह जीवों को अपने शरण में लेता है और उनकी रक्षा करता है। अत एव इसको अघोर शिव मानते हैं। इसको बहुरूप भी कहते हैं। मृगेन्द्रागम में दीक्षारहित क्षत्रिय के उच्छिष्ट का स्पर्श करने पर इस मन्त्र से शुद्धि करने

का विधान बताया है। जीव अघोर मन्त्र के जप से भोग, आयु और सुन्दर अवस्था को प्राप्त कर सकता है। यह अघोर मन्त्र ही शिव का हृदय है। इसीलिए यह अघोर-हृदय के नाम से जाना जाता है। अघोर शिव का दक्षिणाभिमुख मुख है। इसका वर्ण श्याम है और यह शिव का क्रियाशक्तिप्रधान स्वरूप है। इस मुख से शिव ने स्वायम्भुव आदि पाँच रौद्र आगमों का उपदेश किया है। इनसे दक्षिणाचार का विस्तार हुआ (मतङ्गवृत्ति, पृ. ८७; मृगेन्द्रवृत्ति, च०पा० पृ. १३४; पाशुपतसूत्र, पृ. ८९)।

वामदेव

वामदेव मन्त्र का स्वरूप यह है—"वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमो कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः॥" शिव का यह रूप अत्यन्त सुन्दर है। इसीलिए इसको वामदेव (वाम=सुन्दर) कहा जाता है। शिव अपनी कलाओं से विश्व की रचना करता है। अत एव इसको विश्वराट् कहते हैं। यह विपरीत धर्मप्रधान वामा देवी का स्वामी है। वामा जगत् का वमन करती है, अर्थात् जगत् को बाहर निकालती है, अत एव इसको वामा कहते हैं। इस शक्ति का देव वामदेव है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री तीन शक्तियाँ हैं। इनकी व्याख्या अन्यत्र की गई है। इनमें वामदेव जब वामा शक्ति के साथ जगत् की रचना का कार्य करता है, तब इसको वामदेव कहा जाता है। यह अपनी वामा शक्ति के साथ सृष्टि के प्रसंग में अपनी कलाओं से काल की सृष्टि करता है। इसीलिए यह कालरूप माना जाता है। इतना ही नहीं, यह काल की रचना के साथ देश की भी रचना करता है। यह कलाओं की सृष्टि करता है, अत एव इसको कलविकरण भी कहा जाता है। कर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि को बल प्रदान करता है, अत एव इसको बलप्रमथन कहते हैं। सभी चैतन्ययुक्त प्राणियों के कष्ट को हटाता है, अत एव इसको सर्वभूतदमन के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। वामदेव शिव के उत्तराभिमुख बायें चेहरे का नाम है। इसका वर्ण पीला माना गया है। यह शिव का ज्ञानशक्तिप्रधान स्वरूप है। इस मुख से शिव ने सिद्ध, सन्तान आदि पाँच रौद्र आगमों का उपदेश किया। वामाचार इन्हीं से परिस्पन्दित हुआ (पाशुपतसूत्र, पृ. ७२-७४; मतङ्गवृत्ति, पृ. ८९)।

सद्योजात

सद्योजात मन्त्र का स्वरूप यह है—"सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः। भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः।।" शिव अनादि है, जन्म-मृत्यु से रहित है, देव, मनुष्य, तिर्यक् जीवों का ईश्वर है। कर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य प्रदान करने वाला तथा सृष्टि का कर्ता है। यह अविनाशी है। जन्ममृत्युरहित निरंजन भगवान् है। इस मुख से भी आगमों का निर्गम होता है। इसका शरीर मन्त्रमहेश्वर आदि की तरह बैन्दव भी नहीं है, अपितु ज्ञानक्रियात्मक है। स्वयं अपनी इच्छाशक्ति के कारण यह गृहीत है। इस स्वरूप को इसलिए शरीर कहा जाता है कि यह कर्ता है। इसको सद्योमूर्ति इसलिए कहा जाता है कि सृष्टि निर्माण की इच्छामात्र से यह मूर्तित्व की प्राप्ति करता है। नाना प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति का भी यही कारण है। अणुओं को तुरन्त स्वरूप की प्रांप्ति कराता है। सद्योजात मन्त्र का विधान संन्यासी और अन्य मतों के अनुयायियों के लिए भी किया गया है।

सद्योजात पंचमुख शिव के पश्चिमाभिमुख वक्त्र का नाम है। इस मुख का वर्ण शुक्ल है। सद्योजात शिव का इच्छाशक्तिप्रधान स्वरूप है। इस मुख से शिव ने विजय आदि पाँच रौद्र आगमों का उपदेश किया (मतङ्गवृत्ति, ९०; मृगेन्द्र. चर्या. १.११२)।

पति

यद्यपि शैव सिद्धान्त के स्वायंभुव आगम में सात, पौष्कर आगम में छः, पराख्य- संहिता में पाँच पदार्थ माने गए हैं, किन्तु अधिकांश शैव सिद्धान्तवादी रौरवागम के अनुसार तीन ही पदार्थ मानते हैं—पति, पशु और पाश। पति और पशु से भिन्न अन्य सभी पदार्थों का पाश में ही समावेश कर दिया जाता है। सर्वदर्शनकार सायण-माधव ने अपने ग्रन्थ में शैवसिद्धान्त दर्शन का विवरण देते हुए इसी मत का अनुसरण किया है। शैवपरिभाषा (पृ. २८), शैवसिद्धान्त-परिभाषा (पृ. १८) आदि ग्रन्थों में भी इसी मत का अनुसरण किया गया है।

इन्द्र पद से जैसे देवेन्द्र का, भामापद से जैसे सत्यभामा का ग्रहण होता है, उसी तरह से पति शब्द से पशुपति भगवान् शिव का ग्रहण होता है। यह पशुपति पशुओं का, अर्थात् जीवों का पालन करनेवाला है। अनन्त होने से

यह अप्रमेय, बुद्धि का विषय न होने से अनिर्देश्य है, उपमानविहीन होने से अनुपमेय है, अत्यन्त विमल होने के कारण अनामय है, स्थूलता से प्राप्त न होने के कारण सूक्ष्म है, व्यापक होने के कारण अव्यय है, स्वामिभाव के कारण यह ईश्वर कहलाता है। पञ्चकृत्य इसका तटस्थ लक्षण है। परमशिव और आत्मशिव भेद से यह दो प्रकार का है।

परमशिव

परमशिव को परतन्त्र मानने पर उसके स्वातन्त्र्य अनुग्राहक किसी अन्य तत्त्व की परिकल्पना करनी पड़ेगी और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष की आपत्ति होगी। अत: परमशिव अपने आपमें पूर्ण स्वतन्त्र है, इसमें स्वाभाविक स्वातन्त्र्य रहता है। यह एक है और अनादिसिद्ध है। यही शैव सिद्धान्त शास्त्र में पञ्चमन्त्रतनु और पञ्चकृत्यकारी माना जाता है।

आत्मशिव

शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या तत्त्व के आश्रित आत्मशिव है। इनकी लय, भोग और अधिकार नामक तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन्हींको क्रमश: निष्कल, निष्कलसकल और सकल नाम से अन्य शास्त्रों में जाना जाता है। शिव, शक्ति, नाद और बिन्दु का निष्कल अवस्था में, सदाशिव का सकलनिष्कल अवस्था में तथा ईश्वर (रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति) और विद्या का सकल अवस्था में समावेश किया जाता है।

अवस्था के भेद से भी पति के शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक तीन भेद शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित हैं—

शक्त

जब उपादानकारण में सारा जगत् लीन हो जाता है, उस स्थिति में भी पशुपति भगवान् शिव इस सारे कार्य जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त रहते हैं। अत: इस अवस्था वाले शिव को शक्त कहा जाता है।

उद्युक्त

जब भगवान् शिव की कार्यजगत् को उत्पन्न करने में प्रवृत्ति जागती है, तो इससे युक्त होने के कारण पति उद्युक्त कहलाता है।

प्रवृत्त

जब शक्ति इस जागतिक प्रपञ्च को लगातार चलाती रहती है, तो पति प्रपञ्चोत्पादक शक्ति से युक्त हो जाता है, अतः वह प्रवृत्त कहलाता है (तत्त्वप्रकाश, पृ. २१; शतरत्नसंग्रह, पृ. १६; मृगेन्द्र, पृ. १३; शैवपरिभाषा, पृ. २९-३०; रत्नत्रय, पृ. १०४; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. १९)।

पशु

यह शैव सिद्धान्त सम्मत द्वितीय अस्वतन्त्र (पराधीन) पदार्थ है। पशु देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न नित्य, चिदात्मक, अनेक, विभु और कर्ता है। यह अनादि मल से आवृत है। इनका ज्ञान पाश के कारण आवृत रहता है। अन्य दर्शनों में वर्णित जीवात्मा ही शैव दर्शन में पशु नाम से जाना जाता है। पशुपति भगवान् शिव का अनुग्रह होने पर इनके सब पाश छूट जाते हैं और इसको अपने वास्तविक स्वरूप का बोध उत्पन्न हो जाता है। यह पशु भी केवलावस्थ, सकलावस्थ और शुद्धावस्थ भेद से तीन प्रकार का है—

केवलावस्थ

देह, इन्द्रिय आदि के बन्धन से छूटा हुआ, परन्तु फिर भी शिवज्ञान से रहित पशु केवलावस्थ कहलाता है। वह न कुछ जानता है और न करता है, आकाशवत् शान्त भाव में पड़ा रहता है।

सकलावस्थ

सूक्ष्म शरीरों को लगातार धारण करते हुए ही अपने कर्मों के अनुसार स्थूल शरीरों को बदलता हुआ तथा कर्मफल भोग में संलग्न पशुप्रमाता सकलावस्थ पशु कहलाता है।

शुद्धावस्थ

जब कर्मसाम्य होता है और कर्म की फलप्रदा शक्ति क्षण भर के लिए शिथिल हो जाती है, तो आवरण शक्ति भी ढीली हो जाती है और शिव की करुणा की लहर जीव तक पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में जीव पर उसके लिए निश्चित उपयुक्त मात्रा में शिव का अनुग्रह (शक्तिपात) हो जाता है। तब गुरु

की कृपा से उस जीव के आणव, मायीय और कार्म मल क्षीण होने लग जाते हैं। मलों के नष्ट हो जाने पर उसमें शिवानन्द की अभिव्यक्ति होती है। यही शिवभोगमयी दशा आत्मा की शुद्धावस्था है।

यह पशु विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से भी तीन प्रकार का होता है—

विज्ञानाकल

कार्म और मायीय मल से छुटकारा पाने पर अपरिमित ज्ञान और क्रियाशक्ति को ढकने वाला जो आणव मल है, केवल उसी से आवृत जीव विज्ञानाकल कहलाते हैं। कर्मक्षय हो जाने पर भी इनमें सङ्कोचरूपी मल रहता है। अत एव ये शिवसाम्य अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। ये जीव अशुद्ध माया के ऊपर और शुद्धविद्या के अधोभाग में प्रतिष्ठित रहते हैं। अशुद्ध माया से मुक्त होने के कारण ये शुद्ध माया में प्रवेश कर सकते हैं, तथापि तीव्र शिवानुग्रह के अभाव के कारण इन दोनों क्षेत्रों के बीच में इनकी स्थिति रहती है। शैव सिद्धान्त के अनुसार विज्ञानकेवल जीव दो प्रकार के हैं—प्रशान्तकलुष और अप्रशान्तकलुष।

प्रशान्तकलुष — ये अमित तेज वाले होते हैं। अधिकार के प्रति वैराग्य हो जाने पर मलपरिपाक के तारतम्य के अनुसार ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर परम मुक्ति को प्राप्त् करते हैं। इन जीवों में मलपरिपाक को देखकर शिव इन्हें शुद्ध अध्वा में नियोजित करते हैं। कुछ ग्रन्थों में प्रशान्तकलुष विज्ञानाकल समाप्तकलुष के नाम से भी अभिहित हुए हैं।

अप्रशान्तकलुष — इन जीवों को शिव भोग में प्रवृत्त करा देते हैं। इनमें योजित अणु ऊँचे-ऊँचे लोकों में विविध भोगों को भोगते हुए शिवेच्छा से अधिकार में प्रवृत्त होते हैं। अप्रशान्तकलुष का ही दूसरा नाम असमाप्तकलुष है।

प्रलयाकल

जो अणु प्रलय काल की सी कारणकार्यरहित अवस्था में रहते हैं तथा जिनके करणों का प्रलय काल में लय हो जाता है, उन्हें प्रलयाकल कहते

हैं। इनमें आणव और मायीय दो प्रकार के मल रहते हैं। पक्वमल प्रलयाकल और अपक्वमल प्रलयाकल भेद से ये दो प्रकार के हैं। पक्वमल प्रलयाकलों को शिव भुवनाधिपतित्व प्रदान करते हैं। जिनका मल पक्व नहीं है, ऐसे प्रलयाकल प्राकृत भोग के वशीभूत होकर पुर्यष्टक से युक्त सकल जीव बन जाते हैं।

सकल

यह प्राणी तीनों मलों से आवृत होकर रहता है। अन्त:करण और बाह्यकरण रूप कलाएँ सदैव इसके साथ लिपटी रहती हैं। यह संसार में संचरण करता है, अत: इसे संसारी कहते हैं। विषयों में आसक्त रहता है, इसलिए इसे विषयी भी कहते हैं। यह भोगों को भोगता है, अत एव यह भोक्ता कहलाता है। अपनी शक्ति को क्षेत्र में, अर्थात् स्थूल शरीर में व्यक्त करने के कारण क्षेत्रज्ञ के नाम से विख्यात है। तीन प्रकार के सकल जीव शास्त्रों में वर्णित हैं—

सांसिद्धिक — पूर्व जन्म में कृत साधना के द्वारा शिव का साक्षात्कार करने वाले वामदेव प्रभृति सांसिद्धिक सकल जीव हैं।

वैनयिक — जो जीव गुरु में श्रद्धा रखकर नम्रता से गुरु से दीक्षा प्राप्त कर लेता है और शैवशास्त्र का ज्ञाता बन जाता है एवं तदनुसार साधना करता है, वह वैनयिक कहलाता है।

प्राकृत — प्रकृतिजन्य देह और इन्द्रिय में अभिमान रखकर भोगलोलुप जीव प्राकृत कहलाता है (शैवपरिभाषा, पृ. ४४, ६५-६६; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २४; तत्त्वप्रकाश, पृ. ४६; शतरत्नसंग्रह, पृ. ६४; रत्नत्रय, पृ. १२)।

पाश

शिवानन्द की अभिव्यक्ति को रोकने वाला तत्त्व पाश कहलाता है। इसीके कारण सकल पशु संसार का अनुभव करते हैं। पाश अर्थपञ्चक, अर्थात् मल, कर्म, माया, मायोत्थित जगत् और तिरोधान शक्ति के भेद से पाँच प्रकार का है। मतान्तर से आणव मल, तिरोधान शक्ति, बिन्दु, माया और कर्म की परिगणना अर्थपञ्चक में की गई है। इसमें से आणव मल पशु के स्वरूप को आच्छादित कर देता है। तिरोधान शक्ति इस आणव मल की प्रेरिका है। बिन्दु,

माया और कर्म भोग और भोग्य पदार्थों की सृष्टि के द्वारा वैषयिक सुखों में लिप्त कराने के कारण पाश के ही अन्तर्गत आते हैं। इनमें से मल, कर्म, माया और मायोत्थित जगत् ये चार जडरूप माने गए हैं, जब कि तिरोधान शक्ति चिद्रूप होने पर भी पाश की अनुग्राहिका होने से पाश कहलाती है।

तत्त्वप्रकाशकार ने (पृ. ४३) मल, कर्म, माया और तिरोधान शक्ति नामक चार ही पाश माने हैं। शैवसिद्धान्तपरिभाषाकार मल, कर्म और माया के भेद से पाश के तीन ही प्रकार मानते हैं। यह अन्तिम पक्ष ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी स्वीकृत है (शैवपरिभाषा, पृ. ७३; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २९)।

पुत्रक

दीक्षा और अभिषेक की भिन्न-भिन्न विधियों के अनुसार आचार्य, समयी, पुत्रक और साधक भिन्न-भिन्न प्रकार की साधना करने के अधिकारी बनते हैं। जिस व्यक्ति को मध्य शक्तिपात होता है, वह पुत्रक कहलाता है। इसमें भक्ति की मात्रा बढ़ जाती है। दीक्षा के कारण इसके प्राक्तन अज्ञान के संस्कार ढ़ीले पड़ते जाते हैं। इसका जन्म वागीश्वरी के गर्भ से होता है। वह वागीश्वरी का पुत्र बन जाता है, अत एव इसको पुत्रक कहते हैं (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. ४-५)।

पुत्रक-धर्म

समयी जब विशेष दीक्षा का अधिकार-लाभ करता है, तो उसको शिवपूजा और आगम का अध्ययन करना पड़ता है। यह पुत्रक-धर्मानुष्ठान कहलाता है। शिव की मानसिक पूजा प्रशस्त मानी गई है। उसका अधिकारी पुत्रक होता है (शैवपरिभाषा, पृ. १४१)।

पुर्यष्टक

त्रिशतीकालोत्तर नामक आगम-ग्रन्थ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ और मन, बुद्धि तथा अहंकार इन तीनों को मिलाकर आठ तत्त्व पुर्यष्टक के नाम से कहे गये हैं। लोक-लोकान्तर में आने जाने का साधन बना हुआ यह पुर्यष्टक ही सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर की भौतिक स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी प्रलयकाल तक स्थिति मानी जाती है। यह

अपने कर्म-संस्कार के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध लोक-लोकान्तर में प्रवेश पाता है और वहाँ विविध भोगों को भोगता है। यह औपाधिक शरीर है (शैवपरिभाषा, पृ. १३१)।

प्रकृति

प्रकृति छत्तीस तत्त्वों में से एक तत्त्व है। इसको त्रिगुणात्मिका सृष्टि का कारण मानते हैं। यह श्रीकण्ठ की शक्ति के क्षोभ से उत्पन्न होती है। तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति मानते हैं। पौष्कर आगम में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रकृति गुणों की साम्यावस्था नहीं है, अपितु यह भोग कराने में कारणभूता है। इसी प्रकृति के कारण पुरुष की भोग में प्रवृत्ति होती है। गुण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सब तत्त्वों का उपादानरूप प्रकृति तत्त्व है (शैवपरिभाषा, पृ. १०३)।

बिन्दु

शैव सिद्धान्त के अनेक ग्रन्थों में छत्तीस तत्त्वों के अन्तर्गत बिन्दु को प्रथम स्थान दिया गया है। इसको शिव शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है (रत्नत्रय, श्लो. ७१)। यह एक और नित्य है। शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या इन चार शुद्ध तत्त्वों के शरीर बिन्दु तत्त्व से ही बने हैं, अर्थात् इनका शरीर बैन्दव माना जाता है। यह भुवनेश्वरों की आराधना करने पर तथा दीक्षा-प्राप्त साधकों की अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति से प्रकट होता है। इसी बिन्दु के परनाद, कुण्डलिनी, ब्रह्म प्रभृति पर्याय नाम है (तत्त्वप्रकाश, पृ. २७)।

बिन्दु परमात्मा की शक्ति है। इसे परिग्रहा अथवा उपादान शक्ति भी कहते हैं। चिद्रूपा शक्ति के कारण परिग्रहा शक्ति में क्षोभ होता है। जैसे समुद्र में वायु के आघात से तरंग उठती है, वैसे ही बिन्दु में लहरें उठती हैं। नाद और ज्योति ही इसकी लहरें हैं। मन्त्रों, मन्त्रेश्वरों और मन्त्रमहेश्वरों का शरीर बैन्दव होता है।

परबिन्दु

परमकारण व्योमाकार शिवतत्त्व में सभी शब्दों का कारणभूत अत्यन्त सूक्ष्म नाद अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान है। इसीको परबिन्दु कहा जाता है। शक्ति तत्त्व के आविर्भाव काल में सभी शब्द-समुदाय के केन्द्र में स्थित स्फोट

रूपी तत्त्व यही है। इससे सम्बद्ध शक्ति तत्त्व भी परबिन्दु नाम से व्यवहृत है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. ४४; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २३)।

मन्त्र (प्रमाता)

मन्त्र एक विशेष प्रकार के प्रमाता का नाम है। मन्त्र शब्द का अर्थ है सर्ववेदित्व, अर्थात् सबको जानने की शक्ति। संसारी जीवों पर अनुग्रह करने का सामर्थ्य मन्त्र में है। मन्त्र की संख्या सात करोड़ है। ये शिव और शक्ति से अनुगृहीत हैं। ये शुद्धविद्या तत्त्व में रहते हैं (भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. ३३९-३४०; तत्त्व- प्रकाश, पृ. ३८)।

मन्त्रार्थ

योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत पटल में छः प्रकार के मन्त्रार्थों का विवरण मिलता है। सब प्रकार के कारणों के कारणभूत परमेश्वर ही गुरु हैं। उन्हींके मुख से अनन्त मन्त्र निकलते हैं। उनका परम्परागत ज्ञान सम्प्रदायार्थ कहलाता है। मन्त्रों के अवयवभूत अक्षरार्थ को जानना भावार्थ कहलाता है। परमेश्वर ही स्वात्मा में गुरुरूप से स्थित है। इस प्रकार इन तीनों का ऐक्यानुसन्धान निगर्भार्थ कहलाता है। निष्कल और निरवयव परमेश्वर स्वयं गुरु हैं। चक्र, विद्या, गुरु और साधक में ऐक्यानुसन्धान करना कौलिकार्थ है। मूलाधार रूप कुण्डलिनी स्वात्मस्वरूप है, ऐसी भावना करना ही रहस्यार्थ है। निष्कल तत्त्व अणु से अणुतर और महत् से महत्तर स्वरूप का है। इसका गुरु के द्वारा प्रबोधित होकर अपने निर्मल आत्मरूप में ऐक्यानुसन्धान करना महातत्त्वार्थ कहलाता है। मन्त्रों का मनन करने से मन्त्रार्थ की प्रतीति होती है और अन्त में मन्त्रचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। तभी ये मन्त्र परतत्त्व की प्राप्ति के उपाय बनते हैं (तत्त्वप्रकाश, पृ. ३४; भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ. ३३९-३४०)।

मन्त्रेश्वर

ये शुद्ध प्रमाता हैं। इनका बोध अणुओं को वर्ग रूप में होता है। मन्त्रावस्था में शुद्ध अणु अपना अलग-अलग बोध रखते हैं। ये अपने एक वर्ग में अपना बोध प्रतिष्ठित किए रहते हैं। इनको मन्त्रों की तरह व्यक्तिगत बोध नहीं रहता। इनकी वर्ग रूपी अणुओं में संवेदना रहती है। ये ईश्वर तत्त्व में अधिष्ठित रहते हैं। ये मन्त्रों के अधिपति हैं। यह कदापि भूलना नहीं चाहिए कि जो मन्त्र

शुद्धाध्ववर्ती हैं, वे शुद्ध मन्त्र कहलाते हैं। इन्हींमें अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी— इन आठ विद्येश्वरों की गणना की जाती है। शुद्ध और अशुद्ध अणु और उनके अधिपति मन्त्रेश्वर अथवा विद्येश्वर कहलाते हैं।

शुद्ध मन्त्रों से विद्येश्वर बनते हैं। इनमें जीवों को जप आदि के फलप्रदान करने की शक्ति है। इनमें कतिपय शिव द्वारा निर्मित होते हैं और कतिपय मन्त्रों से मन्त्रेश्वर बनते है (तत्त्वसंग्रह, पृ. ४०-४२)।

मन्त्रमहेश्वर

सदाशिव तत्त्व से अधिष्ठित अणुओं को मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है। इनमें सब अणुओं का अभिन्न एवं एकत्वमय बोध रहता है। ये मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रों के अधिपति हैं। इनका मण्डल भी एकत्व का बोधक है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर—इन सबको अधिकार प्राप्त रहता है और इन सबका बैन्दव शरीर है। ये अपर मुक्ति में शिव के अनुग्रह के द्वारा जीवों को अनुगृहीत करते हैं। इन सबके अनुग्रह से प्राप्त मुक्ति पूर्ण मुक्ति नहीं है। ये अधिकारपद दे सकते हैं, किन्तु पूर्ण मुक्तिलाभ कराने का सामर्थ्य इनमें नहीं है। ये अधिकार मल से युक्त हैं। ये सभी एक दृष्टि से पशु-अणु हैं। ये अधिकारी पुरुष हैं, किन्तु स्वतन्त्र नहीं हैं। ये जो कुछ करते हैं, उसमें शिव की प्रेरणा रहती है। शिव की प्रेरणा के बिना ये कुछ नहीं कर सकते। ये मन्त्र और मन्त्रेश्वरों से श्रेष्ठ हैं। इनको महाप्रलय में मुक्तिलाभ हो सकता है। मन्त्रमहेश्वर पद से भी ये परमेश्वर अथवा शिव बन सकते हैं (तत्त्वसंग्रह, पृ. ४०)।

मल

शैव सिद्धान्त में अज्ञान को ही मल कहा जाता है। यह द्रव्य रूप है। यह स्वभाव से पूर्ण अन्धकार के सदृश है। इसे मल, मृत्यु, नीहार, अंजन, पशुत्व, अविद्या आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। यह नित्य है। प्राणी की ज्ञान और क्रिया शक्ति को यह आच्छादित कर देता है। यह अनादि है। शिव की इच्छा से यह माया को भी प्रसवाभिमुख करता है और यह माया कला आदि को उत्पन्न करती है। यह आत्मा का अनादि आवरण है। यह दीक्षा से पककर निवृत्त हो जाता है (शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २९; तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. ५६-५७; भोगकारिका, पृ. ६५; शतरत्नसंग्रह, पृ. ३७)।

मलपरिपाक

असंख्य जन्मों में कर्मफल का भोग करते हुए जीव की धर्म में प्रवृत्ति बढ़ जाने से मल परिपक्व होकर नष्ट हो जाने के योग्य बन जाता है। इसीको मलपाक कहते हैं। इसके मूल में भी शिव की ही अनुग्रह-शक्ति काम करती है। मल के पक जाने पर, शक्तिपात के चिह्नों के लक्षित होने पर योग्य गुरु दीक्षा के द्वारा शिष्य के देह, इन्द्रिय आदि के मलों को दूर कर उसको शिवभाव की तरफ उन्मुख करता है, अज्ञान के आवरण को हटा कर उसके ज्ञानचक्षु को उन्मीलित कर देता है (शैवपरिभाषा, पृ. १३४; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. २६)।

माया

शैव सिद्धान्त के तीन पाशों में से एक पाश माया है। माया को पाश इसलिए कहा गया है कि यह अशुद्ध सृष्टि का कारण है। पौष्करागम के कथनानुसार यह विश्व को जीव के सामने स्फुरित करती है, अतः इसको माया कहते हैं। यह भगवान् शिव की परिग्रहशक्ति है। यह कला से लेकर पृथ्वी तक तत्त्वसृष्टि की उपादानभूता जड शक्ति है। सृष्टि का मूल कारण होने से इसको नित्य मानते हैं। यह वेदान्तियों की माया की तरह असद्रूपा नहीं है (शैवपरिभाषा, पृ. ८७-८९; शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ. ३२-३३; शैवदर्शनबिन्दु, पृ. २०)।

राग

"रज्यतेऽनेनेति रागः"। अर्थात् यह अणुओं को विषयादि में बाँधता है, अत एव इसको राग तत्त्व कहते हैं। अणुओं में जो अभिलाषा को उत्पन्न करता है, वह राग तत्त्व है। रौरवागम के अनुसार कला तत्त्व से राग और विद्या तत्त्व की उत्पत्ति मानी जाती है। यह अणु को अपनी शक्तियों का संकोच कराकर क्रमशः देह और इन्द्रियों के द्वारा विषयों में रंजित करा देता है। यह राग तत्त्व पुरुष की विषय में आसक्ति कराने में सामान्य कारण है। कुछ लोग राग तत्त्व को बुद्धि का धर्म मानते हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि राग बुद्धि-धर्म से विलक्षण है। बुद्धि विषय का प्रदर्शन करते हुए पुरुष की प्रवृत्ति में कारण बनती है, किन्तु राग तत्त्व पुरुष की विषय में प्रवृत्ति का कारण है। यह राग स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है। शीघ्र भोग में प्रवृत्त कराने वाला स्थूल राग

है। विरक्त पुरुषों को जो आचार्यान्वेषण में प्रवृत्त कराता है, यह सूक्ष्म राग है। यह शिव को उद्देश्य करके प्रवृत्त कराता है (मृगेन्द्रागमदीपिका, पृ. २६१; तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. १०२-१०३)।

विद्या

पुरुष में कला के कारण कर्तृत्वभाव पैदा होता है। इसको विषयानुभव कराने के लिए कला प्रकाशस्वरूप विद्या तत्त्व को उत्पन्न करती है। शैवरहस्य में माया तत्त्व से विद्या तत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है। यह विद्या ही अपने सामर्थ्य से ज्ञान शक्ति का तिरोधान करके उसको विषयसमूह का दर्शन कराती है। यह जीव को संसार मार्ग में लगाने में प्रकृष्ट कारण है।

सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका बुद्धि सुख, दुःख और मोह रूप से परिणत होकर पुरुष को भोक्ता बनाती है और स्वयं भोग्य बनती है। इन सबको बनाने में विद्या ही कारण है। बुद्धि स्वप्रकाश नहीं है, अतः वह चित्त का भी कारण नहीं बन सकती, क्योंकि वह भी जड़ है। अत एव यह कार्य विद्या का है। यही बुद्धि का कारण बन सकती है (तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, पृ. ९९-१००)।

शक्ति

शिव के साथ रहने वाली शक्ति जब सक्रिय होती है, तो अनन्त विश्ववैचित्र्य का स्फुरण होता है। शिव-शक्ति, अर्थात् चिच्छक्ति शिव के साथ नित्य सम्बद्ध होकर भी पृथक् रूप से दृष्टिगोचर होती है। इस शक्ति का नाम पराशक्ति है। यह पराशक्ति ही परशिव की निजशक्ति है। यही अखण्ड अनुग्रहरूप एवं करुणामय है। यह करुणारूपी शक्ति अनादि काल से बद्ध जीवों को मुक्त करके अपने साथ पूर्ण रूप से अभिन्नता में लाने के लिए क्रियाशील रहती है। यह शक्ति परम अनुग्रह रूप है, इसलिए यह सर्वमंगला कही जाती है। सृष्टि, स्थिति और संहार इसके आत्मप्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परमशिव की अनुग्रह शक्ति पराशक्ति है। यह अनुग्रह शक्ति अणुरूपी जीवों को मुक्त कर उन्हें अपने शिवस्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित करती है। सृष्टि के प्रथम उन्मेषकाल में उन जीवों को परस्पर अलग होकर अपने को प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि ये सब सृष्टि के पूर्व पराशक्ति में ही पिण्डवत् रहते हैं। सृष्टि, संहार प्रभृति समस्त जागतिक कार्यकलाप की संचालिका यह परा शक्ति ही है (भारतीय संस्कृति और साधना भा० १, पृ. २४८)।

शक्ति (अष्टविध)

परमेश्वर अपनी लीला से बिन्दु के रूप में स्फुरित होता है। वह इसी बिन्दुरूपी स्थान से अपने चारों तरफ रहने वाली अपनी शक्तियों को स्फुरित करता है। अपनी शक्तियों से निकली किरणों से यह विशुद्ध श्रद्धायुक्त विद्या, विद्येश्वर आदि समग्र अध्वों को प्रकट करता है। पति के आज्ञानुवर्ती मायाचक्र के प्रवृत्त होने पर उससे वीर्यात्मा अनन्त, सूक्ष्म, शिव, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी—ये आठ रुद्राणु क्रिया एवं ज्ञान से युक्त होते हैं। इनकी ये शक्तियाँ भी पति के स्वरूप से ही स्फुरित होती हैं। इन शक्तियों से ही महावीर्ययुक्त विद्येशादि प्रगट होते हैं। मन्त्र नामक शिव परम आकाश में अपनी शक्तियों से आवृत होकर रहता है। इस मन्त्रमय शिव के स्वरूप का वर्णन पञ्चमन्त्रतनु शब्द की परिभाषा में बताया गया है। इसी पञ्चमन्त्रतनु शिव में ईशानी, आपूरणी, हार्दी, वामा और मूर्ति नामक पाँच शक्तियाँ रहती हैं। इस पाँच शक़ियों के अतिरिक्त हारिणी, जननी और रोधयित्री नामक शक्तियाँ भी शिव में निवास करती हैं। इस प्रकार ये शिव की आठ शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ महेश के आठ धर्म माने गये हैं। इनके बल और विभाग की चर्चा मतंगपारमेश्वर आगम के अनुसार यहाँ की जा रही है—

ईशानी

ईशानी शक्ति की सहायता से शिव अनुग्राह्य अणुओं को मलों से मुक्त करके उनमें ज्ञान और क्रियात्मक बल का संचार कर शुद्ध पद में नियोजित करता है। यत: इस शक्ति की सहायता से भगवान् ईशान शिव अनुग्राह्य अणु को सर्वोत्तम शिवपद में प्रतिष्ठित करता है, अत: इस शक्ति को ईशानी के नाम से जाना जाता है।

आपूरणी

पञ्चमन्त्रतनु भगवान् शिव का वक्त्र (मुख) तेजोमय है। इस मुख से निकल कर ज्ञानरूपी अग्नि के विस्फुलिङ्ग (कण) चारों तरफ फैलकर सारे जगत् को परिव्याप्त कर लेते हैं, आपूरित कर लेते हैं। यह शिव की आपूरणी शक्ति का व्यापार है। यह शक्ति इस चराचर जगत् को अपने प्रभापटल से पवित्र कर लेती है, अज्ञानी अणुओं के अज्ञान- पुंज का नाश कर उनको ज्ञान के आलोक से भर देती है। इसलिए भी इसको आपूरणी कहा जाता है।

हार्दी

पञ्चमन्त्रतनु शिव का हृदय अघोरमन्त्रमय, शान्तस्वभाव है। मतङ्गपारमेश्वर आगम में हृदय का अर्थ सद्भाव किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि शिव का हृदय सदा सद्भाव से भरा रहता है। अतः वह सदा अनुग्राह्य अणुओं की भलाई के लिए प्रवृत्त रहता है, उन्हें अभीष्ट भोग और मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त कराता रहता है, उनको भी संसार के मूल कारण घोरस्वभाव राग-द्वेष आदि प्रवृत्तियों से हटाकर शान्तस्वभाव का बना देता है। शिव के इस कार्य में जो शक्ति सहायिका है, उसीको यहाँ पर हार्दी के नाम से जाना जाता है।

वामा

शैव सिद्धान्त में सारे के सारे कलात्मक और भुवनात्मक प्रपञ्च की सृष्टि करने में शिव की सहकारिणी शक्ति को वामा कहते हैं। यह शक्ति अत्यन्त रहस्यमयी मानी गई है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति के द्वारा शिव जिस स्वरूप में प्रकट होता है, उसे वामगुह्य कहा जाता है। पंचमन्त्रतनु शिव का चतुर्थ रूप वामगुह्य के नाम से प्रसिद्ध है। गुह्य पद के साथ यहाँ वाम शब्द संयुक्त है। इससे एक अत्यन्त गुप्त, रहस्यमय अनोखे शिवस्वरूप की सूचना मिलती है। पति (शिव) का यह स्वरूप ज्ञान और क्रिया शक्ति से परिपूर्ण है। इसीको वामा शक्ति कहते हैं। इस वामा शक्ति की सहायता से यह भगवान् विश्वराट् शिव तत्त्वात्मक और भुवनात्मक इस सारे जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है। इस तरह से वाम, अर्थात् विलक्षण, गुह्य अर्थात् अदृष्ट (किसी के द्वारा भी न देखा गया) तेज वाला यह शिव वामगुह्य कहलाता है। वामा शक्ति की सहायता से ही शिव इस स्वरूप को प्राप्त कर पाता है। अथवा वाम शब्द यहाँ विपरीत अर्थ का बोधक है। जगत् के सारे प्राणी अपने अपने स्वार्थ में लगे रहते हैं, किन्तु यह वामगुह्य शिव वामा शक्ति की सहायता से निःस्वार्थ भाव से सारे जगत् के कल्याण में प्रवृत्त है।

मूर्ति

शिव मूलतः निष्कल है, अर्थात् शरीररहित है। परन्तु वह स्वयं अपनी इच्छा से ही पंचमन्त्रात्मक सूक्ष्म शरीर को लेकर के प्रकट होता है। इस लीला

को वह अपनी जिस शक्ति के द्वारा निभाता है, उसे शैव सिद्धान्त में मूर्ति शक्ति कहा जाता है।

हारिणी

शिव अपनी अनुग्रह-लीला में प्रवृत्त होता हुआ सकल प्राणियों को क्रम से पहले स्थूल शरीरों से तदनन्तर सूक्ष्म शरीरों से छुटकारा दिलाता हुआ अन्त में उनके मलस्वरूप सूक्ष्मतर शरीरों का भी संहार करते हुए उन्हें मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर पदवियों पर पहुँचा देता है। प्राणियों के शरीरों और मलों के इस संहार की लीला में जो शक्ति शिव का साथ देती है, उसे शैव सिद्धान्त में हारिणी शक्ति कहा गया है।

जननी

यह शक्ति प्रभु के साथ रहकर क्रीडार्थ चेतनाचेतनात्मक जगत् की सृष्टि करती है। अत एव इसको जननी कहा जाता है। जल जिस प्रकार बीज को अङ्कुरित होने में सहायक बनता है, उसी प्रकार यह शक्ति मायारूपी क्षेत्र में गिरे हुए अणुओं के कर्मों को और वासनाओं को उत्पन्न करती है, अत एव इसको जननी कहते हैं (मतङ्गपारमेश्वर- वृत्ति, पृ. ९३-९४)।

रोधयित्री

जीवों को चिरकाल तक आणव आदि मलों से घेर करके रखने की शिव की लीला को रोधन कहते हैं। जिस शक्ति के द्वारा शिव प्राणियों का रोधन करता रहता है, उसे रोधिनी शक्ति कहा जाता है। इसीके द्वारा शिव प्रलयाकलों को युगयुगान्तरों तक सौषुप्त अवस्था में ही ठहराता है (मतङ्गपारमेश्वर, पृ. ९५)।

शक्ति (षोडशविध)

पति या परमशिव की शक्ति परा, सूक्ष्मा और जगत् की सृष्टि करने में सक्षम है। इसी परा शक्ति से प्रबुद्धात्मा, स्वतन्त्र सदाशिव ज्ञान और क्रियात्मक शक्तियों के द्वारा समस्त विश्व को स्फुरित करता है। मतंगपारमेश्वर आगम में इनकी संख्या १६ बताई गई है। ये शक्तियाँ पंचमन्त्रतनु पति की ईशानी प्रभृति आठ शक्तियों से भिन्न हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सिद्धान्त

शैव द्वैतवादी दर्शन है। यहाँ शिव और शक्ति ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। प्रथम ईशानी प्रभृति आठ शक्तियों से शिव का मन्त्रशरीर निष्पन्न होता है और ये सोलह क्षोभिका प्रभृति शक्तियाँ शक्तितत्त्व का ही विस्तार है। इस प्रकार जननी, रोधयित्री और वामा ये तीन नाम उभय-साधारण होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न हैं। इन १६ शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) क्षोभिका, (२) जननी, (३) रोधयित्री, (४) गोप्त्री, (५) नेत्री, (६) भावयित्री, (७) त्राणा, (८) वामा (नियामिका), (९) रौद्री, (१०) प्लाविका, (११) श्रद्धा, (१२) भाविका, (१३) ज्वाला, (१४) प्रह्लादिनी, (१५) स्तम्भिनी, (१६) विकिरा (मतंगपारमेश्वरवृत्ति)।

शक्तिपात

तन्त्र और आगमशास्त्र में सर्वत्र शक्तिपात का महत्त्व बताया गया है। शिव का जीवों पर अनुग्राहक शक्ति का प्रयोग ही शक्तिपात कहलाता है। ईश्वर की कृपा को ही शक्तिपात कहा जाता है। शक्तिपात से प्रभावित जीव ही गुरु, शास्त्र आदि की शरण में आता है और शिवयोग के अभ्यास से शिवभोग रूपी मुक्ति को प्राप्त करता है। शक्तिपात तभी होता है, जब प्राणी को कर्मसाम्य की अवस्था प्राप्त हो जाय।

♦ ♦ ♦

तन्त्रागमीय ज्ञानकोश

शाक्त तन्त्र

शाक्त तन्त्र

अकुल कुण्डलिनी

योगिनीहृदय की अमृतानन्द योगी कृत दीपिका टीका तथा भास्करराय कृत सेतुबन्ध टीका (पृ. ३८-४३) में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह नामक (अद्यावधि अनुपलब्ध) ग्रन्थ के अनुसार मानव लिंगशरीर में सुषुम्णा नाड़ी के सहारे ३२ पद्मों की स्थिति मानी गयी है। सबसे नीचे और सबसे ऊपर दो सहस्रार पद्म अवस्थित हैं। नीचे अकुल-स्थान स्थित अरुणवर्ण का सहस्रार पद्म ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेतवर्ण का सहस्रार पद्म अधोमुख है। इनमें से अध:सहस्रार को कुल कुण्डलिनी तथा ऊर्ध्व सहस्रार को अकुल कुण्डलिनी कहा गया है। अकुल कुण्डलिनी प्रकाशात्मक अकारस्वरूपा मानी जाती है।

अकुल शिव

कुलार्णव तन्त्र (१७.२७) में अकुल शब्द का अर्थ शिव तथा कुल शब्द का अर्थ शक्ति किया गया है। तन्त्रालोक (३.६७) और उसकी व्याख्या में भी यही विषय प्रतिपादित है। किन्तु यहाँ शक्ति को कौलिकी कहा गया है। जिस परम तत्त्व से विविध विचित्रताओं से परिपूर्ण यह सारा जगत् उत्पन्न होता है और उसीमें लीन भी हो जाता है, वह परम तत्त्व शिव और शक्ति से परे है। उसी परम तत्त्व से अकुल शिव और कुल शक्ति की सृष्टि होती है। इस कौलिकी शक्ति से अकुल शिव कभी जुदा नहीं रहता। शिव को शाक्त दर्शन में अनुत्तर तत्त्व माना गया है। अनुत्तर शब्द अकार का भी नाम है। यह अकार ऐतरेय आरण्यक (२.३.६) के अनुसार समस्त वाङ्मय का जनक है। भगवद्गीता (१०.३२) में अपनी उत्कृष्ट विभूतियों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अक्षरों में मैं अकार हूँ। इसीलिये अकार को अकुल अक्षर भी कहा जाता है। अनेक ग्रन्थों में उद्धृत, किन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध ग्रन्थ सङ्केतपद्धति में अकार को प्रकाश और परम शिव का स्वरूप कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकाशात्मक अकुल शिव अकुल अक्षर अकार के रूप में अभिव्यक्त

होकर इस विविध विचित्रतामय जगत् की सृष्टि करता है। महार्थमञ्जरी की परिमल व्याख्या (पृ. ८९) में महेश्वरानन्द ने कुल, कौल और अकुल विभाग की चर्चा की है। नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका के लेखक विद्यानन्द ने अकुल, कुल और कुलाकुल (पृ. ६७) तथा अकुल, कुल, कुलाकुल, कौल और शुद्ध कौल (पृ.७४) नामक भेदों का उल्लेख किया है। **कौल मत** शब्द के विवरण में इनकी चर्चा की गयी है।

अक्षर बिन्दु

रत्नत्रय (श्लो. २२,३९,५३) आदि ग्रन्थों में बताया गया है कि जिस प्रकार बिन्दु क्षुब्ध होकर एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्द की भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें अक्षर बिन्दु सूक्ष्म नाद का कार्य है। शास्त्रों में मयूराण्डरस न्याय से इसको समझाया गया है। जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में उसके शरीर और पंख के तरह-तरह के रङ्ग अभिन्न भाव से अव्यक्त रूप में रहते हैं, उसी तरह से अक्षर बिन्दु में स्थूल वाणी का सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्त रूप में अभिन्न भाव से रहता है। इसीको पश्यन्ती वाणी भी कहते हैं।

अजपा जप

प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वाभाविक रूप से 'हं' का तथा निःश्वास दशा में 'सः' का उच्चारण होता है। इस प्रकार प्राण की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया में 'हंसः, सोऽहं' इस अजपा गायत्री का स्वाभाविक रूप से दिन-रात अनवरत जप चलता रहता है। इसी को अजपा जप कहा जाता है। इसको अजपा इसलिये कहा जाता है कि यद्यपि अपरा अवस्था में इसके वाच्य वर्ण हकार और सकार का उच्चारण स्पष्ट होता है, किन्तु जब परा देवी इसको अपने में समेटे हुए अपने बाह्य स्वरूप का संवरण करती है, उस समय हकार के मस्तक पर स्थित बिन्दुरूप अनुस्वार का केवल बिन्दु के रूप में जप नहीं किया जा सकता। इसी तरह से यह प्राण-वृत्ति जब बाहर निकलती है, तब सकार के आगे विसर्ग के रूप में स्थित दो बिन्दुओं का बिना अकार के उच्चारण नहीं हो सकता। इसी लिये 'हंसः' इस मन्त्र की ख्याति अजपा गायत्री के रूप में है।

तन्त्रालोक (३.१७०) के व्याख्याकार जयरथ ने सकार और हकार के उच्चारण से उत्पन्न जप को सहज, अर्थात् अकृत्रिम (स्वाभाविक) बताया है। यहाँ क्षपा (रात्रि) और दिन से क्रमश: अपान और प्राण का निर्देश किया गया है। वीरावली तन्त्र में भी क्षपा और दिन शब्द से इन्हीं का ग्रहण किया गया है। श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में दिन और रात्रि का, प्राण और अपान का यमराज के कुत्तों के रूप में वर्णन है। यमराज के ये दूत पकड़ने न पावें, इसीलिए साधक योगी अजपा के अभ्यास के द्वारा प्राण और अपान की गति पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेता है और मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

दिन-रात प्राण और अपान की इस निरन्तर गतिशीलता के कारण हंस मन्त्र का एक अहोरात्र में २१६०० बार जप पूरा हो जाता है। शरीर से प्राण की बहिर्मुखी गति के पूरा होने के बाद और अपान के पुन: शरीर में प्रवेश न करने तक इस जप की विधि पूरी हो जाती है। प्राण जब निकलता है, उस समय भी इस अजपा जप के साथ अपनी तन्मयता को बनाये रखना अनेक जन्मों में अर्जित अतिशय भावशुद्धि के कारण ही संभव हो सकता है।

अणु सदाशिव

अधिकार अवस्थापन्न शिव सकल हैं। वे बिन्दु से अवतीर्ण और अणु सदाशिवों से आवृत हैं। ये सब सदाशिव वस्तुत: पशु आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं हैं। इनमें कुछ आणव मल शेष रहता है। इससे उस समय इनकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का कुछ संकोच रहता है। ये शिव के समान पूर्ण रूप से अनावृत शक्तिसम्पन्न नहीं होते। यद्यपि ये भी मुक्त पुरुष हैं, तथापि सर्वथा मलहीन न होने से अभी तक इन्हें परा मुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं हुआ है। सदाशिव भुवन के अधिष्ठाता होने से परमेश्वर को भी सदाशिव कहा जाता है। वे स्वयं शिव हैं और पूर्वोक्त अणु सदाशिवों को अपने-अपने भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। मृगेन्द्रतन्त्र प्रभृति शैवागम के ग्रन्थों के आधार पर इस विषय का वर्णन "भारतीय संस्कृति और साधना" नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ. २८) में मिलता है।

अनच्क कला

सार्धत्रिवलया भुजगाकारा कुलात्मिका कुण्डलिनी मूलाधार में सोई रहती है। जागृत होने पर यह सुषुम्णा मार्ग से षट्चक्रों का भेदन कर सहस्रार स्थित

अकुलचक्र में विराजमान शिव के साथ सामरस्य लाभ करती है। षट्चक्रों और उनमें विद्यमान वर्णों का विशद विवेचन पूर्णानन्द के षट्चक्रनिरूपण के षष्ठ प्रकाश में और सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरा टीका में (श्लो. ३६-४१) तथा अन्यत्र भी मिलता है। नाडी चक्र आदि षट्चक्रों का निरूपण नेत्रतन्त्र (७.२८-२९) में भी है। विज्ञानभैरव में बारह चक्रों या क्रमों की चर्चा आयी है। मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी सार्धत्रिवलया प्राणकुण्डलिनी रहती है। मध्यनाडी सुषुम्णा के भीतर चिदाकाश (बोधगगन) रूप शून्य का निवास है। उससे प्राणशक्ति निकलती है। इसी को अनच्क कला भी कहते है। इसमें अनच्क (अच् = स्वर से रहित) हकार का निरन्तर नदन होता रहता है। यह नादभट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे कि प्राणकुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान को गति प्रदान करती है और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जा सकता है। मध्यनाडी स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राणशक्ति ही अनच्क कला कहलाती है। अजपा जप में इसी का स्फुरण होता है। प्राण और अपान व्यापार से भिन्न, श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से अलग, स्वाभाविक रूप से निरन्तर चल रहे प्राण (हृदय) के स्पन्दन व्यापार (धड़कन) को ही यहाँ अनच्क कला कहा गया है। स्पन्दकारिका में प्रतिपादित स्पन्द- तत्त्व यही है। वामननाथ ने अद्वयसम्पत्तिवार्तिक में इसका वर्णन किया है। नेत्रतन्त्र (सप्तम अधिकार) में सूक्ष्म उपाय के प्रसंग में प्राण-चार के नाम से इसकी व्याख्या की गयी है।

अनाख्या चक्र

अनाख्या नामक चतुर्थ चक्र में तेरह शक्तियों के कार्य दिखाई पड़ते हैं। क्रम-दर्शन में आख्या शब्द से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणी के स्वभाव का बोध होता है। अतः आख्याहीन अनाख्याचक्र में ये वाक्प्रवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं। संहार चक्र में नादरूपा पश्यन्ती वाक्, स्थिति चक्र में बिन्दुरूपा मध्यमा वाक् तथा सृष्टि चक्र में लिपिरूपा स्थूल या वैखरी वाक् कार्य करती है। ये तीनों प्रकार की वाणियाँ ही ऊर्ध्व स्थित विमर्श अथवा परा वाक् के द्वारा अनुप्राणित तुरीयावस्था में प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय की त्रिपुटी को उपसंहृत करके अनाख्या चक्र में चिदग्नि रूप में पर्यवसित होती है। वस्तुतः

यह अवस्था महासुषुप्ति के समान प्रतीत होने पर भी चिन्मय मुक्त अवस्था का ही नाम है। अनाख्या चक्र की तेरह कलाओं में से बारह इन्द्रियों का व्यष्टिभाव में और तेरहवीं कला का समष्टिभाव में स्फुरण होता है। सृष्टि के भीतर सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार स्थिति और संहार में भी चारों अवस्थाएँ रहती हैं। सब मिलाकर ये बारह शक्तियाँ हैं। ये सब शक्तियाँ जिस महाशक्ति से निकलती हैं तथा जिसमें लीन होती हैं, उसी को **त्रयोदशी** कहते हैं। वस्तुतः यह त्रयोदशी सबसे अनुस्यूत तुरीय के साथ सम्मिलित आद्या शक्ति ही है (महार्थमञ्जरी- परिमल, पृ. १००-१०१)।

अनाहत चक्र

मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में अनाहत चक्र की स्थिति है। इसका वर्ण बन्धूक पुष्प के समान अरुण कान्ति वाला है। इसका आकार द्वादश दल कमल से बनता है। इन दलों में सिन्दूर के समान रक्त वर्ण के ककारादि ठकारान्त १२ वर्णों की स्थिति मानी जाती है। इनके बीच में धूम्र वर्ण षट्कोणात्मक वायुमण्डल है। इसके मध्य वायु बीज **यं** का ध्यान किया जाता है, जिसका कि वर्ण धूम्र के समान धूसर है। यह बीज भी चतुर्भुज है और इसका वाहन कृष्णसार मृग है। इस वायुबीज के अधिष्ठाता करुणामूर्ति ईश्वर हैं। इनका वर्ण शुक्ल है और अपने दोनों हाथों से ये तीनों लोकों को अभय और वर प्रदान करते हैं। इस चक्र की योगिनी का नाम काकिनी है। इस चक्र की कर्णिका में वायुबीज के नीचे त्रिकोणाकार शक्ति तथा उसके दाहिने भाग में बाण लिङ्ग की स्थिति मानी गई है। इसके मस्तक पर सूक्ष्म छिद्रयुक्त मणि के समान एक बिन्दु प्रकाशित है। शब्दब्रह्म के विलास अनाहत नाद की यहाँ अनुभूति होती है, अतः इसे अनाहत चक्र कहा जाता है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्र-निरूपण, ६ प्रक.)।

अनुपाय

अनुपाय शब्द का जयरथ (तन्त्रा०वि०२.२, पृ. ३) ने 'अल्प उपाय' अर्थ किया है; क्योंकि पर्युदास स्थल में नञ् अल्पार्थक माना जाता है, जैसे कि 'अनुदरा कन्या' इस प्रयोग में 'अनुदरा' शब्द का अर्थ 'पतली कमर वाली' होता है। सिद्ध साहित्य में प्रचलित 'सहज' शब्द को हम अनुपाय शब्द का पर्याय मान सकते हैं।

तन्त्रसार (पृ. ८-९) में अनुपाय प्रक्रिया का विवेचन इस तरह से किया गया है—तीव्र शक्तिपात के होने पर साधक गुरु के एक बार के उपदेश से ही नित्योदित समावेश दशा में लीन हो जाता है। उपाय के रूप में वह षडंग योग में प्रतिपादित तर्क नामक अंग का सहारा लेता है। वह सोचता है कि स्वयंप्रकाश, स्वात्मस्वरूप ही तो परमेश्वर है। इसके लिये किसी उपाय की क्या आवश्यकता है? यह स्वात्मस्वरूप नित्य, स्वयंप्रकाश, निरावरण तत्त्व है। इसलिए किसी उपाय से इसके स्वरूप की प्राप्ति (लाभ) या प्रतीति (ज्ञप्ति) होगी, अथवा किसी आवरण को हटाया जायगा, इन सब बातों का कोई प्रसंग नहीं है। इस स्वात्मस्वरूप में लीन (अनुप्रवेश) होने का भी कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वात्मस्वरूप से अतिरिक्त उसमें प्रविष्ट होने वाले की अलग से कोई सत्ता नहीं है। फिर उपाय भी तो उससे अलग नहीं है। इसलिये यह सारा जगत् चिन्मात्र- सार है। काल इसकी कलना नहीं कर सकता। देश इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। उपाधि इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इसकी कोई आकृति नहीं है। शब्दों की सहायता से इसको समझा नहीं जा सकता और न किसी प्रमाण की ही यहाँ प्रवृत्ति हो सकती है। स्वतन्त्र आनन्दघन यह स्वात्मस्वरूप ही काल से लेकर प्रमाण पर्यन्त सभी तत्त्वों को स्वरूप प्रदान करने वाला है। मैं इस स्वात्मस्वरूप से भिन्न नहीं हूँ और इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही यह सारा विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा के जग जाने पर साधक नित्योदित पारमेश्वर स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। इसके लिए मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि कोई भी लौकिक उपाय शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता। क्या घट सूर्य को प्रकाशित कर सकता है? उदार दृष्टि वाला मनुष्य इस तरह से विचार करते-करते ही किसी समय स्वयंप्रकाश शिवस्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। संवित्प्रकाश में भी बताया गया है कि आपका तत्त्व, अर्थात् स्वरूप तो स्पष्ट रूप से सबकी आँखों के सामने विद्यमान है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति आपको देखने के लिये भाँति-भाँति के उपायों की खोज में लगे हैं, वे निश्चित ही आपको नहीं जानते। श्रुति (वा०सं० १६.७, तै०सं० ४.५.१.३) ने इस बात को स्पष्ट किया

है कि इसको ग्वालबाल जानते हैं, पनहारिनें इसको जानती हैं और विश्व के सारे प्राणी इसको जानते हैं। इसको देखकर कौन आनन्द-विभोर नहीं हो जाता। मालिनीविजय, स्वच्छन्दतन्त्र, सङ्केतपद्धति, तन्त्रालोक, महार्थमञ्जरी जैसे ग्रन्थों में इस अनुपाय प्रक्रिया का जो विशद विवेचन मिलता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अनुपाय प्रक्रिया सहज योग से भिन्न नहीं है।

अन्तर्दीक्षा

शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद्भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। इसीलिए ऐसे पुरुष की दीक्षा तथा अभिषेक-व्यापार स्वयं अपनी संविद्देवियों की सहायता से ही सम्पन्न हो जाते हैं। प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाने से साधक की अपनी इन्द्रिय-वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता, अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करती हैं और शक्तिमय बन जाती हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि मन्त्र, अर्थात् चित्त के बहिर्मुख होने पर जो वृत्तियाँ कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर शक्तियाँ कहलाती हैं। ये सब शक्तिभूत इन्द्रिय-वृत्तियाँ पुरुष के चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। इसी स्थिति को अन्तर्दीक्षा कहा जाता है। इसके प्रभाव से साधक स्वत: स्वातन्त्र्यलाभ कर लेता है। इसके लिये उसे गुरु या शास्त्र की भी अपेक्षा नहीं रहती। तन्त्रशास्त्र का यह उद्घोष है कि गुरुकृपा से, शास्त्र के अध्ययन से अथवा स्वत: अपनी प्रतिभा से भी साधक निरावरण स्वात्मस्वरूप को पहचान सकता है। अन्तर्दीक्षा के माध्यम से यह कार्य सम्पन्न होता है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. २, पृ. २३१)।

अपोहन

परमार्थत: अपोहन व्यापार की कोई स्थिति नहीं है, किन्तु जागतिक व्यवहार का संचालन ज्ञान, स्मृति और अपोहन नाम की शक्ति के सहारे चलता है। "मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (भ०गी० १५.१५), "स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्य-पोहनशक्तिमान्" (ई०प्र० १.३.७) इत्यादि वचनों में इन्हीं व्यापारों की चर्चा की गयी है। बौद्ध दर्शन में भी एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को अलग करने के लिये, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का भेद बताने के लिये अपोह की कल्पना की गयी है। महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की स्वोपज्ञ परिमल व्याख्या (पृ.

१३५-१३६) में अपोहन व्यापार की विस्तृत व्याख्या की है। भगवद्गीता (१५.१५) के भाष्य में रामानुजाचार्य ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची माना है और इसकी परिभाषा यह की है—ऊह का कार्य यह देखना है कि किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति सही ढंग से हो रही है या नहीं?

अभिषेक

पवित्र जल छिड़क कर अथवा उससे स्नान कराकर किसी योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर प्रतिष्ठित करना ही अभिषेक पद का साधारण अर्थ है। शास्त्रीय विधि से देवता अथवा राजा को कराया जाने वाला स्नान भी अभिषेक ही कहलाता है। तन्त्रशास्त्र में दीक्षा के उपरान्त दीक्षित व्यक्ति को अभिषेक नामक संस्कार से संस्कृत किया जाता है। दीक्षा के प्रसंग में प्राय: सभी तन्त्र-ग्रन्थों में बताया गया है कि समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य के भेद से दीक्षित व्यक्तियों की चार कोटियाँ होती हैं। इनमें से समयी का सेनापति के समान, पुत्रक का महामन्त्री के समान, साधक का युवराज के समान और आचार्य का अभिषेक राजा के समान किया जाता है। अन्य आचार्यों का कथन है कि अभिषेक केवल आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते समय ही किया जाता है। यह अभिषेक विविध औषधि, मृत्तिका, रत्न आदि से मिश्रित नदी, समुद्र आदि के पवित्र जल से परिपूर्ण कलशों से सम्पादित होता है। इन कलशों की पूजा करके मण्डल-निर्माण पूर्वक, जिसका अभिषेक करना हो, उसको भद्रपीठ पर ईशानाभिमुख बैठाकर सकलीकरण क्रिया द्वारा संस्कृत किया जाता है और उक्त कलशों के अभिमन्त्रित जल से उसको स्नान कराया जाता है। इसी का नाम अभिषेक है। अभिषेक हो जाने के उपरान्त उसको अन्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का अधिकार मिल जाता है। वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। विविध सम्प्रदायों में इसकी भी विभिन्न विधियाँ हैं। शाक्त तन्त्रों में पूर्णाभिषेक अथवा पट्टाभिषेक के नाम से तथा बौद्ध तन्त्रों में सेक के नाम से इसकी विधि विस्तार से वर्णित है।

अमनस्क योग

अमनस्क योग का निरूपण करने वाला इसी नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त है। पूर्वार्ध में तारक

योग का तथा उत्तरार्ध में अमनस्क योग का प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ के अनुसार योग के दो प्रकार हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्व योग, अर्थात् तारक योग में मन विद्यमान रहता है, परन्तु उत्तर योग, अर्थात् अमनस्क योग में मन बिलकुल नहीं रहता। इनकी तुलना पातञ्जल योग की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि से की जा सकती है। किन्तु वस्तुत: यह अपने में एक स्वतन्त्र योगपद्धति है। प्राण और मन का लय ही वस्तुत: अमनस्क योग का मुख्य लक्ष्य है। ग्रन्थ में बताया गया है कि जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे-धीरे जल में लीन हो जाता है, वैसे ही अमनस्क योग के अभ्यास से मन भी परब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे नमक जल के सम्पर्क से जलमय हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के सम्पर्क से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है। अमनस्क योग के अभ्यास से इसी स्थिति को प्राप्त किया जाता है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर मन की कोई स्थिति नहीं रहती। इसीलिये इसको अमनस्क योग कहा जाता है। इस योग की विशेषता यह है कि यहाँ मन पर नियन्त्रण स्थापित करने की अपेक्षा उसके लय पर जोर दिया जाता है। मन का लय हो जाने पर प्राण का लय अपने आप हो जाता है। शैव और शाक्त तन्त्रों में वर्णित उन्मनी स्थिति की तुलना हम इस योग से कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये दोनों स्थितियाँ अभिन्न हैं, क्योंकि उस प्रक्रिया के अनुसार समना पर्यन्त ही मन की स्थिति है। उन्मना में जाकर मन लीन हो जाता है। किन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया में इसी को चरम लक्ष्य नहीं माना गया है। उन्मनी दशा में मन के लीन हो जाने पर भी उसकी किसी न किसी रूप में स्थिति रह जाती है। अत: वहाँ इस उन्मनी दशा से भी परे निष्कल महाबिन्दु में प्रतिष्ठा ही योगी का परम और चरम लक्ष्य माना जाता है।

अमा कला

स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड के एक वचन में, जो कि शब्दकल्पद्रुम (भा. १, पृ. ८३) में उद्धृत है, बताया गया है कि चन्द्रमा की सोलहवीं कला को अमा कला कहा जाता है। आचार्य रघुनन्दन ने (शब्दकल्पद्रुम, भा. १, पृ. ८३ पर उद्धृत) अमा कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह कला नित्य है, क्षय और उदय से रहित है। चन्द्रमा की अन्य कलाओं में यह उसी तरह से अनुस्यूत है, जैसे कि पुष्पमाला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र अनुस्यूत रहता

है। यह आधार शक्ति का ही परम स्वरूप है। तन्त्रशास्त्र (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ. ३०९) में बिन्दु को पूर्णिमा कहा जाता है, किन्तु वह ठीक पूर्णिमा नहीं है। यथार्थ पूर्णिमा षोडशी है। बिन्दु में १५ कलाएँ हैं, एक कला नहीं है, अर्थात् अमृतकला अथवा षोडशी का वहाँ अभाव है। षोडशकल पुरुष में अमृत कला एक है। यही वास्तविक अमा कला है। योग की प्रक्रिया (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. १, पृ. ३१९) में उन्मना के उन्मीलन को ही अमा कला कहा गया है। मातृका के क्रम में अमा कला की एक दूसरी ही व्याख्या मिलती है। इस मत में अनुत्तर तत्त्व अकार को सप्तदशी या अमा कला के नाम से जाना जाता है। यह नित्योदित है, अर्थात् इसका कभी तिरोधान नहीं होता। यही अमृत कला है। अन्त:करण आदि षोडश कलाओं का उद्भव इसी से होता है। यह अन्तरुन्मुख है। श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६.४७) में बताया गया है कि सहस्रार चक्र के मध्य विराजमान त्रिकोण स्थान में अमा कला का निवास है, जो कि चन्द्रमा की सोलहवीं नित्या कला मानी जाती है। यह बाल-सूर्य के समान प्रकाशमान है। यह कला नित्योदित है, अर्थात् क्षय और उदय से रहित है। सहस्रार के ही समान यह भी अधोमुख है और इससे निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है। इस अमृत कला के भीतर निर्वाण कला का भी निवास है।

अम्बिका

त्रिपुरा दर्शन में शान्ता नामक शक्ति को विश्व का कारण माना गया है। जब इस शक्ति में विश्व की सिसृक्षा उत्पन्न होती है, तो उसमें स्फुरत्ता या स्पन्दन होता है और यह शान्ता शक्ति अम्बिका के रूप में परिणत हो जाती है। इसी को परा वाक् भी कहा जाता है। बीज में छिपे हुए वृक्ष के समान इस अम्बिका शक्ति में ही सारा विश्व सन्निहित रहता है। शृङ्गाट के मध्य में स्थित बिन्दु में इसकी स्थिति मानी जाती है (योगिनीहृदय, १.३६)।

अर्धमात्रा

"अर्धमात्रास्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषत:" (१.७४) दुर्गासप्तशती के इस श्लोक में अर्धमात्रा को अनुच्चार्य (जिसका उच्चारण नहीं किया जा सकता) माना है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल **मात्रा** कहलाता है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द योगी (दीपिका, पृ. ५३) के अनुसार बिन्दु से लेकर

समना पर्यन्त प्रणव कलाओं के उच्चारण का काल अर्धमात्रा है। दुर्गासप्तशती के उक्त श्लोक की व्याख्या में भास्करराय ने भी यही कहा है। वे इसको अनुच्चार्य इस लिये मानते हैं कि प्रणव अथवा पिण्ड मन्त्र में स्थित इन कलाओं का उच्चारण नहीं किया जा सकता। ये केवल भावनागम्य हैं, अत: केवल योगी ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

अवधूत

अवधूतोपनिषद् में अवधूत के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है। अवधूतगीता जैसे ग्रन्थों में भी यह विषय चर्चित है। तदनुसार अवधूत के प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, इसकी कृपादृष्टि में कैवल्य विराजमान है। इसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग। फिर भी यह त्याग और भोग दोनों से अलिप्त रहता है। वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का गुरु है। न उससे कोई बड़ा है और न बराबर। पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जाता है। उसे ही नाथ पद प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है, जो द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से परे है। यह मत वेदान्त, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध, जैन जैसे सभी दर्शनों से विलक्षण है। नाथ सम्प्रदाय को भी अवधूत मत या अवधूत सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है, किन्तु वस्तुत: यह उससे विलक्षण है। नाथ सम्प्रदाय में अनेक उपादान अवधूत मत के स्वीकार किये गये हैं। इसके प्रवर्तक अवधूताचार्य दत्तात्रेय हैं। "आदि गुरु दत्तात्रेय और अवधूत दर्शन" (भारतीय संस्कृति और साधना, भा.१, पृ.१९१-२०९) में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है।

शक्तिसंगमतन्त्र (३.१.१४८-१६०) में अवधूतों के सात भेदों का वर्णन मिलता है। वीरावधूत, कौलावधूत, दिव्यावधूत आदि शब्दों का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। महानिर्वाणतन्त्र में ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, वीरावधूत और कुलावधूत का वर्णन उपलब्ध होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ब्रह्मोपासक होने से यति या ब्रह्मावधूत कहते हैं। इस अवस्था में वे लोग गृहस्थाश्रम में रह सकते हैं अथवा संसार-धर्म का त्यागकर संन्यासी हो सकते हैं। विधिपूर्वक पूर्णाभिषिक्त होने पर संन्यासी शैवावधूत कहा जाता है। वीरावधूतों के शिर पर लम्बे और अटपटे केश रहते हैं। ये रुद्राक्ष या महाशंख की माला पहनते

हैं। इनके अंगों में भस्म या रक्तचन्दन लिप्त रहता है। कोई-कोई गेरुवा वस्त्र भी पहनते हैं। कुलाचार के अनुसार अभिषिक्त होकर जो साधक गृहस्थाश्रम में रहता है, उसे कुलावधूत कहते हैं।

तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती एवं पुरी नामक दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों का उल्लेख शक्तिसंगमतन्त्र (४.८.१०४-१०८) आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। इन शब्दों का अर्थ भी वहाँ प्रदर्शित है। रामानन्द के शिष्यों में भी कुछ अवधूत हुए हैं। बंग देश में तथा अन्यत्र भी इनका निवास है। ये जातिभेद को नहीं मानते और पान, भोजन आदि का भी इनका कोई नियम नहीं है। शिर पर बड़े-बड़े बाल, गले में स्फटिक आदि की माला, कमर में कौपीन लपेटे ये लोग अत्यन्त अपरिष्कृत भाव से रहते हैं। लोग इन्हें बावला भी कहते हैं। इनका आचरण अत्यन्त उद्धत होता है। बंगाल में स्थान-स्थान पर इनके अखाड़े हैं।

अवधूत वर्ण और आश्रम की व्यवस्था से परे रहते हैं। अष्टविध पाशों से ये मुक्त रहते हैं। अघोरी भी एक प्रकार का अवधूत ही है। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह (पृ. १५-१६) में अवधूत मत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

अवधूती मार्ग

बौद्ध वज्रयान और सहजयान में इडा, पिंगला और सुषुम्णा को क्रमशः ललना, रसना और अवधूती कहा जाता है। यहाँ ललना को चन्द्र या प्रज्ञा का तथा रसना को सूर्य या उपाय का प्रतीक माना गया है। इन दोनों के बीच में जिस शक्ति की क्रिया होती है, एवं जो साधारण अवस्था में अवरुद्ध (सुप्त) रहती है, उसका पारिभाषिक नाम **अवधूती** है। चन्द्र और सूर्य के मिलन अथवा प्रज्ञा और उपाय के आलिंगन से मध्य मार्ग का उन्मीलन होता है। क्लेश प्रभृति का यह अनायास नाश कर देती है, इसलिये इसे 'अवधूती' कहते हैं। अवधूती मार्ग ही अद्वय मार्ग, शून्य पथ और आनन्द स्थान है। यहाँ ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं रहता, दोनों ही समरस होकर शून्याकार में विराजमान रहते हैं। यहीं उपशम रूप शान्तावस्था का उदय होता है, जो कि निर्वाण पदवी के नाम से प्रसिद्ध है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. २, पृ. २५८-२५९)।

अवस्थापञ्चक

योगिनीहृदय (३.१७६-१७७) में बताया गया है कि मन्त्र के जप के समय शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक और विषुवसप्तक की भावना करनी चाहिये। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या (तुरीया) और तुर्यातीता (तुरीयातीता) ये पाँच अवस्थाएँ हैं। मालिनीविजय (२.३६-३८) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में इन अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। जिस अवस्था में दस इन्द्रियों (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय) के द्वारा जागतिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। जिसमें आन्तर चतुर्विध करण द्वारा व्यवहार की निष्पत्ति होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने पर सब इन्द्रियों का उपरम जिस अवस्था में होता है, उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति की भावना का स्थान भ्रूमध्य स्थित बिन्दु है। इस बिन्दु को हृल्लेखा या ऊर्ध्व बिन्दु कहते हैं। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीया का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद में इसकी भावना करनी चाहिये। तुरीयातीता अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। यह मन और वाणी से अतीत है, तथापि मन और वाणी का आभास देह में किसी न किसी तरह रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना पर्यन्त तुरीयातीता अवस्था व्याप्त रहती है।

आचार

तान्त्रिक सम्प्रदाय सात प्रकार के आचारों में विभक्त है। कुलार्णवतन्त्र (२.७-८) में बताया गया है कि वेदाचार सबसे श्रेष्ठ है। वेदाचार से वैष्णवाचार महान् है। वैष्णवाचार से शैवाचार उत्कृष्ट है। शैवाचार से दक्षिणाचार उत्तम है। दक्षिणाचार से वामाचार श्रेष्ठ है। वामाचार से सिद्धान्ताचार उत्तम है और सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार श्रेष्ठ है। इस संसार में कौलाचार से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। प्राणतोषिणी (पृ. ९६५-९६६) में उद्धृत नित्यातन्त्र जैसे ग्रन्थों में इन सातों आचारों का वर्णन मिलता है। इनका विवरण नीचे अकारादि क्रम से स्थापित इन शब्दों की व्याख्या में देखना चाहिये।

कौलाचार

कौलाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. १०२७) में उद्धृत नित्यातन्त्र के वचनों में बताया गया है कि इस कौलाचार का आचरण करने वालों के लिये दिशा अथवा काल का भी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। तिथि आदि के नियम को मानना भी जरूरी नहीं है। महामन्त्र के साधन की भी कोई आवश्यकता नहीं है। कभी शिष्ट, कभी भ्रष्ट और कभी भूत-पिशाच आदि के समान वह नाना प्रकार के वेष धारण कर इस पृथ्वी पर नि:शंक विचरण करता है। जो साधक कर्दम और चन्दन में, मित्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में कोई भेद नहीं देखता, उसको कौल कहते हैं। उसका आचरण ही वास्तविक कौलाचार है। कुलाचार या कौलाचार के नाम से इस विषय का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन मिलता है। अर्थरत्नावलीटीका (पृ. १३४-१३५) में विद्यानन्द ने कुलाचार का लक्षण बताते हुए लिखा है कि पर, सहज, कुलज और अन्त्यज क्रम से सोलह, आठ, चार और एक योगिनियों को आमन्त्रित करे। उनके उपवास आदि का अनुष्ठान कर पवित्र हो जाने पर सुवर्ण, वस्त्र, माला, चन्दन, धूप, दीप, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, चर्वण द्रव्य, पात्रासादन तथा दक्षिणा-दान आदि से उनको सन्तुष्ट करे। यही वास्तविक कुलाचार है।

दक्षिणाचार

दक्षिणाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में उद्धृत एक वचन में बताया गया है कि दक्षिणाचार का पालन करने वालों को चाहिये कि वे वेदाचार के अनुसार आद्या शक्ति की पूजा करें और रात को संवित् (विजया) का ग्रहण करके एकाग्र चित्त से जप करें।

यद्यपि नित्यातन्त्र और कुलार्णव में सात प्रकार के आचारों का उल्लेख है, तथापि प्रधानत: दक्षिणाचार और वामाचार ये दो प्रकार के आचार ही देखने में आते हैं। दक्षिणाचारतन्त्र में लिखा है कि इस तन्त्र में जिस प्रकार की कर्मपद्धति वर्णित है, वह शुद्ध वैदिक है। वास्तव में दक्षिणाचारी लोग वेदोक्त विधि के अनुसार ही भगवती की अर्चना करते हैं। वे वामाचारियों की तरह मद्य-मांस का सेवन तथा शक्तिसाधन आदि नहीं करते। दक्षिणाचारतन्त्र में रक्त, मांस

आदि से रहित सात्त्विक बलि ही ब्राह्मण के लिये विहित है। दक्षिणामूर्ति द्वारा प्रवृत्त होने से इसको दक्षिणाचार कहा जाता है।

वामाचार

वामाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में उद्धृत आचारभेदतन्त्र के अनुसार वामाचार की परिभाषा यह दी गयी है कि पंचतत्त्व, अर्थात् पंचमकार, खपुष्प अर्थात् रजस्वला का रज और कुल-स्त्री का पूजन प्रभृति के माध्यम से आद्या शक्ति की उपासना करने वाली विधि को वामाचार कहते हैं। इसमें साधक अपने में वामा-भाव जगाता है और इसी रूप में वह परा शक्ति की उपासना करता है।

बंगाल में तान्त्रिक शब्द से प्रधानत: वामाचारियों का ही बोध होता है। किसी के मत से ये वेद-विरुद्ध आचरण करने से वामाचारी के नाम से प्रसिद्ध हैं। बंगाल के तान्त्रिकों में वामाचार और दक्षिणाचार दोनों ही मिश्रित है। उनके मत से मनुष्य जन्ममात्र से दक्षिणाचारी तथा दीक्षा और अभिषेक के बाद वामाचारी कहलाता है।

वेदाचार

वेदाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. २८०-२८३) में उद्धृत नित्यातन्त्र में बताया गया है कि साधक को चाहिये कि वह ब्राह्म मुहूर्त में उठे और गुरु के नाम के अन्त में आनन्दनाथ बोल कर उनको प्रणाम करे। फिर सहस्रदल पद्म में ध्यान करके पंचोपचार पूजा करे और वाग्भव बीज का जप करके परम शक्ति का ध्यान करे। संक्षेप में यही विधि वेदाचार के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त ग्रन्थ में रुद्रयामल, विश्वसारतन्त्र प्रभृति के आधार पर इस विषय को विस्तार से समझाया गया है। उस सारे प्रकरण का सार यह है कि सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने आन्तर वरिवस्या के माध्यम से जिस समयाचार का प्रतिपादन किया है, उसी का नामान्तर वेदाचार है।

वैष्णवाचार

वैष्णवाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में उद्धृत नित्यातन्त्र में बताया गया है कि वैष्णवाचार का पालन करने वाले को वेदाचार की विधि के अनुसार सर्वदा नियम में तत्पर होना चाहिये। मैथुन या उसका

कथाप्रसंग भी कभी न करना चाहिये। हिंसा, निन्दा और कुटिलता का आचरण कभी न करना चाहिये। मांसभोजन का परित्याग करना चाहिये। रात्रि में कभी भी माला या यन्त्र को छूना नहीं चाहिये। भगवान् विष्णु की सदा पूजा करे तथा उन्हींको सब कुछ निवेदित कर दे। वैष्णवाचार का पालन करने वाला इस सारे जगत् को विष्णुमय ही मानता है।

शैवाचार

शैवाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में उद्धृत नित्यातन्त्र के एक वचन में कहा गया है कि शैवाचार और शाक्ताचार का पालन करने वालों के लिये भी वही व्यवस्था है, जो कि वेदाचार का पालन करने वालों के लिये विहित है। शैवाचार में विशेषता यह है कि यहाँ पशुबलि का भी विधान है। इस आचार में पशुबलि को निषिद्ध घोषित नहीं किया गया है। शैवागम और शैवतन्त्र में प्रतिपादित आचारविधि का पालन करना ही वस्तुत: शैवाचार पद का अभिप्राय है।

सिद्धान्ताचार

सिद्धान्ताचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में उद्धृत एक वचन में बताया गया है कि सिद्धान्ताचार में शुद्ध या अशुद्ध सभी प्रकार की वस्तुएँ शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध कर ली जाती हैं। प्राणतोषिणी (पृ. ९६५) में ही उद्धृत समयाचारतन्त्र में सिद्धान्ताचारियों के विषय में बताया गया है कि वे सर्वदा देवपूजा में निरत रहते हैं। दिन में तो ये वैष्णवाचार विधि से जीवन-यापन करते हैं, किन्तु रात्रि में मिल जाने पर ये भक्तिभाव से मद्य आदि का भी सेवन कर अपने को कृतकृत्य, आप्तकाम मानते हैं।

आज्ञाचक्र

विशुद्धिचक्र के ऊपर भ्रूमध्य में हिम के सदृश श्वेत वर्ण का आज्ञाचक्र अवस्थित है। यह द्विदल पद्म है। इसको आज्ञाचक्र इसलिये कहते हैं कि यहाँ गुरु की आज्ञा शिष्य में पूर्णरूप से संक्रान्त हो जाती है। इस द्विदल पद्म के दलों पर अर्धचन्द्र और बिन्दु से अलंकृत हकार और सकार वर्ण अंकित हैं। इनका भी वर्ण श्वेत ही है। इस पद्म की कर्णिका में चन्द्रिका के समान धवल

वर्ण की छः मुँह वाली हाकिनी शक्ति विराजमान है। यह अपने छः हाथों में विद्या, वरमुद्रा, अभयमुद्रा, कपाल, डमरु और जपमाला को धारण किये हुए है। इस कमल की कर्णिका में मन का निवास है और यहीं त्रिकोण स्थान में **इतर** लिंग की भी स्थिति है। यहीं प्रणव का ध्यान किया जाता है। अकार, उकार, मकार, नाद और बिन्दुमय यह प्रणव अन्तरात्मा का प्रतिबिम्ब माना गया है। इसका वर्ण दीपशिखा के समान भास्वर है। इसमें चित्त के लीन हो जाने पर योगी बाह्य विषयों से सम्बन्ध का विच्छेद करा देने वाली योनिमुद्रा अथवा खेचरी मुद्रा में प्रतिष्ठित हो जाता है और वह प्रणव की अन्य कलाओं के साक्षात्कार में भी समर्थ हो जाता है। सहस्रार-स्थित वह्नि, चन्द्र और सूर्य मण्डल में जैसे परम शिव का निवास है, उसी तरह इस भ्रूमध्य स्थित चक्र में भी भगवान् शिव अपने तृतीय ज्ञाननेत्र का उन्मीलन कर पूर्ण वैभव के साथ निवास करते हैं। इस आज्ञाचक्र में प्राणों को समारोपित कर योगी वेदान्तवेद्य परम पद में प्रवेश पा सकता है। इसके ऊपर महानाद की स्थिति है। गुरुचरणों की कृपा होने पर ही योगी इसका साक्षात्कार कर सकता है। इस महानाद में आकर वायु लीन हो जाती है। यह महानाद शिवशक्तिमय है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरूपण, ६ प्रक०)।

आणव उपाय

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थानकल्पना का अभ्यास आणव उपाय है। इनमें से किसी भी एक उपाय के अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता को आणव समावेश दशा कहते हैं। अणु, अर्थात् परिमित प्रमाता परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि को उपाय के रूप में स्वीकार करता है, इसलिये इसको आणव उपाय कहा जाता है।

इनमें से ध्यान बुद्धि का व्यापार है। प्राण स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। स्थूल प्राण का व्यापार उच्चार है। यह प्राण आदि की वृत्तियों के रूप में प्रकट होता है। सूक्ष्म प्राण को वर्ण शब्द से कहा जाता है। शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का नाम करण है। घट-स्थापन, मण्डल-निर्माण, मन्दिर, मूर्त्ति, चित्र आदि की रचना जैसी विधियों का समावेश स्थान-कल्पना में होता है। अपि च, सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। प्राण, अपान आदि वायु की श्वास-

प्रश्वास, क्षुत् (छींक) आदि वृत्तियाँ उच्चार कहलाती हैं। स्वच्छन्दतन्त्र की टीका (प. ७, पृ. ३०६) में क्षेमराज ने किसी मुद्रा (करण) या बन्ध में बैठकर मन्त्र के जप करने को उच्चार बताया है। प्राण के उच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाले सकार और हकार वर्ण कहे जाते हैं। इस स्थिति को शास्त्रों में अजपा जप कहा गया है। ये सभी वर्णों और मन्त्रों का बोध कराते हैं। अथवा वर्ण शब्द काले-पीले आदि रंगों का भी बोधक है। विज्ञानभैरव की धारणा संख्या ६३ में कृष्ण वर्ण की भावना वर्णित है। तिमिर-भावना (६०-६२ धारणाओं) का भी इसी में समावेश किया जा सकता है। बौद्ध योगशास्त्र में कसिण-भावना के अन्तर्गत नील, पीत आदि कसिणों का उल्लेख मिलता है (द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ. ७६)।

त्रिशिरोभैरव के आधार पर तन्त्रालोक (भा. ३, आ. ५, पृ. ४३८-४४३) में करण के सात भेद बताये गये हैं। इनके नाम हैं — ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, सन्निवेश, व्याप्ति, आक्षेप और त्याग। तन्त्रालोक के १६ वें आह्निक में ग्राह्य और ग्राहक का, ११ वें आह्निक में संवित्ति का, १५ वें आह्निक में व्याप्ति का, २९ वें आह्निक में त्याग और आक्षेप का और ३२ वें आह्निक में संनिवेश (मुद्रा) का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिज्ञासु जनों को इनका वहीं अवलोकन करना चाहिये।

प्राणशक्ति, अर्थात् हृदय के स्पन्दनात्मक सामान्य व्यापार में, शरीर में विद्यमान नाड़ियों तथा चक्रों में तथा बाहर लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में स्थान-कल्पना की विधि सम्पन्न की जाती है। सामान्य स्पन्द तत्त्व के उन्मेष के बाद ही उसमें षडध्व का स्फुरण होता है। कार्यकारण स्थल में क्रम से और कुहन-प्रयोग (इन्द्रजाल से निर्मित पदार्थ) आदि में अक्रम से सभी पदार्थों की कलना करने वाला परमेश्वर का काल नामक स्वरूप सबसे पहले भासित होता है। भगवान् का यह स्वरूप अभेदावस्था में काली शक्ति और भेदावस्था में प्राण शक्ति के नाम से जाना जाता है। संवित्स्वरूपा काली शक्ति में अपनी इच्छा से क्रम और अक्रम रूप से नाना रूपों में भासित होने के लिये क्रिया शक्ति का उन्मेष होता है। इस क्रिया शक्ति का प्रथम उन्मेष प्राण व्यापार है। ''प्राक् संवित् प्राणे परिणता'' कल्लट के इस वचन में यही बात प्रतिपादित है। यह प्राण शक्ति अपने प्राण, अपान आदि पाँच रूपों में जीव को आप्यायित किये रहती है। इसी के रहने पर

यह चेतन कहलाता है। इस क्रिया शक्ति के पूर्व भाग में कालाध्वा और उत्तर भाग में देशाध्वा की स्थिति है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप वर्ण, मन्त्र और पद की तथा देशाध्वा में कला, तत्त्व और भुवन की स्थिति है। शब्द और अर्थस्वरूप शिव और शक्ति में व्याप्यव्यापक भाव से पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप से विद्यमान वर्ण, पद, मन्त्र और कला, तत्त्व, भुवन—षडध्व के नाम से अभिहित होते हैं। यह सारा जगत् षडध्वमय है। इसका उन्मेष क्रिया शक्ति से होता है। सारे षडध्वात्मक जगत् में बाहर-भीतर सब जगह प्राण शक्ति का स्पन्दन सतत प्रवृत्त है, तो भी हृदय प्रभृति स्थानों में ही इसके स्फुरण की अनुभूति होती है। प्राण शक्ति के स्फुरण में ईश्वर की शक्ति, जीव की शक्ति और उसका प्रयत्न इन तीनों की उपयोगिता है। हृदय प्रभृति स्थानों में स्पन्दमान इस प्राण शक्ति में चित्त को विलीन कर देना भी स्थान-कल्पना नामक आणव उपाय का अंग है। इसी तरह से शरीर के भीतर विद्यमान नाड़ी, चक्र आदि स्थानों में और बाहर लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में चित्त को नियोजित करना भी स्थान-कल्पना है। वस्तुत: बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। ये सब विकल्पात्मक हैं। तो भी इनके सहारे परमार्थ स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है (तन्त्रालोक ५.७, विवेक ५.१०)। इन विकल्पात्मक स्थूल उपायों को ही आणव उपाय कहा जाता है।

आधार

तन्त्रशास्त्र में ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर षण्ढ (नपुंसक) कहे गये हैं। अत: ध्यान आदि में इनका उपयोग नहीं किया जाता। सोलह स्वरों में से इन चार षण्ढ स्वरों को निकाल देने पर उनकी संख्या बारह रह जाती है। इन बारह स्वरों की जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी— इन बारह चक्रों या आधारों में भावना का विधान विज्ञानभैरव (श्लो. ३०) जैसे ग्रन्थों में मिलता है। कहीं कहीं नामों में कुछ अन्तर पड़ जाता है। शास्त्रों में मतभेद से हृदय या जन्माधार से द्वादशान्त पर्यन्त, कन्द से ब्रह्मरन्ध्र तक, जन्माग्र से द्वादशान्त तक अथवा आधार से द्वादशान्त तक प्राण शक्ति की गति मानी गयी है। इनमें जन्माग्र और जन्म तथा मूल और गुदाधार शब्द पर्यायवाची है। नेत्रतन्त्र (७.१-५) की व्याख्या में क्षेमराज ने अङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र, पायु, कन्द, नाड़ी (नाभि), जठर,

हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त— ये सोलह आधार गिनाये हैं। इसके अनुसार जन्माग्र या जन्म मेढ़्र का तथा मूल या गुदाधार पायु का पर्यायवाची है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द (पृ. ५९) और भास्करराय ने कन्द को सुषुम्णा नाडी का मूल स्थान और उसमें रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति का पर्यायवाची माना है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर यहाँ शक्ति और व्यापिनी का स्थान माना गया है। योगिनीहृदय (१.२५-३४) में अकुल, विष, वह्नि, शक्ति, नाभि, अनाहत (हृदय), विशुद्धि, लम्बिकाग्र, भ्रूमध्य (आज्ञा) के ऊपर ललाट में क्रमशः एक दूसरे के ऊपर बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना की स्थिति मानी गयी है। विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने ४२ वें श्लोक की व्याख्या में सोलह भूमियों का उल्लेख किया है। ऊपर गिनाये गये सोलह आधारों से इनकी कोई संगति नहीं बैठती। कुलागम-सम्मत सोलह आधारों का वर्णन नेत्रतन्त्र (७.१-५) की क्षेमराज कृत व्याख्या में मिलता है। नामों में भिन्नता होते हुए भी इनका क्रम योगिनीहृदय से मिलता है।

आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी

रुद्रयामलतन्त्र का उपदेश आनन्दभैरव ने आनन्दभैरवी को किया है। इस तरह से आनन्दभैरव शिव के अवतार और आनन्दभैरवी शक्ति के अवतार के रूप में तन्त्रशास्त्र में मान्य हैं। शक्तिसङ्गमतन्त्र में अनेक स्थानों पर विभिन्न विधि-विधानों के सम्बन्ध में आनन्दभैरव के मत का उल्लेख मिलता है। योगिनीहृदय (३.१०५-१०६) में अर्घ्य के प्रकरण में नवात्म-मन्त्र से अमृतेशी (आनन्दभैरवी) के साथ आनन्दभैरव की पूजा करने की विधि बतायी गयी है। दीपिका (पृ. २५७) और सेतुबन्ध (पृ. २६०) टीका में नवात्म-मन्त्र का उद्धार भी प्रदर्शित है। इस नवात्म-मन्त्र का उच्चारण करने के उपरान्त 'आनन्दभैरवाय वौषट्' कह कर आनन्दभैरव और अमृतेशी (आनन्दभैरवी) को अर्घ्य प्रदान द्वारा तृप्त करना चाहिये। इनका ध्यान प्राणतोषिणीतन्त्र (पृ. ९८९) में वर्णित है।

अभिनवगुप्तकृत देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र (श्लो. ४,५) में हृदय-कमल में प्रतिष्ठित चैतन्य को आनन्दभैरव और उसकी अहंविमर्शमयी शक्ति को आनन्दभैरवी कहा गया है।

आप्यायन

प्राणायाम के प्रसंग में सलिल बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम के अभ्यास से साधक के शरीर को आप्यायित करने वाली आप्यायन विधि का वर्णन किया गया है। शिष्य को मन्त्र दीक्षा देते समय गुरु मन्त्र को दशविध संस्कार से संस्कृत करता है। ये दशविध संस्कार शारदातिलक (२.११२-११३) में इस प्रकार वर्णित है—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गोपन। इन शब्दों की व्याख्या भी वहीं (३.११४-१२२) की गयी है। तदनुसार 'ॐ ह्रौं' इस ज्योतिर्मन्त्र के उच्चारण के साथ मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को कुशोदक से प्रोक्षित करने की क्रिया को आप्यायन कहा गया है। नेत्रतन्त्र (१८.६-८) में मन्त्रों के नवविध संस्कार ही वर्णित हैं। बांकार से मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को सम्पुटित करने की क्रिया को वहाँ आप्यायन बताया गया है।

आम्नाय विभाग

तान्त्रिक वाङ्मय का स्रोतोविभाग और आम्नाय विभाग प्रसिद्ध है। इनमें पहला विभाग शैव तन्त्रों के लिये और दूसरा विभाग शाक्त तन्त्रों के लिये मान्य है। कुलार्णवतन्त्र (३.७) में बताया गया है कि शिव के तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर, वामदेव और ईशान नामक पाँच मुखों से क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व आम्नायों का, तदन्तर्गत तन्त्रों का आविर्भाव हुआ। यह आम्नाय विभाग परशुरामकल्पसूत्र (१.२) में भी प्रदर्शित है, किन्तु उसका क्रम कुछ भिन्न है। नित्याषोडशिकार्णव जैसे ग्रन्थों में चार ही आम्नाय स्वीकृत हैं। प्रायः सभी टीकाकार इससे सहमत भी है। किन्तु भास्करराय का कहना है कि 'चतुः' पद ऊर्ध्वाम्नाय का भी द्योतक है। इन ग्रन्थों में आम्नाय के स्थान पर समय तथा अन्वय पद भी प्रयुक्त हैं। सौन्दर्यलहरी (१.१०) में छः आम्नाय सूचित हैं। टीकाकार कैवल्याश्रम अनुत्तराम्नाय को छठा आम्नाय मानते हैं। नेत्रतन्त्र (१६.७६) और तन्त्रालोक (१५.२०४-२०६) में षष्ठ आम्नाय का उल्लेख रहस्यस्रोतस्, ज्येष्ठ, अधोवक्त्र, पातालवक्त्र अथवा पिचुवक्त्र के नाम से हुआ है। इन षडाम्नाय तन्त्रों का विस्तार से वर्णन शक्तिसंगम आदि में मिलता है।

इडा नाडी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त नाडियों में से तीन नाडियाँ मुख्य हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इनमें से इडा नाडी शरीर के वाम भाग में स्थित है, जो कि सोमात्मक मानी जाती है। इडा नाडी वाम मुष्क से उठ कर धनुष की तरह तिरछे आकार में बाये गुर्दे और हंसुली में से होती हुई वाम नासिका तक गतिशील रहती है। इडा नाडी शंख और कुन्द के समान श्वेत वर्ण की है। इसमें चन्द्रमा का संचार होता है। यह ऊर्ध्वगामिनी नाडी है। ज्ञानसङ्कलिनी (श्लो. ११-१२) में इडा नाडी को गंगा बताया गया है। सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले जीवों को यह नाडी धूम मार्ग, अर्थात् पितृयाण मार्ग से पितृलोक में ले जाती है, जो कि पुनर्जन्म का कारण बनता है। इन नाडियों का शोधन किये बिना साधक कभी भी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। पूरक प्राणायाम करते समय इडा नाडी से ही वायु को ऊपर उठाया जाता है। जब इडा नाडी से स्वर चलता है, तब प्रत्येक शुभ कार्य करने में सफलता मिलती है।

उन्मेष

उन्मेष का शब्दार्थ है खिलना, विकास। यह शैव और शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द है। स्पन्दकारिका (श्लो. ४१) में इसका लक्षण दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब किसी एक चिन्ता में पड़ा रहता है, तभी उसके मन में दूसरी चिन्ता (विचार) का आविर्भाव हो जाता है। जिस क्षण में एक चिन्ता से दूसरी चिन्ता में चित्त प्रविष्ट होता है, संवेदन का यही सन्धि-बिन्दु **उन्मेष** कहलाता है। साधक को चाहिये कि वह इस उन्मेष दशा का साक्षात्कार करे। चित्त का स्वभाव है कि वह एक विचार से दूसरे विचार की ओर दौड़ता रहता है। यदि कोई साधक एक विचार के समाप्त होते ही दूसरे विचार के उदय होने से ठीक पहले चित्त की वृत्ति को शान्त कर दे, तो वह इस उन्मेष दशा में प्रविष्ट हो सकता है। क्योंकि ऐसा करने से आगे कि चिन्ता का उत्थान ही नहीं होगा और पहली चिन्ता के विलीन हो जाने से चित्त उस क्षण में वृत्ति-शून्य हो जायगा। इस उन्मेष दशा में चित्त को स्थिर कर देने से सारी इच्छाएँ जहाँ से उत्पन्न होती हैं, वहीं विलीन हो

जाती हैं। अर्थात् जिस उन्मेष स्वरूप स्पन्द तत्त्व से ये इच्छाएँ पैदा होती हैं, उसीमें ये विलीन भी हो जाती हैं और इस प्रकार साधक योगी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपाय

मालिनीविजयतन्त्र (२.२१-२३) में स्वस्वरूप की अधिगति के लिये संक्षेप में आणव, शाक्त और शाम्भव नामक त्रिविध उपाय तथा उनकी सहायता से प्राप्त होने वाली त्रिविध समावेश (समाधि) दशाओं का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में तृतीय से लेकर द्वादश आह्निक तक अत्यन्त विस्तार से और तन्त्रसार (पृ. १०-११४) में अपेक्षाकृत कम विस्तार से, महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की चार कारिकाओं (५६-५९) तथा उनकी परिमल व्याख्या (पृ. १३८-१५३) में संक्षेप में इस विषय को समझाया है। इन तीनों उपायों को समझाने के लिये विज्ञानभैरव के २४वें श्लोक की षड्विध व्याख्या की गई है। इनके अतिरिक्त अनुपाय प्रक्रिया का भी इसी में समावेश किया जाता है। अभिनवगुप्त आदि ने इन उपायों का जिस तरह का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने आणव उपाय में क्रम और कुल दर्शन से भिन्न समस्त तान्त्रिक और यौगिक विधियों का समावेश किया है। शाक्त उपाय के रूप में क्रम दर्शन की और शाम्भव उपाय के रूप में उन्होंने कुल दर्शन की व्याख्या की है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अनुपाय प्रक्रिया माना है। इन चारों उपायों का वर्णन यहाँ यथास्थान किया गया है।

इनके अतिरिक्त स्थूल, सूक्ष्म और पर पद्धति से त्रिविध उपाय मृत्युञ्जयभट्टारक (नेत्रतन्त्र) के ६-८ अधिकारों में विस्तार से वर्णित हैं। याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रा, यन्त्र, मन्त्र—ये सब स्थूल उपाय हैं। षट्चक्र, षोडश आधार आदि में प्राण-चार की भावना को सूक्ष्म उपाय बताया गया है। अष्टाङ्ग योग के अभ्यास से प्राप्त होने वाली सर्वात्मभाव की स्थिति को पर उपाय माना गया है।

एकलिंग

शक्तिसङ्गम (१.६) प्रभृति शाक्त तन्त्रों में दीक्षा के लिये उपयुक्त स्थानों में पर्वत, शून्यगृह, मन्दिर अथवा अरण्य, श्मशान, नदीसमुद्रसङ्गम, चक्रपाणि

(कुम्हार) गृह, एकलिंग आदि का समावेश है। इनमें से एकलिंग का लक्षण शक्तिसङ्गमतन्त्र (१.८.११०-१११) में इस प्रकार दिया है—जिस मन्दिर में पश्चिमाभिमुख पुरातन शिवलिंग हो, उसके सामने नन्दी की मूर्ति न हो तथा जिसके चार-पाँच कोस के घेरे में अन्य कोई लिंग न दिखाई पड़े, उस स्थान को एकलिंग कहते हैं। यहाँ इष्ट की आराधना करने से अनुत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। राजस्थान राज्य में उदयपुर से नाथद्वारा जाते समय बीच में एकलिंग जी का मन्दिर पड़ता है। किन्तु यह लिंग पाशुपत मत के अनुसार पञ्चमुख शिव का है। कौलज्ञाननिर्णय में संगृहीत ज्ञानकारिका (३.७-९) में कौलिक लिंग, अर्थात् देहज लिंग को एकलिंग बताया गया है। तन्त्रालोक (१५.८२-९६) में बताया गया है कि कामरूप, पूर्णगिरि और उड्डियान पीठ से पर्वताग्र, नदीतीर और एकलिंग का प्रादुर्भाव होता है।

ओघ

तन्त्रशास्त्र में ज्ञान की परम्परा को ओघ (प्रवाह) के नाम से जाना जाता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ के भेद से यह तीन तरह की होती है। देवताओं की परम्परा दिव्यौघ, सिद्धों की परम्परा सिद्धौघ और मानव गुरुओं की परम्परा मानवौघ के नाम से प्रसिद्ध है। तन्त्र की प्रत्येक शाखा का ज्ञान पहले देवताओं को प्राप्त हुआ। देवताओं से सिद्धों को और सिद्धों से वह मानवों को प्राप्त हुआ। यह गुरु-परम्परा शास्त्रों में क्रमोदय, गुरुमण्डल या गुरुपंक्ति के नाम से भी अभिहित हुई है। हादिविद्या के दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरुओं की नामावली ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी, सौभाग्यसुधोदय आदि ग्रन्थों में मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की गुरुपंक्ति का परिचय दीक्षित शिष्य को अपने गुरु से प्राप्त होता है।

ओवल्ली

तन्त्रशास्त्र में ज्ञान की परम्परा (प्रवाह) को ओवल्ली के नाम से भी जाना जाता है। तन्त्रालोक (२९.३६) में बताया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने अपना ज्ञान छः राजपुत्रों को दिया और उनका नाम आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्दान्त रखा, अर्थात् उनको यह निर्देश दिया कि अपने शिष्यों के नामों के अन्त में इन शब्दों को जोड़ें। मत्स्येन्द्रनाथ के इन षड्विध शिष्यों

की यह परम्परा (प्रवाह) ही ओवल्ली के नाम से अभिहित है। मत्स्येन्द्रनाथ कौलशास्त्र के आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं। बौद्ध और जैन योग पर भी इनका प्रभाव परिलक्षित होता है। बौद्ध तन्त्रशास्त्र (वज्रयान) के अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के नाम बोधि, प्रभु और पाद नामक ओवल्लियों से सम्बद्ध हैं। स्पष्ट है कि इन नामों से अंकित आचार्यगण मत्स्येन्द्रनाथ के ही ज्ञानप्रवाह से किसी न किसी प्रकार से जुड़े हुए हैं।

करण

"करणं देहसन्निवेशविशेषात्मा मुद्रादिव्यापार:" (पृ. ३५) शिवसूत्रविमर्शिनी के परिशिष्ट (टि. १९) में करण का यह लक्षण बताया गया है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित खेचरी आदि मुद्राओं और जालन्धर आदि बन्धों का इसीमें समावेश किया जाता है। इनमें शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का अभ्यास किया जाता है। करण की गणना आणव उपाय में की जाती है। त्रिशिरोभैरव के आधार पर तन्त्रालोक के पंचम आह्निक (पृ. ४३८-४४३) में करण के सात भेद बताये गये हैं। इनके नाम हैं—ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, सन्निवेश, व्याप्ति, आक्षेप और त्याग। तन्त्रालोक के १६ वें आह्निक में ग्राह्य और ग्राहक, ११ वें आह्निक में संवित्ति, १५ वें आह्निक में व्याप्ति, २९ वें आह्निक में त्याग और आक्षेप और ३२ वें आह्निक में सन्निवेश (मुद्रा) का संकेतभाव से वर्णन मिलता है।

कादि-हादि-कहादि मत

शक्तिसङ्गमतन्त्र (१.१.९-१०, २.५८.७८-७९) में बताया गया है कि तन्त्रराजतन्त्र में आठ खण्ड हैं। चार खण्ड पूर्वार्ध में और चार खण्ड उत्तरार्ध में हैं। पूर्वार्ध में कादिमत का और उत्तरार्ध में हादिमत का प्रतिपादन किया गया है। काली के मन्त्र का प्रथम अक्षर ककार है और सुन्दरी के मन्त्र का पहला वर्ण हकार है। अत: काली का सम्प्रदाय कादिमत के नाम से और सुन्दरी का सम्प्रदाय हादिमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। ककार ब्रह्मरूप है और हकार शिवस्वरूप। यहीं अन्यत्र (१.२.९८-९९) बताया गया है कि उक्त उभय मतों का प्रतिपादक होने से ही तन्त्रराजतन्त्र को विराण्मत के नाम से भी जाना जाता है। उक्त दो मतों के अतिरिक्त इस तन्त्र (२.६.३५) में कहादि मत का उल्लेख

कर उसकी व्याख्या की गयी है कि इस मत में तारिणी (तारा) विद्या की आराधना की जाती है। वहीं इसको उत्तराम्नाय विद्या भी कहा गया है। इस विषय की विशेष जानकारी उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात (पृ. २८-३०) से प्राप्त की जा सकती है।

कामकला

अकाररूप प्रकाश के साथ हकाररूप विमर्श का, अर्थात् अग्नि के साथ सोम का साम्यभाव ही काम अथवा रवि के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्रों में जिस अग्नीषोमात्मक बिन्दु का उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है। शिव ही अकार और शक्ति ही हकार है। बिन्दुरूप में यही अहम् अथवा अहन्ता है। साम्य के भङ्ग होने पर यह बिन्दु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त बिन्दु के रूप में आविर्भूत होता है। इसमें प्रकाश शुक्ल बिन्दु और विमर्श रक्त बिन्दु है। दोनों की परस्पर अनुप्रवेशात्मक साम्यावस्था मिश्र बिन्दु है। शुक्ल बिन्दु अग्नि का, रक्त बिन्दु सोम का और मिश्र बिन्दु रवि या काम का प्रतिनिधित्व करता है। अग्नीषोमात्मक बिन्दु भी रवि या काम का ही कलाविशेष है। अतः कामकला के नाम से उक्त तीनों बिन्दुओं का बोध होता है। इन तीन बिन्दुओं की समष्टि ही भगवती त्रिपुरा का अपना स्वरूप है। इसका ऊर्ध्व बिन्दु (रवि) देवी के मुख के रूप में, अग्नि और सोम बिन्दु स्तनद्वय के रूप में तथा हकार की अर्धकला योनि के रूप में ध्येय है। कामकला का यही स्वरूप है। नित्याषोडशिकार्णव (१.१८५-१८६), कामकलाविलास (श्लो. १-६) आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। 'हर' इस पद का आधा भाग 'र' अक्षर है। इसी को अक्षरोपासना के क्रम में हरार्ध कहा गया है। इसका आकार प्राचीनतर लिपि में जैसा है, उसी के ऊपर यदि दो बिन्दुओं को और उनके ऊपर एक और बिन्दु को लगा दिया जाय तो निष्कला कामकला का अक्षरमय रूप बन जाता है। इसी अक्षररूपिणी कामकला का वर्णन "मुखं बिन्दुं कृत्वा" इत्यादि श्लोक के द्वारा सौन्दर्यलहरी में किया गया है। परन्तु इस रहस्य को और प्राचीन लिपियों को न जानने के कारण चिद्विलास टीका आदि ग्रन्थों में बड़े बड़े विद्वानों ने भी पाठकों के सामने भ्रान्त धारणाओं को उपस्थित किया है। मातृका-उपासना कश्मीर में बहुत प्रचलित थी। शारदा लिपि में अब भी कामकला भगवती के निष्कल रूप को बिन्दुत्रय युक्त हरार्ध में स्पष्ट देखा जा सकता है। वही

सौन्दर्यलहरी में वर्णित मन्मथकला का लिपिमय आकार है। आगे **हार्धकला** शब्द की व्याख्या को भी देखें।

कामराज विद्या

कामराज-सन्तान और लोपामुद्रा-सन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। कामराज-सन्तान के प्रवर्तक क्लीमानन्द, अर्थात् रति के पति कामदेव हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम लोक में कादि विद्या को प्रवृत्त किया। इसीलिये इस विद्या का नाम कामराज विद्या पड़ा। कादि विद्या का अभिप्राय त्रिपुरा भगवती के उस मन्त्र से है, जिसका आरम्भ ककार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या आज भी लोक में प्रवृत्त है। प्रपञ्चसार, सौन्दर्यलहरी, नित्याषोडशिकार्णव जैसे ग्रन्थों में इस विद्या का उद्धार और उपासनाविधि विस्तार से वर्णित है। ज्ञानार्णव, श्रीविद्यार्णव जैसे ग्रन्थों में इस विद्या के अनेक भेदों और उपभेदों का वर्णन मिलता है। भास्करराय इस विद्या की परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध, ललितासहस्रनामभाष्य, वरिवस्यारहस्य आदि ग्रन्थों में इस विद्या के गरिमामय दर्शन का उन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में प्रतिपादन किया है।

कामेश्वर-कामेश्वरी

शिव और शक्ति ही त्रिपुरा सिद्धान्त में कामेश्वर और कामेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः परमशिव ही प्रकाश और विमर्श के रूप में विभक्त होकर कामेश्वर और कामेश्वरी का रूप धारण करते हैं। शृङ्गाट के मध्य में स्थित महाबिन्दु में, जो कि ओड्याण पीठ का प्रतीक है, इनकी उपासना की जाती है। त्रिपुरा विद्या का प्रथम उपदेश भगवान् कामेश्वर भगवती कामेश्वरी को ही करते हैं। ये ही कृतयुग में चर्यानाथ और त्रिपुरसुन्दरी के रूप में अवतीर्ण होते हैं। त्रेता, द्वापर और कलियुग में भी ये विभिन्न नामों से मिथुन भाव में अवतीर्ण होते हैं। इनका विवरण नित्याषोडशिकार्णव जैसे ग्रन्थों में मिलता है। त्रिकोण के बाहर पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं में बाण, धनुष, पाश और अंकुश नामक आयुधों की पूजा का विधान है। (नि. षो. १.१७९-१८०)। योगिनीहृदय (१.५४) में आश्रय और आश्रयी (कामेश्वर और कामेश्वरी) के भेद से इनकी संख्या आठ बतायी गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक स्त्री को साध्य मान कर यदि प्रयोग करना चाहे, तो उक्त चार

आयुधों से संवलित कामेश्वर का ध्यान करे और पुरुष को साध्य मान कर यदि प्रयोग करना चाहे, तो उक्त चार आयुधों से संवलित कामेश्वरी का ध्यान करे। त्रिपुरा सम्प्रदाय में कामेश्वरी पद का प्रयोग षोडश नित्याओं में से द्वितीय नित्या, वशिनी आदि आठ आवरण देवताओं में द्वितीय देवता तथा कामरूप पीठ की अधिष्ठात्री देवता के लिये भी होता है। किन्तु इनमें से किसी का भी सम्बन्ध कामेश्वर के साथ नहीं है, अर्थात् सदाशिवाख्य बैन्दव चक्र में बैन्दवासन पर तो कामेश्वराङ्कनिलया कामेश्वरी की ही उपासना होती है, जो कि कामेश्वर के साथ वहाँ नित्य समरस भाव में अवस्थित रहती है।

कारण बिन्दु

भास्करराय आगम और तन्त्रशास्त्र के अन्तिम महान् आचार्य माने जाते हैं। नित्याषोडशिकार्णव की सेतुबन्ध टीका, वरिवस्यारहस्य और ललितासहस्रनाम की सौभाग्यभास्कर व्याख्या इनके प्रसिद्धतम ग्रन्थ हैं। सौभाग्यभास्कर में प्रसङ्गवश इन्होंने प्रपञ्चसार में प्रतिपादित सृष्टि-प्रक्रिया की व्याख्या की है। वे लिखते हैं कि प्रलयावस्था में ब्रह्म घनीभूत दशा में अवस्थित रहता है। उस समय आगे जिन प्राणियों की सृष्टि की जाने वाली है, उनके कर्मों के साथ ब्रह्म की माया शक्ति भी प्रसुप्तावस्था में रहती है। समय के अनुसार कर्मों का परिपाक होने पर ब्रह्म में विचिकीर्षा उत्पन्न होती है। उस समय माया शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है। ब्रह्म की यह शक्ति अव्यक्त के नाम से अभिहित होती है, क्योंकि इस दशा में यद्यपि कर्मों का परिपाक हो जाता है और उसकी शक्ति भी प्रबुद्ध हो जाती है, किन्तु वह अभी अव्यक्त रहती है। इसी को कारण बिन्दु कहते हैं, क्योंकि यह जगत् रूपी अङ्कुर का कन्द भाग है। कन्द भाग, अर्थात् जड़ के विकसित होने के बाद ही जैसे अङ्कुर फूटकर ऊपर आता है, उसी तरह से इस कारण बिन्दु के विकास के बाद ही आगे की सृष्टि चलती है। 'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्' (१.४१) प्रपञ्चसार के इस वचन में बिन्दु पद कारण बिन्दु का बोधक है।

कार्य बिन्दु

कारण बिन्दु से क्रमशः कार्य बिन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति होती है, जो कि पदार्थों की पर, सूक्ष्म और स्थूल दशा के प्रतीक हैं। ये क्रमशः चित्स्वरूप, चिदचिन्मिश्रित स्वरूप और अचित्स्वरूप होते हैं। ये ही कारण बिन्दु

आदि चार तत्त्व अधिदैवत अवस्था में अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् के; शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री शक्ति के तथा अम्बिका, इच्छा, ज्ञाना, क्रिया शक्ति के रूप में विकसित होते हैं। अधिभूत अवस्था में ये कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ का रूप धारण करते हैं और अध्यात्म पक्ष में कारण बिन्दु, शक्ति, पिण्ड, कुण्डली जैसे शब्दों से अभिहित होते हैं, जिनकी स्थिति मूलाधार में रहती है।

कालचक्र

कालचक्र शब्द का सामान्य अर्थ समय का चक्र है, जो कि निरन्तर गतिशील है, रात-दिन घूमता रहता है। किन्तु बौद्ध तन्त्रों में यह विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ अद्वय, अक्षर, परम तत्त्व है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्ति है। चक्र पद का अर्थ संवृति रूप शून्यता है। बौद्ध तन्त्रों में बताया गया है कि जाग्रत् अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधिचित्त-काय शान्त या विकल्पहीन होता है, यही **का** से अभिप्रेत है। कायबिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माणकाय नाम का बुद्धकाय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है, यही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग्बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में सम्भोगकाय का उदय होता है, जो **ल** से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्तबिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्द आदि विषयों में विचरण करता है। इसी लिये चंचल रहता है और तम से अभिभूत हो जाता है। अठारह प्रकार के धातु-विकारों से यह विकृत रहता है। इनका अपसारण करने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही **च** का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब काय आदि सभी बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का भी नाश हो जाता है। स्वरगत ज्ञानबिन्दु के निरोध से नाभि में सहजकाय का आविर्भाव होता है। यही **क्र** का अभिप्राय है। इस तरह से इस कालचक्र में चार बुद्ध-कायों का समाहार है। इसीको प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य कहते हैं। वज्रयान और सहजयान के समान कालचक्रयान भी बौद्ध तन्त्रों की एक विशिष्ट उपासनाविधि है। इसका विपुल साहित्य उपलब्ध है (भारतीय साधना और संस्कृति, भा. २, पृ. ५४०)।

काश्मीर सम्प्रदाय

शक्तिसङ्गमतन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से ५६ देशों में बाँटा गया है और बताया गया है कि मरुदेश से नेपाल तक काश्मीर सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार काश्मीर में त्रिपुरा की और कादिमत के अनुसार तारिणी की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में शक्तिपात के अनुसार ऊर्ध्वाम्नाय दीक्षा प्राप्त होती है। प्रथमतः यह ऋक्काश्मीर, यजु:काश्मीर, सामकाश्मीर और अथर्वकाश्मीर के रूप में चतुर्धा विभक्त है। शैवकाश्मीर, शाक्तकाश्मीर और शिवशक्तिकाश्मीर विभागों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इसके नौ भेद होते हैं। काश्मीर सम्प्रदाय को सर्वदिव्य नाम दिया गया है और फिर उसके भावनाथ, क्रियानाथ, ज्ञाननाथ, चित्पर, चेतनेश, सिद्धनाथ और ऋद्धिनाथ नामक भेद गिनाये गये हैं। भावदिव्य और क्रियादिव्य के भेद से भी काश्मीर सम्प्रदाय के दो भेद होते हैं। पूजाविधि और पात्रासादन विधि के भेद के अनुसार ही उक्त भेद प्रदर्शित हैं। वस्तुतः देखा जाय तो इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है।

कुण्डलिनी

कुण्डलिनी को कुलकुण्डलिनी अथवा शक्तिकुण्डलिनी भी कहते हैं। कुलचक्र में कुण्डलाकार अवस्थित होने से इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। अथवा **कु** अर्थात् पृथिवी तत्त्व के आधार मूलाधार में लीन रहने से इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। तन्त्रशास्त्र में मूलाधार में सर्पतुल्य कुण्डलाकार स्थित शक्ति का नाम कुण्डलिनी है, अतः इसको शक्तिकुण्डलिनी भी कहते हैं। इसको कुण्डलिनी इस लिये कहते हैं कि यह कुण्डलाकार स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति निद्रित नागिन के समान आकृति वाली है। वह स्वयम्भू लिंग को वेष्टित किये रहती है। कोटि विद्युत् के समान दीप्तिमती, नाना प्रकार के वस्त्र और अलंकार से विभूषित है। यह शृङ्गार रस से ओतप्रोत है और इसको कारण-द्रव्य प्रिय है। कारण द्रव्य को कुल द्रव्य कहा जाता है। इसलिये भी इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। यह सर्वमन्त्रमयी और सर्वतत्त्वस्वरूपिणी है। रुद्रयामल आदि तन्त्रों में इसकी उपासना विस्तार से वर्णित है। सम्मोहनतन्त्र में इसको कुण्डली कहा गया है। वहाँ बताया गया है कि यह मनोहर शक्तिपीठ त्रिकोणाकार है। उसके

गह्वर में जीवरूपी अतिचंचल कामवायु स्थित है। उसमें अधोमुख लिंग रूपी स्वयम्भू भगवान् निवास करते हैं। इसमें नीवार धान्य के अग्रभाग तुल्य सूक्ष्म शंख वर्ण और साढ़े तीन वलय युक्त श्रेष्ठ देवता कुण्डली का निवास है। वह अपने मुख से ब्रह्ममुख को आच्छादित किये रहती है। जो साधक इस कुण्डलिनी शक्ति को अपने वश में कर लेता है, वह मानव नहीं, देवता बन जाता है। तन्त्रसार (शब्दकल्पद्रुम, भा. २, पृ. १४० पर उद्धृत) में बताया गया है कि मूलाधारनिवासिनी, इष्टदेवतास्वरूपिणी, सार्धत्रिवलयवेष्टिता, विद्युत् के समान कान्तिवाली, स्वयम्भू लिंग को वेष्टित कर स्थित, उदयोन्मुख दिनकर के समान कान्ति वाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान कर उसको प्राण मन्त्र द्वारा उत्थापित करना चाहिये। समस्त अशुभ कर्मों की शान्ति के लिये साधक को एकाग्रचित्त होकर दृढ सङ्कल्प के साथ इस बात की भावना करनी चाहिये कि मेरा समस्त शरीर उस शक्ति के प्रभा-पटल से व्याप्त है। जाग्रत् होने पर यह कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्र का भेदन कर सहस्त्रार चक्र में शिव के साथ समरस हो जाती है।

कुण्डलिनी योग

यह सत्य है कि पातञ्जल योगसूत्र में कुण्डलिनी अथवा षट्चक्र आदि में से किसी एक का भी उल्लेख नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि कुण्डलिनी योग एक प्राचीन भारतीय योग की विशेष पद्धति है। आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसका वर्णन मिलता है। कहा जा सकता है कि यह एक तान्त्रिक योगपद्धति है। कुछ आचार्य (''अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'' (१०.२.३१) इस अथर्ववेद के मन्त्र में कुण्डलिनी का उल्लेख मानते हैं। प्राय: सभी आगमिक और तान्त्रिक आचार्य प्रसुप्तभुजगाकारा, सार्धत्रिवलयाकृति, मूलाधारस्थित शक्ति को कुण्डलिनी के नाम से जानते हैं। जिस योगपद्धति की सहायता से इस कुण्डलिनी शक्ति को जगा कर सुषुम्णा मार्ग द्वारा षट्चक्र का भेदन कर सहस्त्रार चक्र तक पहुँचाया जाता है और वहाँ उसका अकुल शिव से सामरस्य सम्पादन कराया जाता है, उसी का नाम कुण्डलिनी योग है। आधारों अथवा चक्रों आदि के विषय में मतभेद होते हुए भी मूलाधारस्थित कुण्डलिनी शक्ति का सहस्त्रारस्थित शिव से सामरस्य सम्पादन सभी मतों में निर्विवाद रूप से मान्य है। सम्प्रति षट्चक्र-भेदन का पूर्णानन्द

यति विरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षष्ठ प्रकाश में वर्णित क्रम ही प्राय: सर्वमान्य है। अत: तदनुसार ही यहाँ इस विषय का निरूपण किया गया है। यम और नियम के नित्य नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा हुआ योगी गुरुमुख से मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त कुण्डलिनी के उत्थापन के क्रम को ठीक से जान लेने के उपरान्त पवन और दहन के आक्रमण से प्रतप्त कुण्डलिनी शक्ति को, जो कि स्वयम्भू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूंकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयम्भू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसको ब्रह्मद्वार तक पहुँचा देता है। कुण्डलिनी पहले मूलाधार चक्र स्थित स्वयम्भू लिंग का, तब अनाहत चक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेदन करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्रदल चक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीवभाव के साथ इस कुलकुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्रार चक्र तक ले आता है और वहाँ उसको पर बिन्दु स्थान में स्थित शिव (पर लिंग) के साथ समरस कर देता है। समरसभावापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में सजोये हुए वह पुन: मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की इतिकर्तव्यता। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, शिवभावापन्न बन जाता है।

कुल कुण्डलिनी

अकुल कुण्डलिनी शब्द का विवरण देते हुए बताया गया है कि नीचे अकुल स्थान स्थित अरुण वर्ण के ऊर्ध्वमुख सहस्रार पद्म को कुल कुण्डलिनी कहा जाता है। यह विमर्शात्मक हकारस्वरूपा है। नित्याषोडशिकार्णव (४.१४) में इसको कुलयोषित् तथा त्रिपुरसुन्दरीदण्डक (२६ अनु.) में कुलवधू कहा गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि यह कुलवधू (कुलेश्वरी = कुलाभिमानिनी संवित्) मूलाधारगत चतुर्दल कमल के मध्य में स्थित त्रिकोणात्मक कुल स्थान, अर्थात् शृङ्गाट पीठ से उठ कर कुटिल मार्ग पर, अर्थात् स्वाभाविक सृष्टि मार्ग को छोडकर गुरु-प्रदर्शित युक्ति के सहारे संहार मार्ग पर चल कर सूक्ष्म रूप से सुषुम्णा मार्ग के भीतर प्रविष्ट हो आगे बढ़ती है। वह अनाहत स्थान स्थित सूर्यमण्डल को भेदती हुई और सहस्रार स्थित

चन्द्रमण्डल को द्रवित करती हुई अकुल कुण्डलिनी से जा मिलती है। वहाँ यह शिव और शक्ति के सामरस्य से समुद्भूत अमृतमय परमानन्द में डूब जाती है; निर्लक्षण, निर्गुण, कुल और रूप से रहित पर पुरुष को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार सृष्टिप्रक्रिया में यह कुण्डलिनी अकुल स्थान से कुल स्थान की ओर गतिशील होती है और संहारप्रक्रिया में कुल स्थान से अकुल स्थान तक आती है। इसकी अकुल स्थान से कुल स्थान की ओर गति ही सृष्टि, अर्थात् बन्ध का तथा कुल स्थान से अकुल स्थान तक की गति संहार, अर्थात् मोक्ष का कारण बनती है। शैव सिद्धान्त (अघोरशिवाचार्य कृत मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका, पृ. ३४९) में कुण्डलिनी को महामाया कहा गया है।

पूर्णानन्द की श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६.११-१४) में कुल कुण्डलिनी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—चतुष्कोणात्मक मूलाधार चक्र के मध्य में स्थित त्रिकोणाकार कामरूप पीठ के बीच स्वयम्भू लिंग का निवास माना जाता है। इस स्वयम्भू लिंग के ऊपर विसतन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म, ब्रह्मरन्ध्र के द्वार को अपने मुँह में पकड़े हुए, शंख के आवर्त के समान आकार वाली, सोये हुए सर्प के समान सार्धत्रिवलयाकृति कुण्डलिनी शक्ति शयन करती रहती है। यह कुण्डलिनी शक्ति वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों की जननी है और यहीं से प्राण और अपान, श्वास और प्रश्वास की भी उत्पत्ति होती है। इसीके मध्य में वह परा शक्ति अवस्थित है, जिससे कि इस पूरे विश्व की उत्पत्ति होती है। योगी के हृदय में इसीकी कृपा से ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वयम्भू लिंग के ऊपर प्रसुप्त सार्धत्रिवलया कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व भाग में नादात्मक परा शक्ति का निवास है। यही कुल कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है। मूलाधार चक्र में इसका ध्यान किया जाता है।

कुल शक्ति

कुलार्णवतन्त्र (१७.२७) में कुल शब्द का अर्थ शक्ति तथा अकुल शब्द का अर्थ शिव किया गया है। इस सम्बन्ध में अकुल शब्द की व्याख्या करते समय कुछ लिखा जा चुका है। शाक्त दर्शन में शक्ति को विमर्श के नाम से अभिहित किया गया है। **ह** लिपि (हकार) इसकी वाचिका है। प्रकाशात्मक अकुल शिव के बोधक अकार के साथ विमर्शात्मक कुल शक्ति के बोधक हकार को मिलाने से 'अहम्' पद बनता है। प्रकाशविमर्शात्मक इस अहंतत्त्व से ही शब्दार्थात्मक

षडध्वमय जगत् की सृष्टि होती है। तन्त्रालोक (३.६७) में कुल शक्ति को कौलिकी कहा गया है। इस कौलिकी शक्ति से अकुल शिव कभी जुदा नहीं रहता। नित्याषोडशिकार्णव (४.६-७) और सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में बताया गया है कि बिना शक्ति के शिव कुछ भी नहीं कर सकता, वह शव के तुल्य है। शक्तिसंवलित शिव ही जगत् की रचना करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिये विज्ञानभैरव (श्लो. २०) में शक्ति को शिव का मुख कहा गया है, क्योंकि इस शक्ति की सहायता से ही शिव के स्वरूप की अभिव्यक्ति हो सकती है।

शक्ति के अतिरिक्त कुल शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ शास्त्रों में मिलते हैं। अकारादि हकारान्त वर्णमातृका को आठ वर्गों में बाँटा गया है। इन आठ वर्गों की ब्रह्माणी आदि महालक्ष्मी पर्यन्त आठ अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। इस समूह को कुल कहा गया है (नि० अ०, पृ. २६)। षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक जगत् को तथा शरीर को भी कुल कहा जाता है (नि०ऋ०, पृ. २७,२१३)। शैव और शाक्त दर्शन में कुल नाम का एक स्वतन्त्र शास्त्र है (नि० अ०, पृ. ७४)। भैरव को भी कुल कहते हैं (नि० अ०, पृ. १३९)। मेय, माता और मिति लक्षण जगत् को भी कुल कहा गया है (चि० च०, श्लो. ७२)। देह से सम्बद्ध दस इन्द्रियाँ भी कुल कही गयी हैं (यो०दी०, पृ. २९५)। अर्घ्यभट्टारक को भी कुल बताया गया है (म०प०, पृ. ११५)। महानिर्वाणतन्त्र में जीव, प्रकृति, दिक्, काल, आकाश, क्षिति, जल, तेज और वायु इन नौ पदार्थों को कुल शब्द से अभिहित किया गया है। कुलरत्न में आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा (श्रद्धा), वृत्ति, तप और दान—इन नौ पदार्थों को कुल की संज्ञा दी गई है।

केरल सम्प्रदाय

शक्तिसङ्गमतन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से ५६ देशों में बाँटा गया है तथा बताया गया है कि अंग से मालव पर्यन्त केरल सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार केरल सम्प्रदाय में कालिका की और कादिमत के अनुसार त्रिपुरा की उपासना की जाती है। यह उपासना षट्शाम्भव पद्धति से होती है और इसमें साधक सर्वोत्कृष्ट मेधा दीक्षा भी प्राप्त कर सकता है। प्रथमत: यह सम्प्रदाय ऋक्केरली, यजु:केरली, सामकेरली और अथर्वकेरली नाम से चार भागों में विभक्त है। इस सम्प्रदाय के पुन: शैवकेरल, शक्तिकेरल और शिवशक्तिकेरल विभाग होते हैं और इन तीनों को शुद्ध, उग्र और गुप्त

भेदों में विभक्त करने पर इसके नौ भेद हो जाते हैं। द्रविड़ सम्प्रदाय का भी केरल में ही अन्तर्भाव होता है। भवसिद्ध, हरसिद्ध, कलहट्ट, गोमुख, विज्ञानी, पूर्वकेरल, उत्तरकेलर, दिव्य, सत्य, चैतन्य, चिद्घन, सर्वज्ञ, ईश, माहेश्वर, विश्वरूप, ज्ञानकेरल, व्यंकटेशाख्यकेरल आदि भी केरल सम्प्रदाय के ही अंग हैं। इस सम्प्रदाय के दिव्य, कौल और वाम भेद भी इसी ग्रन्थ में प्रदर्शित हैं, किन्तु वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केरल सम्प्रदाय में दक्षिणाचार की प्रधानता है और यह वेद मार्ग का अनुवर्तन करता है। इसीलिये इसको शुद्ध मार्ग भी कहा जाता है। सम्प्रदायों के भेद का मुख्य कारण पूजा-विधि और पात्रासादन-विधि का अन्तर है।

कौल मत

श्रीचक्र को वियच्चक्र भी कहा जाता है। दहराकाश और बाह्याकाश में भी इसकी पूजा होती है, अतः इसको वियच्चक्र कहा जाता है। बाह्याकाश का अभिप्राय यह है कि बाह्य आकाश, अर्थात् अवकाश में स्थित पीठ, भूर्जपत्र, शुद्ध पट अथवा सुवर्ण, रजत आदि से निर्मित पट्ट पर श्रीचक्र को अंकित कर उसकी पूजा की जाय। इसीको कौल पूजा कहते हैं। पाँच शक्ति-चक्र और चार वह्नि (शिव)-चक्रों के संयोग से श्रीचक्र बनता है। यहाँ समय मत के विपरीत चार शिव चक्रों की स्थिति अधोमुख और पाँच शक्ति चक्रों की स्थिति ऊर्ध्वमुख मानी गयी है। कौल मत में संहार क्रम से श्रीचक्र लिखा जाता है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने (श्लो. ३४, पृ. १६१) कौल मत के दो भेद बताये हैं—पूर्वकौल और उत्तरकौल। पूर्वकौल पीठ प्रभृति में अंकित श्रीचक्र की पूजा करते हैं और उत्तरकौल तरुणी की प्रत्यक्ष योनि में श्रीचक्र की भावना कर उसकी सविधि उपासना करते हैं। उत्तरकौल सिद्धान्त में शक्ति तत्त्व से पृथक् शिव तत्त्व नहीं है, वह शक्ति में ही अन्तर्भूत है। अतः यहाँ शक्ति की ही उपासना की जाती है। अर्थरत्नावली (पृ. ७४) में विद्यानन्द ने कुलपञ्चक-शास्त्र का उल्लेख करते हुए उसके कुल, अकुल, कुलाकुल, कौल और शुद्धकौल नामक भेद गिनाये हैं। कौलज्ञाननिर्णय में पदोत्तिष्ठकौल, महाकौल, मूलकौल, योगिनीकौल, वह्निकौल, वृषणोत्थकौल और सिद्धकौल नामक सात भेद कौलों के मिलते हैं। इनमें से योगिनीकौल और सिद्धकौलों का उल्लेख मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (पृ. २२१) में भी आया है।

कौलिक योग

नेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार में सूक्ष्म ध्यान का वर्णन मिलता है। व्याख्याकार क्षेमराज ने इसको कुलप्रक्रिया, अर्थात् कौलिक योग कहा है। कुलागम, कुलतन्त्र, अर्थात् शिवोक्त शास्त्रविशेष में वर्णित योग का नाम है कौलिक योग। तदनुसार छः चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पाँच व्योम, बारह ग्रन्थि, तीन शक्ति, तीन धाम, तीन और दस नाडी तथा दस प्राणों से समन्वित व्याधिग्रस्त इस पिण्ड (शरीर) को सूक्ष्म ध्यान के माध्यम से आप्यायित करने पर योगी को दिव्य देह की प्राप्ति होती है। जन्म, नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद स्थान में नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त नामक छः चक्र स्थित हैं। अङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ़्र, पायु, कन्द, नाभि, जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त ये सोलह आधार हैं। अथवा कुल, विष, शाक्त, वह्नि, घट, सर्वकाम, संजीवन, कूर्म, लोल, सुधाधार, सौम्य, विद्याकमल, रौद्र, चिन्तामणि, तुर्याधार, नाड्याधार नामक कुलप्रक्रियासम्मत सोलह आधारों का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और उभयविध लक्ष्य ये तीन लक्ष्य हैं। माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति ये बारह ग्रन्थियाँ, अर्थात् पाश हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियाँ हैं। सोम, सूर्य और वह्नि ये तीन धाम हैं। सव्य, अपसव्य और मध्य पवन स्थित इडा, पिंगला और सुषुम्णा नामक तीन नाडियों से तथा इनके साथ गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नाडी को जोड़ देने पर दस नाडियों से और इनके माध्यम से बहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय नामक दस प्राणों से यह शरीर आवृत है। वस्तुतः यह शरीर ७२ हजार अथवा साढे तीन करोड़ नाडियों से जकड़ा हुआ है और आणव, मायीय तथा कार्म मलों के कारण मलिन भी हो गया है। अतः दिव्य देह की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि साधक योगी कन्द स्थान में चित्त को एकाग्र कर संकोच और विकास का अभ्यास करे। मध्यविकास की प्रतीक्षा करता हुआ वह मतगन्ध स्थान को दबाये, जिससे कि मध्यधाम सुषुम्णा की ऊर्ध्व गति उन्मुक्त हो जाय। कन्द भूमि में जब यह शक्ति जग जाती है, तो साधक को खेचरी मुद्रा प्राप्त होती है। इसके प्राप्त

होने से प्राण उसके अधीन हो जाता है और मन्त्र के प्रभाव से उसकी गति द्वादशान्त की तरफ मुड़ जाती है। पहले उसका प्राण समना धाम में प्रविष्ट होता है। वहाँ उसे अपान के उल्लास के लिये चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। चन्द्रोदय हो जाने पर योगी उससे प्राप्त अमृत से शरीरवर्ती चक्र, आधार आदि को सिंचित करता है और इस प्रकार अपने पूरे शरीर को दिव्य बना लेता है, अर्थात् उसका स्वात्मस्वरूप प्रस्फुटित हो उठता है। नित्याषोडशिकार्णव (४.१२-१४) में भी इस स्थिति का वर्णन मिलता है।

क्रम दर्शन

क्रम दर्शन को काली नय भी कहते हैं। इसमें शाक्त उपाय का सहारा लिया जाता है। तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में और महार्थमञ्जरी जैसे ग्रन्थों में क्रम दर्शन का अच्छा विश्लेषण किया गया है। इन ग्रन्थों के आधार पर स्वर्गीय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने और विशेष कर उनके प्रिय शिष्य डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने क्रम दर्शन पर सराहनीय कार्य किया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसकी विशेषता यह है कि इसके आगम-ग्रन्थों का उपदेश भगवती ने किया है और श्रोता भगवान् शिव हैं। पंचकृत्यों में निग्रह और अनुग्रह के स्थान पर अनाख्या और भासा का समावेश है। इस दर्शन में द्वादश या त्रयोदश काली की वृन्दचक्र में पंचवाह पद्धति से उपासना की जाती है। पंचवाह क्रम में ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध समाविष्ट हैं। धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित्, भाव, पात और अनिकेत—इनसे वृन्दचक्र बनता है। यह शुद्ध अद्वैतवादी दर्शन है।

खेचरी मुद्रा

ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने (पृ. १८४-१८५) खेचरी मुद्रा के तीन भेद बताये हैं—अंगुलिविरचनात्मा, बोधगगनरूपा और संस्थानविशेषरूपा। प्रथम प्रकार की खेचरी मुद्रा में अंगुलियों का उपयोग किया जाता है। तन्त्रसार (वाचस्पत्य, पृ. २४७८) में इसकी विधि इस प्रकार बताई गयी है—बायें हाथ को दाहिनी ओर तथा दाहिने हाथ को बाईं ओर कर ले। फिर अनामिका को मिलाकर तर्जनी से लगावे और बीच की अंगुली को सटाकर अँगूठे पर जमावे। इसीसे मिलती जुलती विधि नित्याषोडशिकार्णव (३।१५-१७) में भी वर्णित

है। इसको संहार मुद्रा या समय मुद्रा भी कहा जाता है। विसर्जन के समय इसका प्रदर्शन किया जाता है।

बोधगगन में विचरण करने वाली खेचरी को शिवानन्द ने अव्याख्येय माना है, किन्तु क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी (२.५) में इसकी व्याख्या की है कि यह स्वात्मस्वरूप में उछलती हुई आनन्द की लहरी है। तन्त्रसद्भाव (शि०वि०२.५) में इसका परसंवित्ति के रूप में वर्णन किया गया है।

तृतीय प्रकार की खेचरी का वर्णन यहाँ भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के वचनों के आधार पर किया गया है। यह वर्णन विज्ञानभैरव, विवेकमार्तण्ड, स्कन्दपुराण काशीखण्ड तथा हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में वर्णित क्रम से मिलता जुलता है। तदनुसार जीभ को उलट कर कपाल के कुहर में तथा दृष्टि को ऊपर उठाकर भौंहों के बीच में लगाने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके अभ्यास से सभी रोग और कर्मफल नष्ट हो जाते हैं। चित्त और जिह्वा दोनों के आकाश में अवस्थान करने से ही इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु स्थिर हो जाता है। अत: इसका अभ्यास करने वाले योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता। वह सदा अमरवारुणी का पान करता रहता है। यह साधक को उन्मना अवस्था में प्रतिष्ठित कर देती है। आकाश में गमन का सामर्थ्य भी उसको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार इसकी यह अन्वर्थक (सार्थक) संज्ञा है।

ख्याति

दर्शन शास्त्र में ख्याति शब्द प्रतीति या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अभेद ख्याति का अर्थ है अद्वय बोध। सब कुछ शिवमय है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, इस तरह की एकाकार नि:शङ्क प्रतीति ही यहाँ अभेद ख्याति कही गयी है। भ्रान्त ज्ञान के अर्थ में भी ख्याति शब्द प्रयुक्त होता है। अपूर्णता ख्याति का अर्थ है—भ्रमवश अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान न होना। भारतीय दर्शन में छ: प्रकार की ख्याति मानी गयी है। विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध आत्मख्याति को और शून्यवादी माध्यमिक असत्ख्याति को मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी शांकर वेदान्त के अनुयायी अनिर्वचनीय ख्याति और रामानुज आदि आचार्य सत्ख्याति को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त जैसे सभी तान्त्रिक आचार्य अपूर्णख्याति के पोषक हैं; क्योंकि परिमित प्रमाता को अपने अपरिमित स्वरूप का बोध नहीं होने पाता।

गौड सम्प्रदाय

शक्तिसङ्गमतन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से ५६ देशों में बाँटा गया है और बताया गया है कि सिलहट्ट से सिन्धु देश तक गौड सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार गौड सम्प्रदाय में तारा की और कादिमत के अनुसार काली की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में पूर्णाभिषेक की प्रधानता है। प्रथमत: यह ऋग्गौड, यजुर्गौड, सामगौड और अथर्वगौड के भेद से चतुर्धा विभक्त है। शिवगौड, शक्तिगौड और शिवशक्तिगौड भेदों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त कर पुन: इसके नौ भेद बताये गये हैं। गौड सम्प्रदाय के वाम और दक्षिण भेद भी यहाँ वर्णित है, किन्तु प्रधानत: गौड सम्प्रदाय वाममार्गी ही माना जाता है। इस सम्प्रदाय का आविर्भाव निगम अर्थात् तन्त्रशास्त्र से माना गया है।

चीनाचार

शक्तिसङ्गमतन्त्र (३.७.४७-४९) में भोटान्त, चीन और महाचीन देशों की सीमा बतायी गयी है। तदनुसार भूटान के पास ही चीन और महाचीन देश स्थित हैं। इनकी सीमा मानसरोवर और कैलास पर्वत के आसपास मानी गयी है। इनमें कभी तान्त्रिक धर्म का विशेष प्रचार था। आज भी तिब्बत में प्रचलित धर्म प्रधानत: तान्त्रिक ही है। चीन और महाचीन देश में प्रचलित तान्त्रिक आचार-विचार ही क्रमश: चीनाचार और महाचीनाचार के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शक्तिसङ्गमतन्त्र (१.८.११-१२) में चीनाचार का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसमें स्नान-दान, शौच-अशौच, जप, तपस्या आदि का कोई नियम नहीं है। सकल और निष्कल के भेद से यह दो प्रकार का होता है। वहीं द्वितीय खण्ड (२१.१-४) में ब्रह्मचीन, दिव्यचीन, वीरचीन, महाचीन और निष्कलचीन के भेद से इसके पाँच प्रकार बताए गये हैं और कहा गया है कि महाचीनाचार के अनुसार तारा विद्या की उपासना शीघ्र फल देती है। महाचीनाचार के भी दो भेद किये गये हैं—सकल और निष्कल। इनमें से सकल उपासना बौद्धों के लिये और निष्कल उपासना ब्राह्मणों के लिये विहित है। चीनाचार में विहित स्नान, नमस्कार, वेष आदि का भी यहाँ वर्णन मिलता है। चीनाचार, महाचीनाचार के प्रतिपादक स्वतन्त्र तन्त्र-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

जप

मन्त्र की पुन: पुन: आवृत्ति, उसका बार-बार उच्चारण जप कहलाता है। मन्त्र का जप करते समय उसके अर्थ की भी भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से मन्त्रवीर्य, मन्त्रचैतन्य का आविर्भाव शीघ्र होता है। जप तीन प्रकार का होता है—मानस, उपांशु और वाचिक (भाष्य)। मन्त्रार्थ का विचार करते हुए उसकी मन ही मन आवृत्ति करना मानस जप है। देवता का चिन्तन करते हुए जिह्वा और दोनों होठों को थोड़ा हिलाते हुए किञ्चित् श्रवण योग्य जप उपांशु कहलाता है। जो दूसरे व्यक्ति को भी स्पष्ट सुनाई पड़े, ऐसा उच्च स्वर से किया गया जप वाचिक (भाष्य) कहलाता है। वाचिक से उपांशु दस गुना और मानस जप सहस्र गुना अधिक फल देने वाला होता है। उत्तम सिद्धि के लिये मानस, मध्यम सिद्धि के लिये उपांशु और क्षुद्र सिद्धि के लिये वाचिक जप किया जाता है। उत्तम मन्त्रों का जप मानस, मध्यम मन्त्रों का उपांशु और अधम मन्त्रों का जप वाचिक विधि से किया जाना चाहिये। इसीलिये कुलार्णव तन्त्र में मानस को उत्तम, उपांशु को मध्यम तथा वाचिक जप को अधम बताया गया है। जप की सिद्धि हो जाने पर मन्त्र में चैतन्य का आविर्भाव होता है और ऐसा होने पर साधक उसकी सहायता से अनायास सिद्धि-लाभ कर सकता है। जप के लिये पद्म, स्वस्तिक आदि आसनों का, पुण्यक्षेत्र, नदीतीर जैसे पवित्र स्थलों का, सूर्यग्रहण आदि कालों का भी शास्त्रों में विधान है। गुरुमुख से प्राप्त मन्त्र का जप ही फलदायक होता है। पुस्तक में लिखे मन्त्र का जप करने से कोई सिद्धि नहीं मिलती। स्वप्नलब्ध मन्त्र का जप भी सिद्धिकर माना गया है।

योगिनीहृदय (३.१७६-१८९) में शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक और विषुवसप्तक की भावना के साथ मानस जप की विधि विस्तार से वर्णित है। स्थान, ध्यान और वर्ण की कल्पना के साथ मानसिक जप का विधान नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली (पृ. २६८) में उद्धृत सिद्धनाथपाद के एक वचन में मिलता है।

जपमाला

जप की परिभाषा अलग से की गयी है। जप की संख्या को जानने के लिये माला का उपयोग किया जाता है। इसी को जपमाला कहते हैं। यह तीन

प्रकार की होती है— करमाला, वर्णमाला और अक्षमाला। तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा तथा इनके पर्वों को ही माला के रूप में कल्पित कर उन पर जप किया जाता है। विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न मन्त्रों के लिये इसके विभिन्न प्रकार शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। शक्तिसङ्गम, सनत्कुमार, विश्वसार जैसे तन्त्रों में इनका वर्णन मिलता है। अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णों की माला के रूप में कल्पना ही वर्णमाला है। ळकार का भी इसमें समावेश करने पर इनकी संख्या ५१ हो जाती है। रुद्राक्ष, स्फटिक, तुलसी, कमलगट्टा तथा विभिन्न धातुओं और रत्नों के मनकों से बनी माला को अक्षमाला कहते हैं। विभिन्न प्रकार के मनकों की मालाओं पर जप करने से विभिन्न काम्य कर्मों की सिद्धि होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि रुद्राक्ष की माला से जप करने पर अनन्तगुण फल मिलता है। त्रिपुरा के जप में रक्तचन्दन की, गणेश के जप में गजदन्त की, वैष्णव जप में तुलसी की, छिन्नमस्ता आदि के जप में रुद्राक्ष की, नीलसरस्वती, काली तारा आदि के जप में महाशंख की माला विहित है। अक्षमाला के ग्रथन के उपयोग में आने वाले सूत्रों के लिये भी विविध काम्य कर्मों में विभिन्न द्रव्यों और वर्णों का विधान है। माला के संस्कार की भी विभिन्न विधियाँ हैं। साथ ही यह भी बताया गया है कि इन पर कब जप करना चाहिये और कब नहीं। सभी धर्मों में जपमाला का विधान है। यह भी आवश्यक माना गया है कि माला को वस्त्र आदि से ढंककर ही जप करना चाहिये। शक्तिसङ्गमतन्त्र के द्वितीय तारा खण्ड में इस विषय का अवलोकन करना चाहिये।

जीवन्मुक्ति

अद्वैतवादी शाक्त दर्शन में बन्ध और मोक्ष को भी विकल्प का व्यापार माना गया है। भोग और मोक्ष की समरसता का यहाँ प्रतिपादन किया गया है। इसकी अनुभूति जीवन्मुक्ति दशा में होती है। प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू.१६) में बताया गया है कि चिदानन्दात्मक स्वस्वरूप की अनुभूति हो जाने पर शरीर, इन्द्रिय आदि की चेष्टाओं के चलते रहने पर भी साधक योगी चिदेकात्मस्वभाव से विचलित नहीं होता। इसी स्थिति को जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। अपनी विश्वात्मकता का अनुसन्धान करने वाले साधकों का यह स्वभाव है। यह कोई आगन्तुक विशेषता नहीं है। रत्नमालाशास्त्र में बताया गया है कि जिस क्षण गुरु निर्विकल्प स्वरूप

को प्रकाशित कर देते हैं, तभी शिष्य मुक्त हो जाता है। क्रम दर्शन की दृष्टि से यह स्थिति क्रमपरामर्श की पद्धति से उन्मीलित होती है। योगवासिष्ठ में अनेक कथानकों के माध्यम से इस स्थिति को समझाया गया है।

ज्येष्ठा

पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त वामा और इच्छा शक्ति का अगला विकास ज्येष्ठा शक्ति के रूप में होता है। ज्ञान शक्ति के साथ मिलकर यह ज्येष्ठा शक्ति सृष्ट विश्व की रक्षा का कार्य करती है। ऋजु (सीधी) रेखा के रूप में यह स्थित है। इससे शृङ्गाट की ऊर्ध्व रेखा बनती है। इसी को मध्यमा वाग् भी कहा जाता है (योगिनीहृदय, १.३८-३९)।

तान्त्रिक साधना

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति और इसकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्राय: सभी ग्रन्थों में विस्तार अथवा संक्षेप में लिखा गया है। यह शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा-विशेष में रूढ है, जो पहले आगम और बाद में तन्त्र शब्द से अभिहित हुई। प्रो. विण्टरनित्ज के अनुसार संहिताएँ वैष्णवों के, आगम शैवों के तथा तन्त्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं, किन्तु आगम शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों प्रकार के आगम-ग्रन्थों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही संहिता शब्द से केवल वैष्णवागमों का बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण में भी संहिता ग्रन्थ विद्यमान हैं। अत: आगम अथवा तन्त्र शब्द ही इस पूरे वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता है। इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएँ हैं। ये पवित्र ग्रन्थ द्विजाति के लिये ही नहीं, बल्कि शूद्र और स्त्रियों के लिये भी हैं।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बाँटा गया है—ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग। बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है। यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पाँचरात्र संहिताएँ ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु बिना पाद-विभाग के ये सभी विषय प्राय: सभी तन्त्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है।

भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी साधना-पद्धति का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्ति, पट, मन्त्र, मण्डल, यन्त्र आदि में प्रतिष्ठित करता है और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरिवस्या सम्पादित करता है। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये यहाँ व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान है और आन्तर वरिवस्या के लिये वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता है। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिये जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिये इसका अपना दर्शन है, योगपद्धति है और बाह्य वरिवस्या के लिये मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट पद्धति इसमें वर्णित है। उक्त विषयों के प्रतिपादन के लिये ही प्रत्येक ग्रन्थ में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या नामक चार पादों का विधान किया गया है। शिव, विष्णु, बुद्ध और महावीर के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द जैसे देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी। इन पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव आगमों की तथा परवर्ती शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तन्त्रों की साधना पद्धति में कोई अन्तर नहीं है।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र पूरी मानव जाति के उद्धार के लिए प्रवृत्त हैं। इसकी साधना-पद्धति को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से समझा जा सकता है। तान्त्रिक साधना अधिकतर रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों, मन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास लाने का प्रयत्न किया जाय। तान्त्रिक साधना का दूसरा लक्ष्य है— भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उनको रूपान्तरित कर भगवान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ सम्बन्ध रखते हुए विश्व के साथ भी सम्बद्ध रहता है। तान्त्रिक दर्शन में इस स्थिति को विश्वाहन्ता नाम दिया गया है। यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों

का छोटा प्रतिरूप है। इस विश्व के छोटे-बड़े सभी अंशों में ये शक्तियाँ समान रूप से कार्यरत हैं।

आगम और तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे वाङ्मय में उक्त विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से जानी जाने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय विद्या के प्राय: सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसङ्ग में आगम शास्त्र की एक दम उपेक्षा कर दी है। इसीलिये वे अनेक असङ्गतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुत: कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इनसे पहले आगम शास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा भी न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया। आज के हिन्दू धर्म पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तान्त्रिक साधनापद्धति का अधिक गहरा प्रभाव है।

वैदिक उपासना अभी लुप्तप्राय हो गयी है। वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझना तो दूर रहा, उनका ठीक तरीके से उच्चारण कर पाना भी कठिन हो गया है। यही स्थिति वैदिक यज्ञ-याग आदि की भी है। उनको जानने वाले अब विरले लोग ही बचे हैं। अभी सर्वत्र तान्त्रिक और पौराणिक साधनापद्धति का ही प्रचार है। पौराणिक पद्धति पर भी तान्त्रिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, यह बताया जा चुका है।

इस वाङ्मय की विशालता का कुछ परिचय पर्यायसप्तक शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत दिखाये गये विभागों और उपविभागों से मिलता है। साधनापद्धति की विचित्रताओं का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अकेले शक्तिसङ्गमतन्त्र में मत, क्रम और मार्ग के भेद से १६० से ऊपर मत-मतान्तरों का उल्लेख मिलता है।

त्रिक दर्शन

काश्मीर का शैव (प्रत्यभिज्ञा) दर्शन त्रिक दर्शन कहलाता है। त्रिक शब्द की अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं, किन्तु इसमें कुल, क्रम और प्रत्यभिज्ञा इन

तीनों अद्वैतवादी दर्शनों के तत्त्वों की समष्टि होने से इसको यह नाम दिया गया है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने (१.१८, पृ. ४९) त्रिकशास्त्र को सिद्धा, नामक और मालिनी नाम के तीन खण्डों में विभक्त किया है। इनमें क्रिया-प्रधान तन्त्र को सिद्धा और ज्ञान-प्रधान तन्त्र को नामक बताया गया है। मालिनीमत में क्रिया और ज्ञान दोनों प्रतिपादित हैं। अभिनवगुप्त ने स्वयं "तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्" (१.१८) ऐसा कहकर इनमें मालिनीमत को प्रधानता दी है। क्षेमराज अपने विज्ञानोद्योत (पृ. ४) में सिद्धा, मालिनी और उत्तर यह नाम देकर इनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताते हैं। नामक नाम का कोई तन्त्र हमारी दृष्टि में नहीं आया। क्षेमराज के 'उत्तर' नाम के आधार पर ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जयरथ के ग्रन्थ में 'नामक' न होकर **वामक** पाठ होना चाहिए। वाम तन्त्र शिव के उत्तर मुख से उद्भूत माने जाते हैं। वामक के नाम से वामकेश्वर तन्त्र का भी ग्रहण किया जा सकता है।

त्रिपुरा

वामकेश्वर दर्शन (नि०षो०उ०, पृ. ८५) में त्रिपुरा ही परा संवित् अथवा परब्रह्म है। प्रपञ्चसार (९.२) में बताया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी पहले उसकी स्थिति है। यही इस त्रिमूर्ति की जननी है। यह त्रयीमय है और प्रलयावस्था में त्रिलोकी की इसीमें स्थिति रहती है। इसीलिये इस अम्बिका का नाम त्रिपुरा है। विवरणकार द्वारा उद्धृत श्लोक (पृ. ५७१) में वहीं बताया गया है कि शिव, शक्ति और आत्मा—इन तीनों तत्त्वों की पूरिका और त्रिलोकी की जननी होने से यह त्रिपुरा कहलाती है। नित्याषोडशिकार्णव (४.४-१६) में भगवती त्रिपुरा का यह स्वरूप विस्तार से वर्णित है। वहाँ बताया गया है कि शक्ति से रहित परम पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता। टीकाकारों ने त्रिपुरा पद की अनेक प्रकार की निरुक्तियाँ बतायी हैं। तीन शक्ति, तीन चक्र, तीन धाम, तीन बीज, तीन तत्त्व, तीन गुण, तीन कोण, तीन पीठ, तीन लिंग जैसी सभी तीन संख्या वाली वस्तुओं की यह जननी है। इन सबसे पहले इसकी स्थिति होने से यह त्रिपुरा कहलाती है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तिरूप त्रिपुर (शृङ्गाट, त्रिकोण) की भी यह जननी है। औपनिषद त्रिवृत्करण प्रक्रिया के प्रधान आधार तेज, जल और अन्न नामक तीनों तत्त्वों की यह पूरिका है। अथवा पुर शब्द का अर्थ शरीर भी किया जा सकता है। ब्रह्मा, विष्णु और

शिव नामक शरीरों को यही धारण करती है। लघुस्तव (श्लो. १६) में बताया गया है कि देवत्रय, अग्नित्रय, शक्तित्रय, स्वरत्रय, लोकत्रय जैसी सभी तीन संख्या वाले पदार्थ भगवती त्रिपुरा के ही स्वरूप हैं।

दीक्षा

वेदाध्ययन और द्विजत्व-सम्पादन के लिये जैसे उपनयन संस्कार आवश्यक है, उसी तरह से तान्त्रिक उपासना में अधिकार की प्राप्ति के लिये दीक्षा की आवश्यकता मानी गयी है। पूर्णाभिषिक्त गुरु ही दीक्षा देने का अधिकारी होता है। दीक्षा से दिव्य भाव और दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है और सभी प्रकार की पाप-वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। यह शिव या इष्ट से तादात्म्य स्थापित करने का प्रधान साधन है और इससे मायीय, कार्म और आणव तीनों प्रकार के मल तथा मनसा, वाचा, कर्मणा किये गये पाप दूर हो जाते हैं। दीक्षा के विषय में बताया गया है कि यह विज्ञानफलदा, लयकारिका और मुक्तिदा है। बिना दीक्षा के कोई सिद्धि नहीं मिल सकती। उसके जप, पूजा आदि सब निष्फल जाते हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह योग्य गुरु से दीक्षा अवश्य ग्रहण करे। कुलार्णवतन्त्र (१४.८९-९८) में बताया गया है कि पारद से विद्ध लोहा जैसे सुवर्ण बन जाता है, उसी तरह से दीक्षा से संस्कृत जीव, स्त्री, शूद्र, श्वपच आदि भी संस्कृत होकर शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं। दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कार का ही नाम है। इससे पूर्णता प्राप्त होती है। दीक्षाप्राप्ति से पूर्णत्वलाभ पर्यन्त अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है—दीक्षा, पौरुष अज्ञान का ध्वंस, शास्त्रश्रवण में अभिरुचि, बौद्ध ज्ञान का उदय, बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति, जीवन्मुक्ति, भोग आदि के द्वारा प्रारब्ध कर्म का नाश, देहत्याग के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय, मोक्ष अथवा परमेश्वरत्व की प्राप्ति।

उपनयन संस्कार के समान दीक्षा से भी मनुष्य को द्विजत्व की प्राप्ति होती है, वागीशी-गर्भ से उसका नया जन्म होता है। दीक्षा की विशेषता यह है कि इसके बाद उसकी पूर्व जाति नहीं रह जाती। दीक्षित होने के उपरान्त पूर्व जाति का स्मरण प्रायश्चित्त का हेतु माना गया है। किससे दीक्षा ली जाय और किसको दी जाय, इसके लिये शास्त्रों में गुरु और शिष्य दोनों की योग्यताएँ निर्धारित हैं। स्त्री को दीक्षा देने और उससे दीक्षा लेने के भी विशेष नियम

हैं। पति पत्नी को दीक्षा दे या न दे, इस विषय पर भी शास्त्रों में विचार किया गया है।

तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का दीक्षा देते समय पूरा विचार किया जाता है। काल के साथ ही देश का भी विचार किया जाता है कि किस स्थान पर दीक्षा दी जाय। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, कौल, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों में दीक्षा की अपनी स्वतन्त्र विधियाँ हैं।

दीक्षा सामान्य तथा विशेष के भेद से दो प्रकार की होती है। सामान्य दीक्षा साधारणत: समय दीक्षा कही जाती है। इसमें दीक्षित हो जाने पर शिष्य को समयी धर्मों का पालन करना पड़ता है। इसको **समयी** कहा जाता है। विशेष दीक्षा के अनेक प्रकार हैं। मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों को चाहता है। रुचि के अनुसार वह भोग के लिये अथवा मोक्ष के लिये दीक्षा लेता है। इन्हीं विभागों के अन्तर्गत दीक्षा के शताधिक प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। शैव शास्त्रों में आणवी, शाक्ती और शाम्भवी दीक्षाएँ वर्णित हैं। इनका निरूपण उपायों के अन्तर्गत किया गया है। आणवी दीक्षा को ही मान्त्री दीक्षा भी कहा जाता है। इसी का क्रिया अथवा क्रियावती के नाम से भी शास्त्रों में वर्णन है। शारदातिलक (४.२-३) में चार प्रकार की दीक्षा वर्णित है—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती और वेधमयी। तन्त्रालोकविवेक (भा. ८, पृ. १८२) में बताया गया है कि सिद्धान्तशास्त्र में हौत्री, तन्त्रशास्त्र में योजनिका, त्रिकशास्त्र में समावेशमयी, कुलशास्त्र में स्तोभात्मिका और कौल शास्त्र में सामरस्यमयी दीक्षा का विधान है। कुलार्णवतन्त्र (१४.३९-४१) में दीक्षा के सप्तविध भेद तथा पुन: क्रिया दीक्षा के अष्टविध भेद वर्णित हैं। इनमें से कुछ मुख्य दीक्षाओं का यहाँ अलग से संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

दीक्षित व्यक्ति को भी शास्त्रों में चार कोटियों में बाँटा गया है—समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य। दीक्षित होने के उपरान्त साधक एक के बाद दूसरी कोटि में प्रविष्ट होता है। इनके कर्तव्यों का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन मिलता है। अभिषिक्त व्यक्ति ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है। अभिषिक्त आचार्य को ही दूसरे को दीक्षा देने का अधिकार है।

कला दीक्षा

शारदातिलक (४.२-३), तन्त्रसार (शब्दकल्पद्रुम, भा. २, पृ. ५९-६०) आदि के अनुसार इस दीक्षा में आवाहन पूर्वक सकल कलाओं की पूजा की जाती है। प्रथमत: प्राणप्रतिष्ठापूर्वक अग्नि की धूम्रार्चि आदि दस कलाएँ पूजी जाती हैं। इसके बाद सूर्य की तपिनी आदि द्वादश और चन्द्र की अमृता आदि षोडश कलाओं का आवाहन कर उनका विधिवत् पूजन किया जाता है। अन्त में पचास कलाओं का पूजन अकार आदि वर्णमातृका में निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के अन्तर्गत किया जाता है।

स्वच्छन्दतन्त्र चतुर्थ पटल में कला दीक्षा का प्रकारान्तर से वर्णन मिलता है। वहाँ षडध्व दीक्षा में कला दीक्षा को प्रधान मानकर वाच्यवाचकभाव के क्रम से अन्य अध्वों का इसीमें समावेश माना गया है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के कारण जिसके संसार का उपशम हो गया है, उसको तान्त्रिक भाषा में **पुत्रक** कहा जाता है। पृथिवी से कला तत्त्व पर्यन्त माया का अधिकार है। इसी का नाम संसारमण्डल है। इसके बाद शुद्धविद्या का राज्य है। शुद्धविद्या ही वागीश्वरी है। इसके गर्भ से जन्म लेने पर विशुद्ध भुवनों में अवस्थान और संचार का अधिकार प्राप्त होता है। यह जन्म वस्तुत: बैन्दव-देह अथवा मन्त्र-देह प्राप्ति का ही नामान्तर है। इक्कीस अवान्तर संस्कारों के द्वारा यह जन्म-व्यापार निष्पन्न होता है। इससे द्विजत्व का आपादन (प्राप्ति) होता है। इसके पश्चात् अधिकार, भोग, लय, निष्कृति तथा विश्लेष—ये पाँच संस्कार और भी किये जाते हैं। इन छ: संस्कारों से पशु के पाशों का विनाश किया जाता है। पाशक्षपण के अतिरिक्त दीक्षा के द्वितीय अंग का नाम शिवत्वयोजन है। इसके लिए तेरह पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त होने पर पाशक्षपण और शिवत्वाभिव्यक्ति दोनों ही पूर्णतया निष्पन्न होते हैं। जिन तेरह विषयों का ज्ञान आवश्यक है, उनके नाम ये हैं—चार-प्रमाण, प्राणसंचार, षडध्वविभाग, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, कारणत्याग, शून्य, सामरस्य, त्याग, संयोग तथा उद्भव, पदार्थभेदन, आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्ति। इनका विशेष विवरण स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ पटल में देखना चाहिये।

क्रिया दीक्षा

आणवी अथवा मान्त्री दीक्षा को ही क्रिया दीक्षा कहा जाता है, जो कि कुण्ड, मण्डल आदि के निर्माण के माध्यम से सम्पन्न होती है। दीक्षा क्रिया

और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। क्रिया दीक्षा छ: अध्वाओं के भेद से भिन्न प्रकार की है। जैसे— कला दीक्षा, तत्त्व दीक्षा, पद, मन्त्र, वर्ण और भुवन दीक्षा। तत्त्वदीक्षा साधारणत: चार प्रकार की है—षट्त्रिंशत्तत्त्व दीक्षा, नवतत्त्व दीक्षा, पंचतत्त्व दीक्षा और त्रितत्त्व दीक्षा। इनके सिवाय एकतत्त्व दीक्षा का भी वर्णन मिलता है। छत्तीस तत्त्वों को नव तत्त्वों में परिणत करने से नव तत्त्व दीक्षा, उन्हीं को पाँच अथवा तीन तत्त्वों में परिणत कर लेने पर पंचतत्त्व अथवा त्रितत्त्व दीक्षा की प्रक्रिया निष्पन्न होती है। एकतत्त्व दीक्षा में छत्तीस तत्त्वों को समष्टिरूप से एकतत्त्व रूप में ग्रहण किया जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र तथा अन्य शैव-शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों में 'सर्वं सर्वात्मकम्' इस सिद्धान्त के आधार पर एक तत्त्व के शोधन से सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार अध्वा के वैचित्र्य से क्रिया दीक्षा के ग्यारह प्रकार बनते हैं। ज्ञान दीक्षा एक और अभिन्न है। इसमें वैचित्र्य नहीं है। इस पद्धति से मूलत: दीक्षा के १२ भेद होते हैं। तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों में सकल, निष्कल और अघोरेश्वरी आदि अनुष्ठानों के भेद, लोकधर्मी और शिवधर्मी साधकों के अवान्तर वैचित्र्य तथा भौतिक, नैष्ठिक आदि आचार्यों के भेद के आधार पर दीक्षा के प्राय: असंख्य प्रकार निरूपित हुए हैं। इनमें से अधिकांश प्रकारों का अन्तर्भाव क्रिया दीक्षा में ही होता है।

पञ्चतत्त्व दीक्षा

पञ्चतत्त्व के नाम से पञ्चमहाभूत तो शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं ही, इसके अतिरिक्त शाक्त, विशेष कर कौल सम्प्रदाय में मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन इन पाँच पदार्थों को पञ्चतत्त्व कहा जाता है तथा वैष्णव सम्प्रदाय में गुरु, मन्त्र, मन, देव और ध्यान को पञ्चतत्त्व के नाम से अभिहित किया जाता है।

कुलकुण्ड में कुलद्रव्यों से कुलचक्र की पूजा करने से कौलिकी दीक्षा सम्पन्न होती है। इस दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति को कुलाचार का पालन करना पड़ता है। कुलद्रव्य, अर्थात् उक्त पाँच तत्त्वों का उपयोग शोधनविधि के अनुसार ही किया जाता है। कुलार्णवतन्त्र (५.१०८-११२) में इनकी आध्यात्मिक व्याख्या मिलती है। अवधूत सिद्ध ही इस दीक्षा का अधिकारी माना जाता है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चतत्त्व की उपासना की भी तन्त्रशास्त्र में विधि मिलती है। वहाँ बताया गया है कि पञ्चतत्त्व का उदय स्थिर करके शान्ति आदि षट्कर्म

करने चाहिये। शान्ति कार्य में जल तत्त्व, वशीकरण में वह्नि तत्त्व, स्तंभन में पृथिवी तत्त्व, विद्वेषण में आकाश तत्त्व, उच्चाटन में वायु तत्त्व और मारण कर्म में वह्नि तत्त्व का उदय सिद्धिकर माना गया है। भूमि तत्त्व का उदय होने पर दोनों नासापुटों से दण्डाकार में श्वास निकलता है। जल तत्त्व और अग्नि तत्त्व के उदय काल में नासिका के ऊर्ध्व भाग से होकर श्वास प्रवाहित होता है। वायु तत्त्व के उदय के समय वक्रभाव से तथा आकाश तत्त्व के उदय होने पर नासिका के अग्रभाग से होकर श्वास निकला करता है। इन सब श्वास-निर्गमन की प्रणालियों के सूक्ष्म निरीक्षण से ही किस समय किस तत्त्व का उदय होता है, इसका निश्चय करना पड़ता है।

अन्यत्र बताया गया है कि पृथ्वी तत्त्व के उदय में स्तंभन और वशीकरण, जल तत्त्व के उदय में शान्ति और पुष्टि कर्म, वायु तत्त्व के उदय में मारण जैसे क्रूर कर्म तथा आकाश तत्त्व के उदय के समय विष आदि नाशकारी द्रव्यों का उपयोग प्रशस्त है। जिस तत्त्व के उदय के समय जिस कार्य को सम्पन्न किया जाता है, उस तत्त्व के मण्डल का निर्माण भी तब आवश्यक माना गया है। आकाश तत्त्व में छः बिन्दुयुक्त मण्डल, वायु तत्त्व में स्वस्तिक के साथ त्रिकोणाकार मण्डल, अग्नि तत्त्व में अर्धचन्द्र के आकार का, जलतत्त्व में पद्माकार और पृथ्वीतत्त्व में चतुरस्र मण्डल बना कर कार्य सिद्ध किया जाता है।

निर्वाणतन्त्र के बारहवें पटल में वैष्णवों के लिये गुरुतत्त्व, मन्त्रतत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व नामक पंचतत्त्वों का विधान मिलता है। तदनुसार पहले गुरुतत्त्व शिष्य को मन्त्रतत्त्व का साक्षात्कार कराता है। इससे देहस्थित ब्रह्मतेज उद्दीप्त होता है। बाद में मन्त्र के प्रभाव से इष्टदेवता का शरीर उत्पन्न होता है। इष्टदेवता के सभी मन्त्र वर्णमय हैं। इन वर्णों में ईश्वर का अक्षय वीर्य निहित है। उक्त मन्त्र से मन ही मन मैं स्वयं देवतास्वरूप हूँ, इस तरह की चिन्ता की जाती है, तब उस मन्त्र का ध्यान किया जाता है। मन्त्र का ध्यान करते करते सब प्रकार की सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। इनसे विमुख व्यक्ति विष्णुरूप हो जाता है। उसको फिर कभी यमराज के मन्दिर में नहीं जाना पड़ता।

वेध दीक्षा

वेध का अर्थ है बींधना, सूक्ष्म निरीक्षण करना। शक्तिसङ्गमतन्त्र (१.६.१०१, २.३४.११) में इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं—वाग्वेध,

श्रुतिवेध, दृष्टिवेध, स्पर्शवेध और क्रियावेध। कुलार्णवतन्त्र (१४.७८) में बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दीक्षा के दो प्रकार बताये गये हैं। इनमें क्रिया दीक्षा को बाह्य और वेध दीक्षा को आभ्यन्तर कहा गया है। बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि इनके प्रयोजन हैं। स्पर्शदीक्षा, वाग्-दीक्षा, दृग्दीक्षा, मनोदीक्षा, तीव्र और तीव्रतर दीक्षा के भेद से वहाँ (१४.५३-६६) इस वेध-दीक्षा के विभिन्न प्रकार वर्णित हैं। इनकी तुलना शक्तिसङ्गमतन्त्र में प्रदर्शित वेधों से की जा सकती है। तीव्रतर वेध दीक्षा में शिष्य साक्षात् शिवमय हो जाता है। वेध दीक्षा को देने वाला गुरु और प्राप्त करने वाला शिष्य दोनों दुर्लभ माने गये हैं। आनन्द, कम्प, उद्भव, घूर्णि, निद्रा और मूर्छा—ये छः वेध की अवस्थाएँ हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रवटधानिका (२.१३) में आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि—इन पाँच अवस्थाओं को ही स्वीकार किया है। मालिनीविजयतन्त्र (११.३५) में भी इन्हींका उल्लेख मिलता है। कुलार्णव-वर्णित मूर्छा की यहाँ गणना नहीं है। वेध दीक्षा का अभिप्राय यह है कि सद्गुरु द्वारा दृष्टि, स्पर्श अथवा शब्द आदि से विद्ध शिष्य के सभी पाश क्षीण हो जाते हैं और वह आनन्द से लेकर घूर्णि पर्यन्त दशाओं से आविष्ट हो जाता है, निर्मल स्वच्छ स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

द्वादशान्त

प्राण और अपान की गति की जिस स्थान पर उत्पत्ति होती है, अथवा जाकर जहाँ रुक जाती है, उसको हृदय और द्वादशान्त कहते हैं। बाह्य और आन्तर शिव द्वादशान्त और शक्ति द्वादशान्त के भेद से द्वादशान्त की द्विविध स्थिति मानी गयी है। कभी कभी शून्यातिशून्य मध्यधाम, अर्थात् सुषुम्णा नाडी को भी द्वादशान्त कहा जाता है। तन्त्रालोक की टीका (५.७१) में सभी नाडियों के अग्र भाग में द्वादशान्त की स्थिति मानी गयी है। द्वादशान्त पद की व्याख्या करते हुए शिवोपाध्याय (वि०भै०, पृ. ४३) कहते हैं कि शरीर के प्रत्येक रोमकूप में द्वादशान्त की स्थिति है। यहाँ द्वादशान्त पद का प्रयोग लाक्षणिक है। जैसे मुख्य द्वादशान्त की स्थिति द्वादश आधारों के अन्त में है, उसी तरह से सभी नाड़ियों के अन्त (रोमकूप) में भी प्राणशक्ति की स्थिति है। अतः यहाँ विद्यमान प्राणशक्ति को भी द्वादशान्त कह दिया जाय, तो कोई अनौचित्य नहीं है। हकार की उत्पत्ति हृदय में और सकार की उत्पत्ति द्वादशान्त में मानी जाती है।

हृदयस्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। इसीलिये बाह्य आकाश योगशास्त्र में द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। द्विषट्कान्त, मुष्टित्रयान्त या शिखान्त शब्द द्वादशान्त के पर्यायवाची हैं। नेत्रतन्त्र (८.४१) की टीका में क्षेमराज ने तथा तन्त्रालोक (५.८९-९१) की टीका में जयरथ ने द्वादशान्त पद का अर्थ ऊर्ध्व द्वादशान्त किया है, जिसकी स्थिति शिखा के अन्त में है। इसमें उन्मना शक्ति का निवास है। इस प्रकार द्वादशान्त की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र से पृथक् मानी गयी है। इसको द्वादशान्त इसलिये कहते हैं कि द्वादश आधारों के अन्त में इसकी स्थिति है।

निर्विकल्प महायोगी द्वादशान्त के भी ऊपर स्थित परमाकाश में जब पहुँच जाता है, तो उस स्थिति में सर्वात्मता का विकास होने से वह अनुत्तर शून्य में लीन हो जाता है। योगिनीहृदय (१.२७,३४) में इसको महाबिन्दु कहा गया है। वहाँ आज्ञाचक्र तक की स्थिति को सकल, उन्मना पर्यन्त स्थिति को सकल-निष्कल और महाबिन्दु में स्थिति को निष्कल माना गया है। इस निष्कल स्वरूप में भगवती त्रिपुरसुन्दरी निवास करती हैं।

नवमुण्डी आसन

कुशासन, कम्बल, गलीचा, अजिन (मृगचर्म), व्याघ्रचर्म आदि आसनों से सभी परिचित हैं। सुखदायक आसन पर बैठकर योगाङ्ग आसन का अनायास अभ्यास किया जा सकता है। उससे प्राणायाम और चित्त की एकाग्रता सहज सिद्ध हो सकती है। शक्तिसङ्गमतन्त्र के द्वितीय ताराखण्ड (४.२७) में ३२ प्रकार के आसनों का उल्लेख है। उनमें से मृदु, समारूढ, कोमल, अचूलक, योनित्वक्, विष्टर, अस्थिभूमि, कुश, सुरत, मुण्ड, पञ्चमुण्ड, त्रिमुण्ड, एकमुण्ड, चिता, श्मशान, शव, मृत महाशव, वीर, महावीर और योनि नामक आसनों का वहाँ (२.९.२-६) उल्लेख किया गया है। नवम और दशम पटल में मुण्डरहस्य तथा कालिकापरिशिष्ट के आधार पर कुछ विशिष्ट आसनों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इसी तरह से २०,२७,४७-५०,६०,६७-६९,७१ पटलों में इन्हीं में से कुछ आसनों का विस्तृत परिचय मिलता है। अन्त में बताया गया है कि इन आसनों की भी संख्या ८४ होती है।

यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिये कि योगशास्त्र में वर्णित आसनों से ये सर्वथा भिन्न हैं। योगासनों से शरीर की विभिन्न स्थितियों में सुविधाजनक स्थिरता प्राप्त की जाती है, जब कि प्रस्तुत आसनों का उपयोग साधना में बैठते समय स्थिर और सुखदायक आधार के रूप में किया जाता है। वंगदेश में एकमुण्डी, त्रिमुण्डी और पञ्चमुण्डी आसन तन्त्र-साधना में प्रसिद्ध हैं। परमहंस रामकृष्ण, साधक रामप्रसाद, कमलाकान्त आदि ने पञ्चमुण्डी आसन पर बैठकर ही सिद्धि प्राप्त की थी। इस समय भी वंगदेश तथा काशी आदि स्थानों में किसी न किसी साधक का पञ्चमुण्डी आसन प्रसिद्ध है।

नवमुण्डी आसन का रहस्य अब तक रहस्य ही बना हुआ था। परमाराध्यपाद श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव द्वारा श्री काशीधाम स्थित अपने आश्रम में श्री श्री नवमुण्डी आसन की स्थापना होने के अनन्तर आध्यात्मिक यात्रा में इस आसन का रहस्य कुछ कुछ उन्मीलित हुआ। इस नवमुण्डी आसन के आध्यात्मिक रहस्य को समझाने का प्रयत्न स्वयं श्रद्धेयचरण गुरुप्रवर श्री श्री गोपीनाथ कविराज महोदय ने अपने ग्रन्थ "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" के "श्री श्री नवमुण्डी महासन" शीर्षक निबन्ध (पृ. २६१-२७८) में किया है। जिज्ञासु जनों को इस रहस्य को वहीं समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

नाडी

तोडलतन्त्र (८.१) में बताया गया है कि मानव देह में साढे तीन करोड़ नाडियाँ हैं। शारदातिलककार (१.३९-४३) इस देह को अग्नीषोमात्मक मानते हैं, क्योंकि देह का कारणभूत शुक्ल बिन्दु अग्निस्वरूप और रक्त बिन्दु सोमात्मक है। इसका दक्षिण भाग सूर्यात्मक और वाम भाग सोमात्मक है। इसमें अनन्त नाडियों का निवास है। इनमें दस नाडियाँ मुख्य हैं और उनमें भी तीन नाडियाँ प्रधान हैं। शरीर के वाम भाग में इडा, मध्य में सुषुम्णा और दक्षिण में पिंगला नाडी स्थित है। इन तीन नाडियों में भी मध्य नाडी सुषुम्णा मुख्य है। यह अग्नीषोमात्मक है। इनके अतिरिक्त गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, यशस्विनी, शंखिनी और कुहू ये सात नाडियाँ और हैं। इस तरह से इनकी संख्या दस हो जाती है। नेत्रतन्त्र (७.१-५) की टीका में क्षेमराज ने भी इन्हीं दस नाडियों की नामावली दी है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ यशस्विनी

को यशा कहा गया है। ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र (श्लो. ७६) में भी इसका यशा ही नाम है।

शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट शरीर के विभिन्न संस्थानों में इनकी स्थिति और स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि अन्य आचार्य इनके अतिरिक्त पयस्विनी, वारणा, विश्वोदरी और सरस्वती इन चार नाडियों को भी प्रधान मान कर इनकी संख्या १४ बताते हैं। तोडलतन्त्र (८.५-६) में ११ नाडियाँ प्रदर्शित हैं। उनके नाम हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्णा, चित्रिणी, ब्रह्मनाडी, कुहू, शंखिनी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, नर्दिनी और निद्रा। इनमें चित्रिणी, ब्रह्मनाडी, नर्दिनी और निद्रा को छोड़कर शेष नाम पूर्वोक्त ही हैं। संगीतदर्पण में सुषुम्णा, इडा, पिंगला, कुहू, पयस्विनी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, वारणा और यशस्विनी नाडियाँ वर्णित हैं। इनमें पयस्विनी और वारणा नाडियों के नाम १४ नाडियों में समाविष्ट हैं।

पाञ्चरात्र आगम की पारमेश्वरसंहिता (३.९०-१०६) में नाडीचक्र का वर्णन करते हुए बताया गया है कि शरीर में ७२ हजार नाडियाँ विद्यमान हैं। ये सब आग्नेय, सौम्य और सौम्याग्नेय वर्ग में विभक्त हैं। आग्नेय नाडियाँ ऊर्ध्वमुख, सौम्य नाडियाँ अधोमुख और सौम्याग्नेय नाडियाँ तिरछी हैं। इन नाडियों में दस नाडियाँ प्रधान हैं। इनके नाम हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और कौशिनी। इनमें से कौशिनी नाम अन्यत्र नहीं आया है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा नामक प्रमुख नाड़ियों का विवरण अलग से दिया गया है। सुषुम्णा नाडी के अग्र भाग में गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाडियाँ कन्द देश के वाम और दक्षिण भाग से उठकर नेत्रपर्यन्त तथा पूषा और यशस्विनी नाडियाँ सुषुम्णा नाडी के पृष्ठ भाग से कन्द देश से उठकर वाम और दक्षिण कर्णपर्यन्त स्थित हैं, अलम्बुषा नाडी कन्द से पादमूल पर्यन्त, कुहू मेढ्र के अन्तिम भाग में और कौशिनी पैर के अंगूठे में स्थित है। गान्धारी का वर्ण पीत, हस्तिजिह्वा का कृष्ण, पूषा का कृष्णपीत, यशस्विनी का श्याम, अलम्बुषा का चितकबरा, कुहू का अरुण और कौशिनी का वर्ण अञ्जन के समान है। इन दस नाडियों में यहाँ दस प्राणों की भी स्थिति बतायी गयी है। इडा नाडी प्राण की, गान्धारी अपान की, अलम्बुषा समान की, कुहू व्यान की, सुषुम्णा उदान की, पिंगला नाग की, पूषा कूर्म

की, यशस्विनी कृकर की, हस्तिजिह्वा देवदत्त की और कौशिनी धनञ्जय नामक पवन की वाहिका है। इस संहिता में इस तरह से दशविध प्राणों का और साथ ही इनके वर्णों का भी वर्णन किया गया है।

पारमेश्वरसंहिता के ही समान नेत्रतन्त्र (७.१-५) के व्याख्याकार क्षेमराज भी दस नाडियों का उक्त दशविध प्राणों से सम्बन्ध बताते हैं। पारमेश्वरसंहिता के ही समान शारदातिलक के टीकाकार ने भी योगार्णव नामक ग्रन्थ के प्रमाण पर इन दशविध नाडियों के स्थान और वर्ण का वर्णन किया है, किन्तु इनमें कोई समानता नहीं है। यहाँ गान्धारी की स्थिति इडा के पृष्ठ भाग में पाद से नेत्र पर्यन्त मानी गयी है और इसका वर्ण मयूर के कण्ठ के समान चितकबरा है। इडा के अग्र भाग में उत्पल वर्ण हस्तिजिह्वा नाडी वाम भाग में शिर से पादाङ्गुष्ठ पर्यन्त स्थित है। नीलमेघ के सदृश पूषा नाडी पिंगला के पृष्ठ भाग में दक्षिण भाग के नेत्रान्त से पादतल पर्यन्त स्थित है। पीत वर्ण अलम्बुषा कण्ठ के मध्य में और शंख वर्ण यशस्विनी पिंगला के पूर्व देश में है। शंखिनी सुवर्ण के रंग की है और इसकी स्थिति गान्धारी और सरस्वती के मध्य भाग में शरीर के वाम भाग में पैर से लेकर कर्ण पर्यन्त और दक्षिण भाग में पादाङ्गुष्ठ से लेकर शिरोभाग पर्यन्त कुहू नाडी स्थित है।

श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६.१-४) में षट्चक्र का निरूपण करते समय नाडियों के सम्बन्ध में बताया है कि मेरुदण्ड के बाहर वाम भाग में चन्द्रात्मक इडा और दक्षिण भाग में सूर्यात्मक पिंगला नाडी अवस्थित है तथा मेरुदण्ड के मध्य भाग में वज्रा और चित्रिणी नाडी से मिली हुई त्रिगुणात्मिका सुषुम्णा नाडी का निवास है। इनमें सत्त्वगुणात्मिका चित्रिणी चन्द्ररूपा, रजोगुणात्मिका वज्रा सूर्यरूपा और तमोगुणात्मिका सुषुम्णा नाडी अग्निरूपा मानी गयी है। यह त्रिगुणात्मिका नाडी कन्द के मध्य भाग से सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है। इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश है। इस सुषुम्णा नाडी के मध्य भाग में लिंग से सिर तक दीपशिखा के समान प्रकाशमान वज्रा नाडी स्थित है। उस वज्रा नाडी के मध्य में चित्रिणी नाडी का निवास है। यह प्रणव से विभूषित है और मकड़ी के जाले के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार की है। योगी गण ही इसको अपने योगज ज्ञान से देख सकते हैं। मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्णा और ब्रह्मनाडी के बीच में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत,

विशुद्धि और आज्ञा चक्रों को भेदकर यह नाडी सहस्रार चक्र में प्रकाशमान होती है। इस चित्रिणी नाडी के बीच में शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करने वाली ब्रह्मनाडी स्थित है। यह नाडी मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग के छिद्र से सहस्रार में विलास करने वाले परम शिव पर्यन्त व्याप्त है। यह नाडी विद्युत् के समान प्रकाशमान है। मुनिगण ही इसके कमलनाल स्थित तन्तुओं के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार का मानस प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस नाडी के मुख में ही ब्रह्मद्वार स्थित है और इसीको योगी गण सुषुम्णा नाडी का भी प्रवेश द्वार मानते हैं।

इनके अतिरिक्त शास्त्रों में प्राणवहा, मनोवहा, अश्विनी, गुह्यिनी, चित्रा, वारुणी, शूरा, नैरात्म्ययोगिनी आदि नाडियों का भी वर्णन मिलता है। इनका विवरण "तान्त्रिक साधना और संस्कृति" नामक ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में १७, १३९, २६३, २९१-२९२ पृष्ठों पर देखना चाहिये। वहाँ (पृ. २६३) बताया गया है कि सहजियों की साङ्केतिक भाषा में सभी नाड़ियों को 'योगिनी' कहा जाता है।

नाद

प्रपञ्चसार, शारदातिलक, रत्नत्रय आदि ग्रन्थों में नाद और बिन्दु को शिव और शक्ति से उसी तरह से अभिन्न माना गया है, जैसे कि प्रकाश और विमर्शात्मक शिव तथा शक्ति से शब्द और अर्थ को अभिन्न माना गया है। प्रणव की १२ कलाओं में भी बिन्दु और नाद की स्थिति है। आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में नाद और बिन्दु की अपनी-अपनी व्याख्याएँ हैं। विज्ञानभैरवोद्योत (पृ. ३) और स्वच्छन्दोद्योत (१.३; पृ. ६) में "अदृष्टविग्रहात्" यह श्लोक उद्धृत है। कुछ पाठभेदों के साथ यह स्वच्छन्दतन्त्र (८.२७-२८), श्रीकण्ठीयसंहिता (स्वच्छन्दोद्योत, वहीं, पृ. १९) और पौष्करागम (श०र०सं०, पृ. ७) में उपलब्ध होता है। इस श्लोक के प्रमाण पर इन सभी स्थलों में शास्त्रों की नादरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

नादकारिका (श०र०सं०, पृ. ४०) में नाद को मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु, अघोषा वाक् और ब्रह्मकुण्डलिनी बताया है। नादभट्टारक और प्राण-शक्ति के नदन व्यापार को भी नाद कहा जाता है। "हकारस्तु स्मृत: प्राण: स्वप्रवृत्तो हलाकृति:" (४.२५७) स्वच्छन्दतन्त्र के इस वचन के अनुसार स्वाभाविक रूप से निरन्तर नदन करने वाले हलाकृति प्राण को ही हकार कहा

गया है। अनच्क हकार की आकृति वाले प्राण का यह नदन व्यापार ही हंसोच्चार कहलाता है। इसीको अनाहत ध्वनि अथवा नादभट्टारक भी कहा जाता है। भट्टारक शब्द अतिशय आदर का सूचक है। यह नादभट्टारक शब्दब्रह्म का ही व्यापार है। यह दस प्रकार का होता है।

तन्त्रालोक (५.५९) में ब्रह्मयामल के प्रमाण पर दस प्रकार के राव का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार जयरथ ने (भा. ३, पृ. ४१०) राव शब्द को नाद का पर्यायवाची मानकर दस प्रकार के नाद का परिचय दिया है। स्वच्छन्दतन्त्र (११.६-७) में इसके आठ भेद माने गये हैं। क्षेमराज ने अपनी टीका में धर्मशिवाचार्य की पद्धति को उद्धृत कर इनका विवरण दिया है। अर्थरत्नावली (पृ. ३६) में उद्धृत सङ्केतपद्धति में भी अनाहत नाद के आठ ही भेद माने गये हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (११.७) में महाशब्द के नाम से नवम नाद भी माना गया है। अर्थरत्नावली (पृ. ३६) में उद्धृत हंसनिर्णय में नवम नाद को निर्विशेष कहा गया है।

दस प्रकार के नाद में धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करने पर योगी शब्दब्रह्म के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेता है। वह यह जान लेता है कि शब्दब्रह्म से ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार प्रकार की वाणियों का विकास होता है। यह नादतत्त्व परा और पश्यन्ती के क्रम से विकसित होता हुआ मध्यमा में आकर योगाभ्यास द्वारा श्रवणेन्द्रिय के अन्तर्मुख होने पर सुनाई पड़ता है। अन्तर्मुखता की ओर बढ़ते-बढ़ते, अर्थात् इस नाद के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम स्वरूप का अन्वेषण करते-करते योगी शब्दब्रह्म के स्वरूप को भलीभाँति समझने में समर्थ हो जाता है, निष्णात हो जाता है। शब्दब्रह्म के स्वरूप को ठीक से पहचान लेने पर साधक अनायास परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इस निरन्तर नदन करती अनाहत ध्वनि में चित्त को एकाग्र कर लेने पर योगी का परमाकाशस्वभाव, चिदाकाशमय, प्रकाशात्मक स्वरूप प्रकट हो जाता है।

नादानुसन्धान

लययोग के प्रसंग में बताया गया है कि लय नाद पर आश्रित है, अत: लययोग की सिद्धि के लिये नाद का अनुसन्धान आवश्यक है। आदिनाथ ने

चित्त के लय के सवा करोड़ उपाय बताये हैं, उनमें नादानुसन्धान ही प्रमुख है। इसके लिये साधक को चाहिये कि वह सुखपूर्वक आसन पर बैठकर शारीरिक शाम्भवी मुद्रा के माध्यम से अन्तर्मुख होकर दाहिने कान से अन्त:स्थ नाद का श्रवण करे। ऐसा करते समय उसको कान, आँख, नाक और मुह को अँगूठे और अँगुलियों की सहायता से बन्द कर लेना चाहिये। इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर उसको सुषुम्णा मार्ग में नदन करता हुआ नाद सुनाई पड़ने लगता है। इसकी आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति नामक चार अवस्थाएँ होती हैं। निष्पत्ति अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते योगी अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है। मुक्ति होती हो अथवा न होती हो, किन्तु नादानुसन्धान की निष्पत्ति दशा तक पहुँच जाने पर योगी को इसी शरीर में अखण्ड आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

योगी को चाहिये कि कान बन्द कर वह जिस नाद को सुनता है, उसमें अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। ऐसा करने से उसकी चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, वह बाहरी कोलाहल को नहीं सुनता। नादानुसन्धान की प्रारंभिक दशा में उसे नाना प्रकार के समुद्र, बादल, मर्दल, शंख, घण्टा, किंकिणी, वंश, वीणा, भ्रमर आदि की ध्वनि सुनाई पड़ती है और उसकी चित्त-वृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद की ओर उन्मुख होती जाती है। नाद की जिस किसी अवस्था में योगी का मन रमता हो, उसी का वह अभ्यास करे। इस नादानुसन्धान की प्रक्रिया के अन्त में उसी नाद के साथ साधक का चित्त लीन हो जाता है। मकरन्द का पान करने वाला भ्रमर जैसे गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी तरह से नाद में लीन हुआ चित्त फिर विषयों की ओर नहीं लौटता। इस नादानुसन्धान की प्रक्रिया का वर्णन हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में मिलता है।

नित्योदित-शान्तोदित

उदित शब्द का अर्थ है ऊपर गया हुआ, उठा हुआ, उगा हुआ। नित्योदित का अर्थ है जिसका नित्य उदय ही हो। संसार में जिसका उदय होता है, उसका अस्त भी होता है। इस प्रकार की उदित वस्तु को शान्तोदित कहते हैं; किन्तु जिसका सदा उदय ही हो, जो कभी अस्त न हो, वह नित्योदित है। स्वसंवित्ति अथवा आत्मचेतना के प्रकाशन की दो स्थितियाँ होती हैं—शान्तोदित और नित्योदित। शान्तोदित वह स्थिति है, जिसमें आत्मचेतना का आविर्भाव होता

है, किन्तु फिर उसका तिरोभाव भी हो जाता है। नित्योदित स्थिति में आत्मचेतना का सदा आविर्भाव ही बना रहता है, कभी तिरोभाव नहीं होता। आत्मा तो नित्योदित है ही, उसमें हमारी संवेदना की स्थिति बराबर नहीं रहती। शक्तिसंकोच के सिद्ध हो जाने पर हमारी चेतना की नित्योदित स्थिति हो जाती है। मालिनीविजय (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में महाप्रचय अथवा सततोदित दशा के रूप में इसका वर्णन हुआ है। प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. १९-२०) में नित्योदित समाधि और उससे प्राप्त होने वाली पूर्ण समावेश दशा की चर्चा भी इसी विषय को स्पष्ट करती है।

पर वासुदेव के स्वरूप को पाञ्चरात्र आगम के ग्रन्थों में नित्योदित माना गया है। इसमें आविर्भाव और तिरोभाव, काल की कलना तथा परिणाम कुछ भी नहीं है। इसमें परम आनन्द सर्वदा विराजमान रहता है। व्यूह वासुदेव का स्वरूप शान्तोदित माना जाता है। इसका उदय होता है और अस्त भी होता है। सृष्टि आदि व्यापारों की निष्पत्ति, जीवों की रक्षा और उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये व्यूह वासुदेव की अभिव्यक्ति होती है। सात्वतसंहिता के अलशिंग भाष्य (१.३३-३४) में बताया गया है कि ईश्वर की दो दशाएँ हैं—नित्योदित और शान्तोदित। नित्योदित दशा में वह केवल स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है और शान्तोदित दशा में वह अपनी विभूतियों का विस्तार करता है। इस व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि शैव, शाक्त और वैष्णव सभी सम्प्रदायों में प्रयुक्त ये दोनों शब्द सर्वत्र समान अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।

निरञ्जन

मुण्डकोपनिषद् (३.१.३) में कहा गया है कि निरञ्जन परम साम्य को प्राप्त कर लेता है। यहाँ निरञ्जन पद मुक्त जीव के लिये प्रयुक्त है। पाशुपत मत में पशु (जीव) के दो भेद बताये गये हैं—साञ्जन और निरञ्जन। उनमें से शरीर इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध पशु साञ्जन और इनसे रहित पशु को निरञ्जन कहा गया है। तिर्यक् आदि के भेद से साञ्जन पशु के १४ प्रकार और निरञ्जन पशु के तीन प्रकार वहाँ निर्दिष्ट है। इसमें से तृतीय प्रकार के निरञ्जन पशु से ही उक्त मुण्डकोपनिषद् का वाक्य सम्बद्ध है। अन्य शैव आगमों में भी इनका उल्लेख मिलता है। वहाँ माया में पड़ा हुआ जीव साञ्जन और उससे अतीत निरञ्जन कहा जाता है। उपनिषदों में ही अन्यत्र (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

७.९) निरञ्जन पद परब्रह्म के पर्याय के रूप में व्यवहृत है। इस उपनिषद् में वैष्णव सिद्धान्त के अनुरूप ही परब्रह्म का निरूपण किया गया है। अन्य वैष्णव आगमों में भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है।

नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अपर, पर, सूक्ष्म, निरञ्जन और परमात्मा नामक पाँच तत्त्व या पद वर्णित हैं। इनमें से निरञ्जन पद में सहजत्व, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता और सर्वगत्व नामक गुणों की स्थिति मानी गयी है। ये सब शिव के विविध रूप हैं। बौद्ध शास्त्रों में शून्य अथवा निर्वाण पद को निरञ्जन कहा जाता है। परवर्ती सन्त साहित्य में नाथ सम्प्रदाय अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मान्य अर्थ में ही इस पद का प्रयोग हुआ है।

गोरक्षनाथ सिद्ध विरचित अमरौघशासन (पृ. ८-९) में काम, विष और निरञ्जन तत्त्वों की चर्चा है। ब्रह्मदण्ड के मूलांकुर में इनकी स्थिति मानी गयी है। इन्हीं तीन तत्त्वों का निरूपण तन्त्रालोक के तृतीयाह्निक (पृ. ११२, ११५, १७०) में भी मिलता है। वहाँ इन तत्त्वों को क्रमश: इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्त्यात्मक माना है। इन शक्तियों के द्वारा अंजित होकर ही ब्रह्म नाना रूपों में प्रकट होता है। इन शक्तियों में समरसता स्थापित कर योगी निरञ्जन पद में प्रतिष्ठित हो जाता है।

विज्ञानभैरव की टीकाओं में निरञ्जन पद का अर्थ द्वादशान्त किया गया है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द योगी रूपातीत स्थिति को निरञ्जन पद कहते हैं। हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम योगी निरञ्जन शब्द को समाधि का पर्याय मानते हैं। इन सब प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने वाला यह पद सम्प्रति प्रधानत: बौद्ध शास्त्र में स्वीकृत शून्यता अथवा निर्वाण तथा नाथ सम्प्रदाय में अभिमत शिव के निष्कल निरञ्जन पद के लिये ही व्यवहृत होता है। हिन्दी और मराठी आदि भाषाओं के कवियों ने इन्हीं अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है। नेत्रतन्त्र (७.३८) में भी सूक्ष्म ध्यान के द्वारा निरञ्जन परम पद की अभिव्यक्ति का उल्लेख मिलता है।

निर्वाण कला

श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६.४८-५०) में बताया गया है कि अमा कला के भीतर निर्वाण कला स्थित है। यह साधक को मुक्ति प्रदान करने वाली है, अत:

इसे निर्वाण कला कहा जाता है। मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्द पर्यायवाची हैं। निर्वाण कला केश के अग्र भाग के हजारहवें भाग से भी सूक्ष्म है, अत एव दुर्ज्ञेय है। यह प्राणियों की चैतन्य शक्ति है। इसी की सहायता से साधक योगी के चित्त में ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ध्यान में इसका आकार अर्धचन्द्र के समान तिरछा है। इस निर्वाण कला के भीतर निर्वाणशक्ति का निवास है। बिन्दुस्वरूपा यह निर्वाणशक्ति जीव को सामरस्यावस्था से उत्पन्न परम प्रेम की धारा से सदा आप्यायित करती रहती है। इस निर्वाणशक्ति के मध्य में स्थित सूक्ष्म स्थान में निर्मल शिवपद, परब्रह्म का स्थान है। योगी ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। यह पद नित्यानन्दमय है। इसी को ब्रह्मपद, वैष्णव परमपद, हंसपद और मोक्षपद भी कहते हैं।

नेत्रत्रय

भगवान् शिव को त्र्यम्बक कहा जाता है। इनके तीनों नेत्र सदा उन्मीलित रहते हैं, किन्तु जीव दशा में तृतीय नेत्र निमीलित हो जाता है। इसकी स्थिति भाल, अर्थात् भ्रूमध्य में मानी जाती है। क्रम दर्शन में इसको मूर्तिचक्र की संज्ञा दी गयी है और दक्षिण तथा वाम नेत्रों को क्रमश: प्रकाशचक्र और आनन्दचक्र कहा जाता है। ये तीनों चक्र क्रमश: प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय भाव के प्रतीक हैं। मूर्तिचक्र में मूर्छना, मोह और समुच्छ्राय की स्थिति रहती है। यह मूर्ति अन्दर और बाहर अहन्ता और इदन्ता के रूप में स्फुरित होती है। जब अहन्ता का भाव प्रबल होता है, तो इदन्ता का भाव तिरोहित हो जाता है और जब इदन्ता का भाव प्रबल होता है, तो अहन्ता का भाव तिरोहित हो जाता है। ये दोनों ही स्थितियाँ मोह के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रक्रिया से प्रमाता अथवा वह्निस्वरूप का परम प्रकाशमय परभैरव की संवित्ति पर्यन्त उत्कर्ष तथा पाषाण आदि जड़ संवित्ति पर्यन्त अपकर्ष अपनी महती स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही होता है। यही स्वातन्त्र्य शक्ति यहाँ मूर्तिचक्र शब्द से बोधित हुई है।

दक्षिण नेत्र प्रकाशचक्र का प्रतीक है। प्रमेय पदार्थ को प्रकाशित करने वाला प्रमाण यहाँ प्रकाशचक्र के नाम से जाना जाता है। यह प्रमाणस्वरूप प्रकाशात्मक सूर्य द्वादशधा विभक्त है। बुद्धि के साथ कर्मेन्द्रियाँ तथा मन के

साथ बुद्धीन्द्रियाँ मिलकर इस विभाग को पूरा करती हैं। अहंकार की उक्त दोनों स्थितियों में अनुस्यूति रहती हैं। द्वादशधा विभक्त इस प्रमाण-व्यापार से ही सारे प्रमेय प्रकाशित होते हैं। अत: यह प्रमाण-व्यापार प्रकाशचक्र के नाम से अभिहित हुआ है।

वामनेत्र आनन्दचक्र का प्रतीक है। स्वात्मस्वरूप परमेश्वर जब इदन्ता के रूप में स्फुरित होता है, तो वह प्रमेय (विषय), अर्थात् भोगसामग्री के रूप में प्रकट होकर सर्वत्र आनन्द की सृष्टि करने लगता है। यह सोम (चन्द्रमा) का अंश है। शब्द, स्पर्श आदि सभी वेद्य विषयों का इसमें अन्तर्भाव होता है।

इन्हीं तीन चक्रों से इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक शक्तियाँ; अग्नि, सूर्य, सोम नामक बिन्दु; भू:, भुव:, स्व: नामक व्याहृतियाँ; प्राण, अपान, उदान नामक वायु; पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग नामक स्थान; सत्त्व, रज, तम नामक गुण; इडा, पिंगला, सुषुम्णा नामक नाडियाँ; देवयान, पितृयाण और महायान नामक यान; स्थूल, सूक्ष्म, पर नामक अवस्थाएँ; कुल, कौल, अकुल नामक विभाग; मन्त्र, मुद्रा, निरीहा नामक रहस्यों की ही नहीं, त्रित्व संख्या विशिष्ट समस्त पदार्थों की सृष्टि होती है (महार्थमञ्जरी, पृ. ८७-८९)।

न्यास

तन्त्रशास्त्र में बताया गया है कि साधक स्वयं देवस्वरूप बनकर इष्टदेव की उपासना करे। एतदर्थ भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, शोष, दाह और आप्यायन विधि के ही समान विविध न्यासों का भी विधान है। देवता अथवा साधक के शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में इष्ट मन्त्र स्थित वर्णों का न्यास किया जाता है। तन्त्र और पुराण वाङ्मय में अनेक प्रकार के न्यासों का विवरण मिलता है। वर्णविन्यास की पद्धति में अंगन्यास और करन्यास प्रमुख हैं। षडङ्ग न्यास के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। व्यापक न्यास में सिर से पैर तक तथा पैर से सिर तक अपने सम्पूर्ण इष्ट मन्त्र का विन्यास किया जाता है। जीव न्यास की विधि से प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठ—इन षोढा न्यासों का विधान है। अन्तर्मातृका और बहिर्मातृका न्यासों का भी यहाँ विस्तार से वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त ऋष्यादि न्यास,

सृष्ट्यादि न्यास, मन्त्र, मूर्ति, दशाङ्ग, पंचाङ्ग, आयुध, भूषण, श्रीकण्ठ, वशिनी आदि न्यास भी विभिन्न प्रयोजनों के लिये उद्दिष्ट हैं।

पञ्चकञ्चुक

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध:' (१२.३३) इत्यादि वायुपुराण के श्लोक में शिव के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता ये छ: गुण गिनाये गये हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव शिव से अभिन्न है, किन्तु माया के कारण उसका स्वरूप संकुचित हो जाता है और इसके बाद कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों के कारण क्रमश: उसकी सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यपरिपूर्णतृप्तिता, नित्यता और स्वतन्त्रता— ये पाँच शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं (द्रष्टव्य—सौ० सु०, १.३२-३९)। अत: इन पाँचों तत्त्वों को पञ्चकञ्चुक कहा जाता है। माया का भी इसमें समावेश कर कुछ आचार्य कञ्चुकों की संख्या छ: मानते हैं।

पञ्चकृत्य

शैव और शाक्त दर्शन में शिव को पञ्चकृत्यकारी बताया गया है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह ये शिव के पाँच कार्य हैं। शिव की तिरोधान शक्ति के कारण जीव अपने परमार्थ स्वरूप को भूल बैठता है और उसका अनुग्रह होने पर, जिसको कि आगम की भाषा में शक्तिपात कहा जाता है, वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। शिव के इन दो व्यापारों की तुलना वेदान्त दर्शन के अध्यारोप और अपवाद शब्दों से की जा सकती है। आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन नामक पञ्चकृत्यों का प्रतिपादन प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. ११) में किया गया है। शक्तिपात दशा में परिच्छिन्न प्रमाता में भी इन कृत्यों की अभिव्यक्ति मानी गयी है। इनके अतिरिक्त क्रम- दर्शन में सृष्टि स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पञ्चकृत्य प्रतिपादित हैं। इनकी व्याख्या अलग से की गयी है।

पञ्चवाह

क्रम-दर्शन में श्रीपीठ, पञ्चवाह , नेत्रत्रय, वृन्दचक्र, गुरुपंक्ति और पाँच शक्तियों की उपासना विहित है। अपने शरीर को ही यहाँ श्रीपीठ बताया गया

है। इस शरीर में भी परमेश्वर पाँच प्रकार से स्फुरित होता है। परमेश्वर के स्फुरण की यह धारा ही वाह के नाम से अभिहित है। इनके नाम हैं— व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी। कुछ आचार्य गोचरी, दिक्चरी और भूचरी अथवा भूचरी, दिक्चरी और गोचरी के क्रम से इनकी स्थिति बताते हैं। ये ही पाँचों शक्तियाँ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के रूप में तथा परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में अनुभूत होती हैं। सृष्टि आदि जितने भी पाँच संख्या वाले पदार्थ हैं, उन सबका समन्वय इन्हीं से होता है। प्रणव की पाँच कला तथा अन्य भी ऊपर बताये गये व्योम (पाँच) संख्या वाले पदार्थों का वमन करने वाली शक्ति का नाम व्योमवामेश्वरी है। यह परमेश्वर की अविकल्प भूमि में अनुप्रविष्ट चिच्छक्ति का ही विलास है (महार्थमञ्जरी, पृ. ८३-८७)।

क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. १२) में वामेश्वरी के नाम से इसका वर्णन किया है। वहाँ अन्य चार शक्तियों का क्रम यह है—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। प्रत्यभिज्ञाहृदय में प्रदर्शित क्रम के अनुसार यहाँ क्रमशः इन पाँचों शक्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

१. वामेश्वरी

संवित्क्रम में चितिस्वरूपा महाशक्ति वामेश्वरी का नाम धारण कर खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी—इन चार स्वरूपों में परिस्फुरित होती है। अविभक्त दशा में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय विभाग नहीं रहता। परन्तु स्फुरण की अवस्था में प्रमाता, आन्तर प्रमाण या अन्तःकरण, बहिःकरण या बाह्य इन्द्रियाँ और प्रमेय ये चार विभाग अलग अलग प्रकाशित होते हैं। ये अपरिमित प्रमाता को परिच्छिन्न (परिसीमित) बना देते हैं। ये सब पशुओं को विमोहित करते हैं। परन्तु आत्मा जब शिवभूमि में प्रविष्ट होता है, तब ये शक्तियाँ शिवहृदय को विकसित करती हैं। उस समय ये खेचरी आदि शक्तियाँ ही आत्मा के पूर्णकर्तृत्व आदि की प्रकाशक चिद्गगनचरी, अभेदनिश्चय गोचरी, अभेदालोचनात्मक दिक्चरी तथा स्वांगकल्प अद्वयप्रथामय प्रमेयात्मक भूचरी के रूप में प्रकाशमान होती हैं।

वाम शब्द वम् धातु से सम्बद्ध है, जिसका अर्थ होता है—वमन करना, बाहर फेंकना। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिये कहलाती है कि यह विश्व को

परमशिव से बाहर फेंकती है। वाम शब्द का अर्थ बायाँ और विपरीत भी है। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिये भी कहलाती है कि यद्यपि शिव में अभेद, अर्थात् पूर्णता की चेतना है, किन्तु संसार दशा में इस शक्ति के कारण उसमें भेद और अपूर्णता की भावना घर कर जाती है। इसके कारण प्रत्येक जीव शरीर, प्राण इत्यादि को ही अपना स्वरूप समझने लगता है।

वाम शब्द का अर्थ सुन्दर भी होता है। परब्रह्म का सौन्दर्य इसी बात में निहित है कि वह विश्व का वमन करता हुआ पारमेश्वरी लीला के चमत्कार को चमका देता है, अन्यथा वह शून्य गगनवत् जड और भावात्मक सौन्दर्य से रहित होता।

२. खेचरी

खेचरी शक्ति का सम्बन्ध प्रमाता से है। इसके कारण चेतन आत्मा अपरिमित प्रमाता से परिमित प्रमाता बन जाता है। 'खे (आकाशे) चरतीति खेचरी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ख शब्द का अर्थ आकाश है। खे सप्तमी विभक्तिक है। इसका अर्थ है 'आकाश में'। यहाँ **ख** या आकाश चित् का प्रतीक है। इस शक्ति का नाम खेचरी इसलिये है कि इसका क्षेत्र चिद्गगन है। चिद्गगन के पारमार्थिक स्वभाव को छिपा कर यह प्रमाता को परिमित प्रमाता बना देती है। वह अब पशु बन जाता है। माया से उद्भूत कला आदि पञ्चकञ्चुक समष्टि रूप से खेचरी चक्र के नाम से अभिहित होते हैं। इनका काम आत्मा के स्वरूपभूत पाँच नित्य धर्मों को संकुचित करना है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यत्व, विभुत्व और आप्तकामत्व—ये पाँच आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। शिव रूपी आत्मा चिदाकाश में सञ्चरण करने में समर्थ होने पर भी पशु दशा में इस खेचरी चक्र से आक्रान्त होकर परिमित प्रमाता बन जाता है। उस समय वह अल्पकर्ता, अल्पज्ञ, अनित्य, नियतदेशवृत्ति और भोग की आकांक्षा से लिप्त हो जाता है।

३. गोचरी

गोचरी का सम्बन्ध अन्त:करण से है। इस चक्र से चेतन आत्मा अन्त:करण से परिच्छिन्न हो जाता है। **गो** शब्द गमन या चलन का द्योतक है। किरण, गो, इन्द्रियाँ— ये सभी पदार्थ 'गो' शब्द से अभिहित होते हैं, क्योंकि इन सबमें गमन का भाव निहित है। अन्त:करण इन्द्रियों का आश्रय है। वही इन्द्रियों

को परिचालित करता है। इसलिये वह गोचरी शक्ति का क्षेत्र है। इसके कारण आत्मा का स्वभावसिद्ध अभेदनिश्चय, अभेदाभिमान तथा अभेद विकल्पमय पारमार्थिक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भेदनिश्चय, भेदाभिमान तथा भेदविकल्पप्रधान अन्त:करण रूप देवियाँ ही गोचरी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

४. दिग्चरी

दिग्चरी का सम्बन्ध बहि:करण (बाह्य इन्द्रिय) से है। दिग्चरी चक्र के द्वारा चेतन आत्मा बहि:करणों से परिच्छिन्न हो जाता है। दिग्चरी वह शक्ति है, जो दिक् (दिशाओं) में चलती रहती है। बहि:करण या बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध दिक् या देश से है। इसलिये दिग्चरी शक्ति का क्षेत्र बाह्य इन्द्रियाँ हैं। इस शक्ति के कारण पारमार्थिक अभेद प्रथा (अभेद ज्ञान) आच्छादित हो जाता है तथा भेदविचारमय भेद प्रथा का प्राकट्य हो जाता है। यह बाह्य करण रूप देवीचक्र ही दिग्चरी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

५. भूचरी

भूचरी शक्ति का सम्बन्ध भावों (पदार्थों) से है। इसके कारण चेतन आत्मा भावों (पदार्थों=प्रमेयों) में ही अटका रह जाता है। 'भूचरी' में विद्यमान 'भू' का अर्थ 'होना' है। जो कुछ हो गया है, वह 'भू' के अन्तर्गत है। अत: यह शक्ति सभी भाव, अर्थात् पदार्थ अथवा प्रमेयों (विषयों) का बोध कराती है। सभी पदार्थ या प्रमेय भूचरी के क्षेत्र में आते हैं। भूचरी शक्ति के कारण पारमार्थिक सर्वात्मकता आवृत हो जाती है और परिच्छिन्न आभासमय प्रमेयवर्ग प्रकाशित हो उठता है।

पद

मालिनीविजय (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहाँ मन्त्र को पदस्थ बताया गया है और इसके गतागत, सुविक्षिप्त, सङ्गत और सुसमाहित नामक चार भेद माने गये हैं। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (१९.३०-४८) और शिवज्ञान के प्रसङ्ग (२०।१-७,१८-२६)

में भी इस विषय का विवरण मिलता है। जैन ग्रन्थ ज्ञानार्णव के ३५ वें प्रकरण में पदस्थ ध्यान वर्णित है। इसमें वर्णों और मन्त्रों की ध्यानविधि बतायी गयी है। योगिनीहृदय (१.४२) में बताया गया है कि पद में पूर्णगिरि पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने इसकी व्याख्या की है कि पद अर्थात् हंस=प्राण का आधार हृदय है। वहीं अन्यत्र (३.९४) इसको विघ्नरूप माना है। इसीलिये ३.१३७ की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि पद से मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान पर (पृ. ४) पद का अर्थ ध्यान तथा अन्यत्र (पृ. ९०) माया से विमोहित जीव किया है। वहीं (पृ. ५३) यह भी बताया गया है कि इसके आठ भेद होते हैं।

परा वाक्

कारण बिन्दु का अभिव्यक्त स्वरूप शब्दब्रह्म कहलाता है और यह मूलाधार में निष्पन्दावस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी स्थिति को परा वाक् कहा जाता है। शास्त्रों में नादात्मक अकारादि मातृका वर्णों की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं— अनाहतहतोत्तीर्ण, अनाहतहत, अनाहत और हत। इनमें अनाहतहतोत्तीर्ण अवस्था ही परा वाक् है। तन्त्रालोक (५.९७-१००) में उद्धृत ब्रह्मयामल में नाद को राव कहा गया है। परावाक्स्वरूप अहंविमर्शात्मक राव पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और इनके स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भेदों के कारण नवधा विभक्त हो जाता है। इन सबका आधारभूत परावागात्मक राव दशम है। इस तरह से यह परावागात्मिका राविणी दिव्य आनन्दप्रदायक दस प्रकार के नाद का नदन करती रहती है। इसी से वर्णाम्बिका का पश्यन्ती रूप अभिव्यक्त होता है। परा वाक् को ही सूक्ष्मा और कुण्डलिनी शक्ति भी कहा जाता है। योगिनीहृदय (१.३६) में इसको अम्बिका शक्ति कहा गया है।

पर्यायसप्तक

शक्तिसङ्गम तन्त्र में पर्याय के नाम से तन्त्रों का विभाग किया गया है। देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन, आयतन और आगम के भेद से पर्याय सात प्रकार के होते हैं। किस देश में कौन से आचार, क्रम, मार्ग या तन्त्र प्रचलित हैं, इसका ज्ञान देश पर्याय से होता है। किस काल में कौन सी विद्या

कैसे प्रचलित हुई? उसका स्वरूप क्या है? इन सबका ज्ञान काल पर्याय से होता है। किस आम्नाय में कैसा आचार है? उसका स्वरूप क्या है और उसकी विशेषता क्या है? इन प्रश्नों का समाधान आम्नाय पर्याय में वर्णित है। किस विद्या की उपासना किस आचार से की जाती है? कलियुग में उसका क्या स्वरूप है? उसका फल क्या है? इन सब विषयों का निर्णय विद्या पर्याय में किया गया है। किस दर्शन का क्या आचार है? इसके प्रतिपादक तन्त्र कौन-कौन से हैं? इस बात का निरूपण दर्शन पर्याय में किया गया है। किस आयतन की उत्पत्ति कैसे हुई? किसमें कितने तन्त्र हैं? इसका आचार क्या है? इन बातों का निर्णय आयतन पर्याय में किया गया है। किस आगम की उत्पत्ति कैसे हुई? इनका आचार क्या है? मुख्य और अंग मन्त्र कौन-कौन से हैं? इनकी परम्परा कैसी है? इनमें तन्त्र कितने हैं और इनसे सिद्धि कैसे मिलती है? इन सब विषयों का निरूपण आगम पर्याय में किया गया है।

इस प्रकरण की समाप्ति (४.७.१५७-१६०) में देश पर्याय का पूर्वाम्नाय में, काल पर्याय का दक्षिणाम्नाय में, आगम पर्याय का पश्चिमाम्नाय में, दर्शन पर्याय का उत्तराम्नाय में, आयतन पर्याय का पातालाम्नाय में और विद्या पर्याय का ऊर्ध्वाम्नाय में समादेश किया गया है। इसको वहाँ पर्यायाम्नाय भी कहा गया है। इस तरह से उक्त छः पर्यायों में भी आम्नाय पर्याय की अनिवार्य उपस्थिति रहती है, अतः आम्नाय ही इन सबमें प्रधान है। तथापि दर्शन और आगम पर्याय का भी अपना निजी स्वरूप सुरक्षित है। इसी तरह से देश और काल के भेद से भी तन्त्रों का भेद होता ही है। दस महाविद्या तथा अन्य विद्याओं के प्रतिपादक स्वतन्त्र तन्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते ही हैं। इसीलिये उक्त सभी पर्यायों की स्वतन्त्र स्थिति तन्त्रशास्त्र में मान्य है और इसका इतना विस्तार से वर्णन किया गया है। इससे तान्त्रिक वाङ्मय की विशालता का भी परिचय मिलता है।

१. देशपर्याय

शक्तिसङ्गमतन्त्र (४.२.१५-३३) में कादि और हादि के भेद से ५६-५६ देशों के नाम गिनाये गये हैं और इनकी सीमा का निर्धारण भी वहीं (३.७.१५-७२) किया गया है। इन सभी देशों को पुनः प्राक्, प्रत्यक्, दक्षिण और उदक् तथा केरल, कश्मीर, गौड और विलास के नाम से चार भागों में बाँटा गया है। अंग से मालव पर्यन्त केरल, मरुदेश से नेपाल तक कश्मीर,

सिलहट्ट से सिन्धु पर्यन्त गौड सम्प्रदाय फैला हुआ है। विलास सम्प्रदाय पूरे देश में व्याप्त है। चीन देश में १०० तन्त्र और ७ उपतन्त्र, द्रविड देश में २० तन्त्र और २५ उपतन्त्र, केरल में ६० तन्त्र और ५० उपतन्त्र, कश्मीर में १०० तन्त्र और १० उपतन्त्र, गौड देश में ७२ तन्त्र और १६ उपतन्त्रों की स्थिति है। इनके अतिरिक्त ऊर्ध्व दिशा और पाताल में भी सकल और निष्कल के क्रम के अनुसार शाक्त और शैव तन्त्रों की स्थिति बतायी गयी है। इन सबका विवरण वहीं (४.५.४०-७३) देखना चाहिये।

२. कालपर्याय

इसका विस्तृत विवरण शक्तिसङ्गमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के ५-६ पटलों में किया गया है। कादि और हादि उभय मतों में इसका एक ही रूप समान रूप से मान्य है। यहाँ प्रधानत: दस महाविद्या, गणेश, वटुक आदि की तथा दस अवतारों की जयन्तियों का वर्णन करने के बाद बताया गया है कि उचित समय पर ही इन विद्याओं तथा देवताओं की आराधना करनी चाहिये। इसके लिये शकुन-विचार भी आवश्यक है। कालपर्याय स्थित तन्त्रों की गणना वहाँ इस प्रकार की गयी है—

शाक्त कालपर्याय में ६४ तन्त्र, ३२६ उपतन्त्र, ३०० संहिता, १०० चूडामणि, ९ अर्णव, ४ डामर, ८ यामल, २ सूक्त, ६ पुराण, १ उपवेद, ३ कक्षपुटी, २ विमर्षिणी, ८ कल्प, २ कल्पलता, ३ चिन्तामणि ग्रन्थों का समावेश है।

शैव कालपर्याय में ३३ तन्त्र, ३२५ उपतन्त्र, ३ संहिता, १ अर्णव, २ यामल, ३ डामर, १ उड्डालक, २ उड्डीश, ८ कल्प, ८ संहिता, २ चूडामणि, २ विमर्षिणी, १ अवतार, ५ बोध, ५ सूक्त, २ चिन्तामणि, ९ पुराण, ३ उपपुराण, २ कक्षपुटी, ३ कल्पद्रुम, २ कामधेनु, ३ सद्भाव, ५ तत्त्व और २ क्रम तन्त्र समाविष्ट हैं।

वैष्णव कालपर्याय में ७५ तन्त्र, २०५ उपतन्त्र, २० कल्प, ८ संहिता, १ अर्णव, ५ कक्षपुटी, ८ चूडामणि, २ चिन्तामणि, २ उड्डालक, २ उड्डीश, २ डामर, १ यामल, ५ पुराण, ३ तत्त्व, ३ बोध, ३ विमर्षिणी तथा एक-एक संख्या के अमृत, तर्पण, कामधेनु और कल्पद्रुम ग्रन्थों की गणना होती है।

सौर कालपर्याय में ३० तन्त्र, ११४ उपतन्त्र, ४ संहिता, २ उपसंहिता, ५ पुराण, १० कल्प, २ कक्षपुटी, ३ तत्त्व, ५ विमर्षिणी, ५ चूडामणि, २ चिन्तामणि, १ डामर, १ यामल, ५ उड्डालक, २ अवतार, २ उड्डीश, ३ अर्णव तथा एक-एक संख्या के दर्पण और अमृत ग्रन्थों का समावेश है।

गाणपत्य कालपर्याय में ५० तन्त्र, २५ उपतन्त्र, २पुराण, २ अमृत, ३ सागर, ३ दर्पण, ९ कल्प, ३ कक्षपुटी, ३ विमर्षिणी, २ तत्त्व, २ उड्डालक, २ उड्डीश, ३ चूडामणि, ३ चिन्तामणि, १ डामर, १ यामल और ८ पञ्चरात्र ग्रन्थ समाविष्ट हैं।

३. आम्नायपर्याय

वहीं सप्तम पटल में इस पर्याय का वर्णन किया गया है। साथ ही प्रत्येक आम्नाय के देवताओं का भी निरूपण मिलता है। आम्नाय पर्याय के तन्त्रों की गणना वहाँ इस प्रकार बतायी गयी है—पूर्वाम्नाय में ६४ तन्त्र और ६७० उपतन्त्र हैं। दक्षिणाम्नाय में ४०० तन्त्र और ३७५ उपतन्त्र हैं। कालपर्याय के ही समान यहाँ यामल प्रभृति ग्रन्थ भी होते हैं। पश्चिमाम्नाय में ९६ तन्त्र और इतने ही उपतन्त्र होते हैं। उत्तराम्नाय में ९२५ तन्त्र तथा ३६४ उपतन्त्र होते हैं। ऊर्ध्वाम्नाय में ६४ तन्त्र और ८५ उपतन्त्र तथा पातालाम्नाय में १०५ तन्त्र और २१०० उपतन्त्र हैं। आम्नाय विभाग को दीक्षाम्नाय भी कहा जाता है। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (१.४.६७-६८) में पाँच आम्नायों का विवरण मिलता है। वहाँ बताया गया है कि केरल सम्प्रदाय का ऊर्ध्वाम्नाय में, काश्मीर का पश्चिमाम्नाय में, विलास और वैष्णव का दक्षिणाम्नाय में, चैतन्य का पूर्वाम्नाय में और गौड सम्प्रदाय का उत्तराम्नाय में समावेश किया जाता है।

४. विद्यापर्याय

विद्यापर्याय का वर्णन यहाँ (४.७.३८-४७) समयाम्नाय के नाम से किया गया है। समयाम्नाय को भी यहाँ पुन: षडाम्नाय में विभक्त कर उनके देवता आदि का वर्णन करते हुए बाद में उनके तन्त्रों और उपतन्त्रों की संख्या बतायी गयी है, जो कि इस प्रकार है—पूर्वाम्नाय में १० तन्त्र और ५ उपतन्त्र, दक्षिणाम्नाय में ८ तन्त्र और ९ उपतन्त्र, पश्चिमाम्नाय में २० तन्त्र और

८ उपतन्त्र, उत्तराम्नाय में १०० तन्त्र और ९ उपतन्त्र, ऊर्ध्वाम्नाय में २० तन्त्र और ३ उपतन्त्र, पातालाम्नाय में ९ तन्त्र और २ उपतन्त्र होते हैं।

५. दर्शनपर्याय

दर्शनपर्याय के विवरण में यहाँ (४.७.४८-५८) बताया गया है कि १००तन्त्र और ८ उपतन्त्रों से युक्त शाक्त दर्शन पूर्वाम्नाय में, ५० तन्त्र और ५ उपतन्त्रों से युक्त शैव दर्शन दक्षिणाम्नाय में, दक्षिणाचार के प्रतिपादक ३६ तन्त्र और ३६ ही उपतन्त्रों से अलंकृत वैष्णव दर्शन पश्चिमाम्नाय में, ७० तन्त्र और ३ उपतन्त्रों से मण्डित गाणपत्य दर्शन उत्तराम्नाय में, १२ तन्त्र और १० उपतन्त्रों से संयुक्त सौर दर्शन ऊर्ध्वाम्नाय में तथा १०० तन्त्र और ६३ उपतन्त्रों से राजित बौद्ध दर्शन पातालाम्नाय में प्रतिष्ठित है। उक्त विभाग हादिमत के अनुसार है। कादिमत के अनुसार शैव दर्शन पूर्व में, वैष्णव दक्षिण में, गाणपत्य पश्चिम में, सौर उत्तर में और शाक्त दर्शन ऊर्ध्वाम्नाय में प्रतिष्ठित है। यहाँ षडाम्नाय के आधार पर षड्दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (३.८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्नमस्ता के भेद से षड्दर्शनों की गणना की गयी हैं। तदनुसार शाक्त, शैव, गाणपत्य, सौर, वैष्णव और बौद्ध ये तारा के षड्दर्शन हैं। वैदिक, सौर, शाक्त, शैव, गाणपत्य और बौद्ध ये त्रिपुरा के षड्दर्शन हैं। यहाँ वैष्णव के स्थान पर वैदिक दर्शन का समावेश किया गया है। छिन्ना षड्दर्शन में चान्द्र, स्वायम्भुव, जैन, चीन और नील इन पाँच दर्शनों की ही गणना मिलती है। बौद्ध दर्शन को मिलाकर यह संख्या पूरी की जा सकती है।

६. आयतनपर्याय

आयतन पर्याय का विवरण यहाँ नहीं मिलता। केवल पञ्चायतन का उल्लेख (४.७.५३) मिलता है। पाँच उपास्य देवताओं के आयतनों (मन्दिरों) का एक स्थान पर समाहार पञ्चायतन के नाम से प्रसिद्ध है। स्मार्त धर्म में शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश में से किसी एक इष्ट देवता को मुख्य मानकर उसको मन्दिर के मध्य में तथा उसके चारों कोनों पर चार अन्य देवताओं के आयतनों की स्थापना विहित है। कृष्णानन्द के तन्त्रसार में भी इनका विवरण मिलता है। आयतन पर्याय में इन्ही की उपासना के प्रतिपादक शास्त्रों की गणना होनी चाहिये। प्रपञ्चसार और शारदातिलक ऐसे ही ग्रन्थ हैं। अथवा कादिमत

के अनुसार प्रदर्शित दर्शन पर्याय में पाँच ही दर्शन वर्णित हैं। उनका भी पञ्चायतन विभाग में समावेश किया जा सकता है। इस प्रकरण (४.७.५६-१५६, १६१-१६५) में दिव्याम्नाय, विद्याम्नाय, सिद्धाम्नाय, रत्नाम्नाय (महाम्नाय), मण्डलाम्नाय, रसातलाम्नाय, पञ्चकृत्याम्नाय, कालिकाम्नाय, बटुकाम्नाय का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। दिव्याम्नाय की दो प्रकार की व्याख्या की गयी है। वस्तुतः इनका सम्बन्ध आम्नाय पर्याय से है। पञ्चकृत्याम्नाय का वर्णन कुलार्णव तन्त्र (३.४१-४५) में भी मिलता है। इसका सम्बन्ध शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित पाँच मठों से भी है, ऐसा यहीं (४.८.७५-९२) बताया गया है।

७. आगमपर्याय

आयतन पर्याय में प्रदर्शित रत्नाम्नाय (महाम्नाय) का ही यहाँ (४.७.९३-९४) आगम पर्याय नामक अन्तिम विभाग के रूप में वर्णन है। तदनुसार चीनागम में अक्षोभ्यतन्त्र के साथ ७ तन्त्र, बौद्धागम में २१ तन्त्र और ८ उपतन्त्र, जैनागम में १६ तन्त्र और ८ उपतन्त्र, पाशुपतागम में ९ तन्त्र और ६ उपतन्त्र, कापालिकागम में १ तन्त्र और ४ उपतन्त्र, पाषण्डागम में ३ तन्त्र और ५ उपतन्त्र, पाञ्चरात्रागम में १० तन्त्र और ७ उपतन्त्र, अघोरागम में १० तन्त्र और ८ उपतन्त्र, मञ्जुघोषागम में २० तन्त्र और ३० उपतन्त्र, भैरवागम में १०० तन्त्र और ७० उपतन्त्र, बटुकागम में २०० तन्त्र और ८० उपतन्त्र, सञ्जीवन्यागम में ३ तन्त्र और ७ उपतन्त्र, सिद्धेश्वरागम में १० तन्त्र और ८ उपतन्त्र, नीलवीरागम में १७ तन्त्र, मन्त्रसिद्ध्यागम में १८ तन्त्र, मृत्युञ्जयागम में २० तन्त्र और १२ उपतन्त्र, मायाविहारागम में ३ तन्त्र और ५ उपतन्त्र, विश्वरूपागम में ९ तन्त्र और ७ उपतन्त्र, योगरूपागम में ५० तन्त्र और १० उपतन्त्र, विरूपागम में ७ तन्त्र और ८ उपतन्त्र, यक्षिण्यागम में ५ तन्त्र और ७० उपतन्त्र, निग्रहागम में १० तन्त्र और २०० उपतन्त्र विराजमान हैं।

पश्यन्ती

व्यञ्जक के प्रयत्न से संस्कृत मूलाधार स्थित पवन जब नाभि तक चला जाता है, तो उस पवन से पश्यन्ती वाक् अभिव्यक्त होती है। यह विमर्शात्मक मन से जुड़ी रहती है और इसमें कार्य बिन्दु का सामान्य स्पन्दन प्रकाशित

हो उठता है। पश्यन्ती को नाद की अनाहतहत अवस्था माना जाता है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे परा वाक् अनेक रूप धारण करने को जब उद्यत होती है, तो पहले वर्णाम्बिका का पश्यन्ती रूप अभिव्यक्त होता है। कामकलाविलासकार पुण्यानन्द (श्लो. २३-२४) ने पश्यन्ती के ग्यारह अवयव माने हैं। प्रकाशात्मक अकार की वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका नामक चार कलाएँ तथा समष्टि रूप अकार मिलकर उसके पाँच अवयव होते हैं। इसी तरह विमर्शात्मक हकार की इच्छा, ज्ञान, क्रिया और शान्ता नामक चार कलाएँ तथा समष्टिरूप हकार मिलकर पाँच अवयव होते हैं। अकार और हकार की सामरस्यावस्था पश्यन्ती का ग्यारहवाँ रूप बनती है। योगिनीहृदय (१.३७-३८) में इसको वामा शक्ति कहा गया है।

पाशाष्टक

अद्वैतवादी शाक्त दर्शन की त्रिपुरा, क्रम, कौल आदि सभी शाखाओं में पाशाष्टक की चर्चा आयी है। कुलार्णवतन्त्र (१३.९०) में इनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं— घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ८१), महार्थमञ्जरी (पृ. १४५) जैसे ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि शाक्त साधक घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा जैसे मानसिक विकृत भावों से तथा कुल, शील और जाति के संकीर्ण बन्धनों से अपने को मुक्त कर लेता है। इन पाशों से जब तक साधक बँधा रहता है, तब तक वह जीवन्मुक्त कैसे कहा जा सकता है? इस पाशमुक्त स्थिति का पूर्ण विकास किसी अघोरी बाबा में देखने को मिलता है। सहज अवस्था की प्राप्ति के लिये भी इन पाशों से मुक्त होना आवश्यक है। भारतीय और तिब्बती साहित्य में ८४ सिद्धों की चर्चा मिलती है। वे सभी इन पाशों से मुक्त महायोगी माने गये हैं।

पिंगला नाडी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त नाडियों में से तीन नाडियाँ मुख्य हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इनमें से पिंगला नाडी शरीर के दक्षिण भाग में स्थित है, जो कि सूर्यात्मक मानी जाती है। पिंगला नाडी दक्षिण मुष्क से उठकर धनुष की तरह तिरछे आकार में दाहिने

गुर्दे और हंसुली में से होती हुई दक्षिण नासिका तक गतिशील रहती है। पिंगला नाडी सितरक्त वर्ण की है। इसमें सूर्य का संचार होता है। यह ऊर्ध्वगामिनी नाडी है। ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र (श्लो. ११-१२) में पिंगला नाडी को यमुना बताया गया है। सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले जीवों को यह नाडी शुक्ल देवयान मार्ग से देवलोक में ले जाती है, जो कि अन्तत: पुनर्जन्म का कारण बनता है। इन नाडियों का शोधन किये बिना साधक कभी भी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। रेचक प्राणायाम करते समय पिंगला नाडी से ही वायु को बाहर निकाला जाता है।

पिण्ड

मालिनीविजयतन्त्र (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहाँ जीवात्मा को पिण्ड बताया गया है। पिण्ड, अर्थात् शरीर को ही जीवात्मा मानने वाला यह जीव अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध के भेद से चार प्रकार का होता है। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति के (१९.३०-४८) और शिवज्ञान के प्रसङ्ग (२०.१-७,१८-२६) में भी पिण्ड पद का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र के ग्रन्थ ज्ञानार्णव के ३४वें प्रकरण में पिण्डरूप ध्यान का वर्णन है। वहाँ इस ध्यान में पाँच प्रकार की धारणाएँ बतायी गयी हैं। योगिनीहृदय (१.४२) में वर्णित है कि कन्द, अर्थात् पिण्ड में कामरूप पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने पिण्ड, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का स्थान मूलाधार बताया है। वहीं अन्यत्र (३.६४) इसको विघ्नरूप माना है। इसीलिये ३.१३७ की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि इससे मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान (पृ. ४) पर पिण्ड का अर्थ स्थान, दूसरे स्थान (पृ. ९०) पर बद्ध आत्मा किया है। वहीं (पृ. ५३) यह भी बताया गया है कि इसके आठ भेद होते हैं।

पीठ

तन्त्रालोक (१५.८२-९६) और उसकी जयरथ कृत टीका विवेक में बताया गया है कि आन्तर और बाह्य याग की निष्पत्ति के योग्य स्थान को

पीठ कहा जाता है। पीठ भी बाह्य और आन्तर के भेद से द्विविध हैं। बाह्य पीठ की स्थिति बाहर देशविशेष में तथा आन्तर पीठ की स्थिति शरीर के भीतर स्थानविशेष में मानी गयी है। भगवान् शिव की इच्छा शक्ति ही पीठ के रूप में परिणत होती है। बाह्य और आन्तर पीठ-स्थानों में उपासना के माध्यम से साधक अपने महतो महीयान् संवित्स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकता है। यह संवित्स्वरूपा शक्ति ही पीठ के रूप में परिणत होती है। शक्तिपीठ से बिन्दुमय और नादमय पीठ की अभिव्यक्ति होती है और ये ही तीन पीठ लोक में कामरूप, पूर्णगिरि और उड्डियान के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

पीठों के अतिरिक्त उपपीठ, सन्दोह, उपसन्दोह, क्षेत्र और उपक्षेत्रों का भी इसी क्रम से प्रादुर्भाव होता है। शाम्भव, शाक्त और आणव धाम का तथा पर्वताग्र, नदीतीर और एकलिंग का प्रादुर्भाव भी इन्हीं पीठों से होता है। तन्त्रालोक में कुल मिलाकर ३३ या ३४ पीठों का वर्णन मिलता है। कौलज्ञाननिर्णय में भी इनमें से कुछ का उल्लेख है। इसी तरह से तन्त्रालोक के २९वें आह्निक में और बौद्ध सम्प्रदाय के हेवज्रतन्त्र के सप्तम पटल में भी इनका विवरण मिलता है। उक्त विभागों के अतिरिक्त यहाँ मेलापक और उपमेलापक, पीलव और उपपीलव, श्मशान और उपश्मशान के नाम से भी पीठों का विभाग वर्णित है। तन्त्रालोक और कौलज्ञाननिर्णय में तीन-तीन संख्या के क्रम से पीठ, उपपीठ आदि का वर्णन है। वहाँ जालन्धर का पीठ में अन्तर्भाव नहीं किया गया है। हेवज्रतन्त्र में चार-चार की संख्या के क्रम से ये वर्णित हैं। वहाँ जालन्धर का नाम पीठों में परिगणित है। साधनमाला नामक बौद्ध ग्रन्थ में उड्डियान, जालन्धर, कामरूप और श्रीहट्ट नामक चार पीठ उल्लिखित हैं। किन्तु अब बौद्ध तथा शैव-शाक्त सम्प्रदायों में कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्डियान नामक चार पीठ प्रसिद्ध हैं। उक्त सभी विभागों के अन्तर्गत वर्णित पीठों की संख्या ३२ से ३४ तक होती है।

योगिनीहृदय (३.३७-४३) के पीठन्यास प्रकरण में तथा प्रपञ्चसार की प्रयोगक्रमदीपिका (पृ. ५७९) में योगिनीन्यास के प्रसंग में ५१ पीठों के नाम चर्चित हैं। ज्ञानार्णव तन्त्र (१४.११४-१२३) में यद्यपि ५० ही पीठ वर्णित हैं, किन्तु भास्करराय (सेतुबन्ध, पृ. २१३) के अनुसार यहाँ भी ५१ ही पीठ मान्य हैं। शास्त्रों में वर्णित है कि विष्णु-चक्र से विच्छिन्न

सती के अंग जहाँ जहाँ गिरे, उन स्थानों की पीठ संज्ञा हो गयी। इनकी संख्या ५१ मानी जाती है।

शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट ने अष्टाष्टक, अर्थात् आठ अष्टकों के भेद से भैरव और योगिनियों के समान पीठों की संख्या भी ६४ बतायी है। वहाँ इनके नाम भी वर्णित हैं। देवीभागवत (७.३०.४४-५०) में इन पीठों की संख्या १०८ है। कुब्जिकातन्त्र के ७वें पटल में भी पीठों के शताधिक नाम हैं। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने पीठनिर्णय नामक लघुकाय ग्रन्थ के संपादन के प्रसंग में इस विषय पर विशद विचार प्रस्तुत किये हैं। इसके लिये 'दी शाक्त पीठाज्' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

महार्थमञ्जरीकार (पृ. ८३,९५) इस शरीर को ही पीठ मानते हैं। यह स्थूल पीठ है। वृन्दचक्र सूक्ष्म पीठ और पञ्चवाह पर पीठ है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से पीठ त्रिविध है। इस त्रिविध श्रीपीठ पर इष्टदेव की उपासना की जाती है (पृ. ८३-९६)।

ओड्याण पीठ

योगिनीहृदय (१.४१) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक शान्ता और अम्बिका शक्ति के सामरस्य से ओड्याण पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में रूपातीत, निरञ्जन, चिन्मय तत्त्व, अर्थात् चिन्मयता की अभिव्यक्ति का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। यह तेजस्तत्त्वात्मक है। इसका आकार त्रिकोणात्मक है। यह रक्त वर्ण का है। यह पीठ चिन्मय है। इसमें पर लिंग अवस्थित है। इस पीठ की बाह्य स्थिति के विषय में विवाद है। कुछ लोग उड़ीसा में तथा अन्य कश्मीर में इसकी स्थिति मानते हैं। इस पीठ में भगवती त्रिपुरसुन्दरी निवास करती हैं, अतः अन्तिम पक्ष ही उचित प्रतीत होता है। सिद्ध परम्परा में कश्मीर को मेधा पीठ कहते हैं।

कामरूप पीठ

योगिनीहृदय (१.४१) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक ज्ञाना और ज्येष्ठा शक्ति के सामरस्य से कामरूप पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में कन्द, पिण्ड, कुण्डलिनी के निवास स्थान मूलाधार में है, जो कि सुषुम्णा नाडी का भी मूल स्थान है। यह पृथिवीतत्त्वात्मक है।

इसका आकार चतुरस्र और वर्ण पीत है। यह पीठ मनोमय है। इसमें स्वयम्भू लिङ्ग अवस्थित है। कामरूप पीठ ही कामाख्या पीठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। कालिकापुराण जैसे ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

जालन्धर पीठ

योगिनीहृदय (१.४१) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक क्रिया और रौद्री शक्ति के सामरस्य से जालन्धर पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में रूप, बिन्दु, अर्थात् भ्रूमध्य में है। यह जलतत्त्वात्मक है। इसका आकार अर्धचन्द्र सदृश है। यह श्वेत वर्ण का है। यह पीठ अहंकारमय है। इसमें बाण लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। इस पीठ की अधिष्ठात्री देवी वज्रेश्वरी है। कांगड़ा में इस देवी का मन्दिर है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने श्रीशम्भुनाथ के नामोल्लेख के प्रसङ्ग में उसे जालन्धर पीठ का गुरु बताया है (तं०आ०वि०, खं. १, पृ. २३६)। चम्बा के संग्रहालय में 'जालन्धरपीठदीपिका' नामक पाण्डुलिपि विद्यमान है। तदनुसार जालन्धर पीठ का केन्द्र कांगड़ा में (वज्रेश्वरी स्थान) है और उसका विस्तार ज्वालामुखी, वैजनाथ (तारा), हडसर (बाला) और त्रिलोकनाथपुर तक है।

पूर्णगिरि पीठ

योगिनीहृदय (१.४१) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक इच्छा और वामा शक्ति के सामरस्य से पूर्णगिरि पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में पद, हंस, अर्थात् प्राण के उद्भवस्थल हृदय में है। यह वायुतत्त्वात्मक है। इसका आकार वृत्ताकार स्थापित छ: बिन्दुओं से बनता है। यह धूम्र वर्ण का है। यह पीठ बुद्धिमय है। इसमें इतर लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। कुछ लोग अल्मोड़ा के पास इस पीठ की स्थिति मानते हैं और अन्य कोल्हापुर स्थित महालक्ष्मी पीठ को ही उक्त नाम देते हैं। पूर्णगिरि पीठ की अधिष्ठात्री देवी भगमालिनी है। तदनुसार ही इस पीठ की बाह्य स्थिति निश्चित होनी चाहिये।

पीठ विभाग

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने अपने ग्रन्थ 'स्टडीज इन दी तन्त्राज' (पृ. ३) में ब्रह्मयामल के प्रमाण पर तन्त्रशास्त्र को विद्यापीठ, मन्त्रपीठ, मुद्रापीठ और

मण्डलपीठ नामक चार विभागों में बाँटा है। भैरवाष्टक और यामलाष्टक का अन्तर्भाव विद्यापीठ में, योगिनीजाल, योगिनीहृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारीचि, महामारी, उग्रविद्या, गणतन्त्र आदि का भी विद्यापीठ में और वीरभैरव, चण्डभैरव, गुडकाभैरव, महाभैरव, महावीरेश का मुद्रापीठ में समावेश बताया गया है। जयद्रथयामल विद्यापीठ से सम्बद्ध तन्त्र है, किन्तु स्वच्छन्दतन्त्र को चतुष्पीठ महातन्त्र कहा गया है। इसका अभिप्राय यह निकाला जा सकता है कि स्वच्छन्दतन्त्र में उन सभी विषयों का समावेश है, जिनका कि वर्णन उक्त चतुर्विध तन्त्रों में मिलता है।

नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका में उद्धृत सङ्केतपद्धति के एक वचन में ओड्याण, पूर्णगिरि, जालन्धर और कामरूप पीठ को क्रमशः आज्ञापीठ, मन्त्रपीठ, विद्यापीठ और मुद्रापीठ बताया गया है। इससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि उक्त चतुर्विध तन्त्रों का आविर्भाव इन चतुर्विध पीठों में हुआ था। तन्त्रालोक के २९ वें आह्निक (पृ. ११४) में भी उक्त चार पीठों में विभक्त शास्त्रों की चर्चा आयी है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शैव और वैष्णव आगम ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग नामक विभागों में विभक्त हैं, उसी तरह से शाक्त आगम भी विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल विभागों में विभक्त थे, अर्थात् उन उन शैव, वैष्णव और शाक्त आगमों में उक्त विषयों का प्रतिपादन किया गया था। तन्त्रालोक (३७.२४-२५) में यह भी बताया गया है कि विद्यापीठ विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों में मालिनीविजयोत्तर तन्त्र प्रधान है।

पुर्यष्टक

योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ६८,२८४,३०२) में चिति, चित्त, चैतन्य, चैतनाद्वय, कर्म, जीव, कला और शरीर को सूक्ष्म पुर्यष्टक बताया गया है। स्पन्दकारिका (श्लो. ४९) में पञ्चतन्मात्रा, मन, अहंकार और बुद्धि की समष्टि को पुर्यष्टक कहा गया है। भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश के टीकाकारों ने (पृ. ३७-३९) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि और अहंकार को पुर्यष्टक बताया है। मतान्तर में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण को पुर्यष्टक माना गया है। अन्य आचार्य कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण-चतुष्टय, प्राणादिपञ्चक, तन्मात्रपञ्चक, काम, कर्म और अविद्या

का समावेश पुर्यष्टक में करते हैं। अन्य व्याख्याकार सर्ग से लेकर कल्पान्त या मोक्षान्त तक स्थायी, प्रत्येक पुरुष के लिये नियत, पृथिवी से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त त्रिंशत्तत्त्वात्मक असाधारण स्वरूपवाले सूक्ष्म देह को पुर्यष्टक मानते हैं। सांख्यसम्मत सूक्ष्म शरीर से इसकी तुलना की जा सकती है।

पूजा

महार्थमञ्जरी (पृ. १०६), चिद्गगनचन्द्रिका (श्लो. ७३) जैसे क्रम दर्शन के ग्रन्थों में पूजा के चार प्रकार बताये गये हैं। वे हैं—चार, राव, चरु और मुद्रा। चार, चरु और मुद्रा शब्दों को यहाँ क्रमशः आचारविशेष, द्रव्यविशेष और शरीर के अवयवों की विशेष प्रकार की स्थिति अथवा विशेष प्रकार के वेश को धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। ये तीनों क्रमशः राव के ही पोषक हैं। राव ही यहाँ प्रधान है। विमर्श अथवा अपनी आत्मशक्ति के साक्षात्कार को ही यहाँ राव कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति ही परम पूजा है। कुछ आचार्य निजबलनिभालन के नाम से इसका वर्णन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि साधक के अपने हृदय की स्फुरत्ता ही परमेश्वर या इष्टदेवता है। अपने इस स्वरूप की सतत अपरोक्ष (साक्षात्) अनुभूति ही निजबलनिभालन के नाम से अभिहित है। इस आत्मविमर्श का ही नामान्तर जीवन्मुक्ति है।

योगिनीहृदय (२.२-४) में परा, परापरा और अपरा के भेद से पूजा के तीन प्रकार बताये गये हैं। इनमें परा पूजा सर्वोत्तम है। यह बाह्य पत्र, पुष्प आदि से सम्पन्न नहीं होती, किन्तु अपने महिमामय स्वात्मस्वरूप अद्वय धाम में प्रतिष्ठित होना ही परा पूजा है। इस परा पूजा का निरूपण विज्ञानभैरव, सङ्केतपद्धति आदि ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है।

प्रकाश-विमर्श

शैव और शाक्त अद्वैतवादी दार्शनिक प्रकाश शब्द को शिव तथा विमर्श पद को शक्ति का वाचक मानते हैं। इन दोनों शब्दों का विवेचन सभी शैव और शाक्त ग्रन्थों में मिलता है। शब्द और अर्थ की तरह, पार्वती और परमेश्वर की तरह प्रकाश और विमर्श की भी स्थिति यामलभाव में ही रहती है। ये सदा साथ रहते हैं। वस्तुतः शब्द-अर्थ, पार्वती-परमेश्वर और प्रकाश-विमर्श

शब्द पर्यायवाची हैं। अर्धनारीश्वर रूप में भगवान् शिव जैसे सतत यामलभाव में रहते हैं, वैसे ही प्रारम्भ में प्रकाश और विमर्श की स्थिति सामरस्य अवस्था में रहती है। इसीको समावेश दशा भी कहते हैं। समावेश दशा में जीव में परिमित प्रमाता का भाव गौण हो जाता है और वह अपने को स्वतन्त्र, बोधस्वरूप समझने लगता है, किन्तु शिव और शक्ति का यह समावेश (सामरस्य) प्रपञ्च के उन्मेष के लिये होता है। जीव जिस तरह शिवभाव में समाविष्ट होता है, उसी तरह से शिव और शक्ति का यह यामलभाव भी प्रपञ्च के रूप में समाविष्ट हो जाता है, प्रपञ्च के रूप में दिखाई देने लगता है। प्रकाश ज्ञान है और विमर्श क्रिया। इस पारमेश्वरी क्रिया से सतत आविष्ट परम तत्त्व सदैव सृष्टि-संहार आदि लीलाओं के प्रति उन्मुख बना रहता है और वैसे बना रहना ही उसकी परमेश्वरता है। अन्यथा वह शून्य गगन की तरह जड़ होता।

प्रणव कला

प्रणव की बारह कलाओं का विवेचन स्वच्छन्दतन्त्र (४.२५४-२८६) के एकादशपदिका प्रकरण में और नेत्रतन्त्र के २१ वें अधिकार (पृ. २८५-२९६) में मिलता है। विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने ४२ वें श्लोक की व्याख्या में बताया है कि अकार की नाभि में, उकार की हृदय में, मकार की मुख में, बिन्दु की भ्रूमध्य में, अर्धचन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ललाट के ऊर्ध्व भाग में, नाद की शिर में, नादान्त की ब्रह्मरन्ध्र में, शक्ति की त्वक् में, व्यापिनी की शिखा के मूल में, समना की शिखा में और उन्मना की स्थिति शिखा के अन्तिम भाग में हैं। इनमें से बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त नौ कलाओं का प्रणव के समान कामकला आदि बीजाक्षरों, नवात्म आदि पिण्ड- मन्त्रों तथा ह्रींकार (शाक्त प्रणव), हूंकार (शैव प्रणव) जैसे बीज मन्त्रों के उच्चारण में भी होता है। योगिनीहृदय के ''दीपाकारोऽर्धमात्रश्च'' से लेकर ''तथोन्मनी निराकारा'' (१.२८-३५) पर्यन्त श्लोकों में इनका आकार, स्वरूप, उच्चारणकाल और स्थान वर्णित हैं। योगिनीहृदय के आधार पर यह विषय वरिवस्यारहस्य में भी प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ के (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास) संस्करण के अन्त में दिये गये एक चित्र में इनके आकार को दिखाया गया है।

योगिनीहृदय के अनुसार बिन्दु का स्वरूप दीपक के समान प्रभास्वर है। ललाट में गोल बिंदी के रूप में इसकी भावना की जाती है और इसका उच्चारण

काल अर्धमात्रा है। ''अर्धमात्रास्थिता'' (१.७४) जैसे दुर्गासप्तशती के श्लोक की व्याख्या (गुप्तवती) में भास्करराय ने ''अनुच्चार्या अर्धचन्द्रनिरोधिन्यादिध्वन्यष्टकरूपा'' ऐसा कहकर अर्धमात्रा में ही सबकी स्थिति मानी है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल 'मात्रा' कहलाता है। इसका आधा काल बिन्दु के उच्चारण में लगता है। अर्धचन्द्र का आकार बिन्दु के आधे भाग के जैसा होता है। दीपक के समान प्रभास्वर स्वरूप के अर्धचन्द्र की भावना बिन्दु स्थान ललाट में ही कुछ ऊपर की ओर की जाती है। इसका उच्चारण काल मात्रा का चतुर्थ भाग है। निरोधिका (निरोधिनी) का आकार तिकोना है। यह चाँदनी के समान चमकता है। इसका उच्चारण काल मात्रा का आठवाँ भाग है। उज्ज्वल मणि के समान कान्ति वाले नाद का आकार दो बिन्दु और उसके बीच में खिंची सीधी रेखा के समान है। इसका उच्चारण काल मात्रा का सोलहवाँ भाग है। विद्युत् के समान कान्ति वाले नादान्त का आकार हल सरीखा है और इसकी बाई तरफ एक बिन्दु रहता है। इसका उच्चारण काल मात्रा का बत्तीसवाँ भाग है। दो बिन्दुओं में से बायें बिन्दु से एक सीधी रेखा खींचने पर शक्ति की आकृति बनती है। व्यापिका (व्यापिनी) का आकार बिन्दु के ऊपर बने त्रिकोण का सा है। एक सीधी रेखा के ऊपर और नीचे बिन्दु बैठा देने से समना का और एक बिन्दु के ऊपर सीधी रेखा खीचने से उन्मना का आकार बनता है। शक्ति से लेकर समना पर्यन्त कलाओं का स्वरूप द्वादश आदित्यों के एक साथ उदित होने पर उत्पन्न हुए प्रकाश के समान है। शक्ति का उच्चारण काल मात्रा का ६४ वाँ भाग, व्यापिका का १२८ वाँ भाग, समना का २५६ वाँ भाग और उन्मना का ५१२ वाँ भाग होता है। अन्य आचार्यों के मत से उन्मना कला मन से अतीत होती है। अतः इसका कोई आकार नहीं होता। विज्ञानभैरव के ४२ वें श्लोक में 'शून्या' शब्द से उन्मनी का बोध कराया गया है।

माण्डूक्यकारिका (१.२९) में प्रणव (ॐकार) को अमात्र और अनन्तमात्र कहा गया है। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने बताया है कि तुरीयावस्थापन्न ॐकार अमात्र माना जाता है और अन्य अवस्थाओं में इसकी अनन्त मात्राएँ होती हैं। इन्हीं मात्राओं का तन्त्रशास्त्र में प्रणव कला के रूप में वर्णन है। निष्कल, निष्कलसकल और सकल के भेद से भी योगिनीहृदय (१.२७-२८) जैसे ग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है।

प्रमाता

शैव और शाक्त दर्शन में प्रमाता के सात भेद किये गये हैं। ये हैं—शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शिव और शक्ति तत्त्व मिलकर शिवप्रमाता का रूप धारण करते हैं। इसकी स्थिति राजा के समान है। सदाशिव मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर मन्त्रेश्वर और शुद्धविद्या मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी स्थिति अधिकारी राजपुरुष की सी है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल जीवों पर ये शिवप्रमाता रूपी राजा के प्रतिनिधि होकर शासन करते हैं। मायीय, कार्म और आणव—ये तीन प्रकार के मल माने गये हैं। इनमें से मायीय मल से आवृत विज्ञानाकल, दो मलों से आवृत प्रलयाकल और तीनों मलों से आवृत सकल प्रमाता कहे जाते हैं। ये सभी भेद परिमित प्रमाता के हैं। प्रथम चार भेद शुद्ध सृष्टि के और अन्तिम तीन अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत हैं। अशुद्ध सृष्टि के प्रमाताओं को ही अपने मलीय आवरणों को हटाने के लिये उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

विरूपाक्षपञ्चाशिका की ४१-४४ कारिकाओं में अप्रबुद्ध, प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प और सुप्रबुद्ध नामक पाँच प्रकार के प्रमाताओं का विवेचन किया गया है। स्पन्दकारिका (श्लो. १७, १९-२०, २५,४४) में भी अप्रबुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध प्रमाताओं का स्वरूप वर्णित है।

प्राण कुण्डलिनी

अनच्क कला और आणव उपाय की व्याख्या के प्रसंग में प्राण शक्ति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इसको कुण्डलिनी इसलिये कहते है कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति हकार की लिखावट की तरह टेढी-मेढी होती है। अतः प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है। प्राणशक्ति की यह वक्रता (कुटिलता = घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का ही खेल है। प्राणशक्ति का एक लपेटा वाम नाडी इडा में और दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है। इस तरह से उसके दो वलय (घेरे) बनते हैं। सुषुम्णा नाम की मध्यनाडी सार्ध कहलाती है। इस प्रकार यह प्राणशक्ति भी सार्धत्रिवलया

है। वस्तुत: मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राणशक्ति का भी निवास है, किन्तु हृदय में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से उसका यहाँ पृथक् उल्लेख कर दिया गया है। इसका प्रयोजन अजपा(हंसगायत्री)-जप को सम्पन्न करना है। इस विषय पर विज्ञानभैरव के १५१ वें श्लोक की व्याख्या में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

भर-पेट भोजन-पानी प्राप्त करने से मोटी अक्ल के आरामतलबी आदमी का शरीर ही नहीं, प्राणशक्ति भी मोटी हो जाती है। बाद में सद्गुरु का उपदेश पाकर जब वह योगाभ्यास में लग जाता है, कुम्भक आदि प्राणायामों का अभ्यास करता है, तो धीरे-धीरे उसके शरीर के मोटापे के साथ ही प्राणशक्ति भी कृश होती जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। श्रोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, उपस्थ जैसे प्राण और अपान आदि वायुओं के निकलने के मार्गों को रोक देने पर वायु की गति ऊपर की ओर उठने लगती है। मूलाधार अथवा हृदय में विद्यमान प्राणशक्ति यौगिक पद्धति के अनुसार सुषुम्णा मार्ग से अथवा मध्यदशा के विकास के कारण द्वादशान्त तक जाते-जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त में प्रकाश में विलीन हो जाती है। आधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त क्रमश: धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठ रही इस प्राणशक्ति के द्वादशान्त में प्रविष्ट हो जाने पर स्वात्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है। योगशास्त्र की परिभाषा में इसको पिपीलिकास्पर्श वेला कहा जाता है, जिसमें कि प्राण के ऊपर उठते समय जन्माग्र से लेकर मूल, कन्द आदि स्थानों का स्पर्श होने पर उसी तरह की अनुभूति होती है, जैसी कि देह पर चींटी के चलने से होती है। इसी अवस्था में योगी इसकी परीक्षा कर पाते हैं कि प्राण आज अमुक स्थान से चल कर अमुक स्थान तक उठा। इस स्थिति तक पहुँच जाने पर योगी का चित्त परम आनन्द से भर जाता है और वह इसी अन्तर्मुख वृत्ति में रम जाता है।

प्राणापान

ऊपर हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक जाने वाला प्राण और नीचे बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान, यह प्राणशक्ति का उच्चारण है। प्राणशक्ति इनका निरन्तर उच्चारण करती रहती है, अर्थात् प्राण और अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती है। स्वच्छन्दतन्त्र (७.२५-२६)

में प्राण और अपान को प्राणशक्ति का विसर्ग और आपूरण व्यापार बताया गया है। तदनुसार प्राण का अर्थ है श्वास छोड़ना और अपान का अर्थ है श्वास लेना। पालि बौद्ध वाङ्मय में इसके लिये आनापान (आश्वास-प्रश्वास) शब्द प्रयुक्त है। किन्तु वहाँ इनके अर्थ के विषय में विवाद है। आचार्य नरेन्द्रदेव अपने ग्रन्थ "बौद्ध-धर्मदर्शन" में आश्वास-प्रश्वास शब्द पर टिप्पणी करते हैं—विनय की अर्थकथा के अनुसार 'आश्वास' श्वास छोड़ने को और 'प्रश्वास' श्वास लेने को कहते हैं। लेकिन सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उलटा है। आचार्य बुद्धघोष विनय की अर्थकथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि बालक माता की कोख से बाहर आता है, तो पहले भीतर की हवा बाहर निकलती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। तदनुसार 'प्रश्वास' वह वायु है, जिसका निःसारण होता है और 'आश्वास' वह वायु है, जिसका कि ग्रहण होता है। सूत्र की अर्थकथा में किया गया अर्थ पातञ्जल योगसूत्र के व्यासभाष्य के अनुसार हैं। योगभाष्य (पृ. ८१) में वायु के आचमन (ग्रहण) को श्वास और निःसारण को प्रश्वास बताया गया है।

विज्ञानभैरव के "ऊर्ध्वे प्राणः" आदि श्लोक में प्राण और अपान शब्द का बुद्धघोष प्रदर्शित अर्थ ही स्वीकृत है। ऊर्ध्व और अधः शब्द का अर्थ पहले और बाद में किया जाना चाहिये। पहले प्राण बाहर निकलता है और बाद में अपान का प्रवेश होता है। अपान को जीव इसलिये कहा जाता है कि प्राण के बाहर निकलने के बाद अपान जब शरीर में पुनः प्रविष्ट होता है, तभी यह बोध हो सकता है कि शरीर में जीवात्मा विद्यमान है। अपान के प्रवेश न करने पर शरीर शव कहा जायगा। अपान के कारण ही शरीर में जीवात्मा की स्थिति बनी रहती है, अतः स्वाभाविक है कि अपान को जीव के नाम से जाना जाय।

स्वच्छन्दतन्त्र (७.२५-२६) भी इसी स्थिति को मान्यता देता है। भगवद्गीता (५.२७) की श्रीधरी टीका में प्राण और अपान के लिये उच्छ्वास और निश्वास शब्द प्रयुक्त है। लोकव्यवहार में सङ्केत (शक्ति = समय) के अनुसार शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। कभी कभी वे परस्पर विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगते हैं। जैसा कि प्राण और अपान तथा उनके पर्यायवाची श्वास-प्रश्वास शब्दों के विषय में देखने को मिलता है। इन शब्दों का हृदयस्थित प्राण वायु

और वायुस्थित अपान वायु से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्राणशक्ति की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से ही इनका सम्बन्ध है। प्राणशक्ति की प्राण, अपान आदि पाँच या दस वृत्तियाँ भी इनसे भिन्न हैं।

प्राणायाम

प्राण की पूरक, कुम्भक और रेचक अवस्थाएँ स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील रहती हैं। हृदयस्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अङ्गुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। यह बाह्य आकाश योगशास्त्र में बाह्य द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। प्राण की इस स्वाभाविक गति को रेचक कहते हैं। बाह्य द्वादशान्त में अपान का उदय होता है और नासिका मार्ग से चलकर यह हृदयस्थित कमलकोश में विलीन हो जाता है। अपान की यह स्वाभाविक आन्तर गति पूरक कही जाती है। प्राण बाह्य द्वादशान्त में और अपान हृदय में क्षण मात्र के लिये स्थिर होकर बैठता है। यही प्राण की कुम्भक अवस्था है। बाहर और भीतर दोनों स्थलों में निष्पन्न होने से इसके बाह्य और आन्तर ये दो भेद होते हैं। इस तरह से प्राणशक्ति की ये चार क्रियाएँ बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील हैं। अर्थात् प्राण और अपान की यह चतुर्विध गति पुरुष के प्रयत्न के बिना निरन्तर स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। पुरुष जब अपने विशेष प्रयत्न से मध्यदशा के विकास के द्वारा क्रमशः अथवा एकदम इसकी गति को रोकता है, इस पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है, तो प्राण और अपान की गति की यह अवरोध प्रक्रिया योगशास्त्र में प्राणायाम के नाम से जानी जाती है।

तन्त्रशास्त्र में भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा की विधियाँ प्रसिद्ध हैं। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" स्वयं देवता बनकर इष्टदेव की आराधना करे, इस विधिवाक्य के अनुसार साधक अपने देह में स्थित पापपुरुष का, मल का शोष और दाह सम्पन्न कर देवत्वभावना को आप्यायित करता है। वायु बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम का अभ्यास करने से शोषण, अर्थात् मल का नाश हो जाता है। अग्नि बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम का अभ्यास करने से दाह, अर्थात् वासनाओं का उच्छेद हो जाता है। सलिल बीज के उच्चारण के साथ

प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर आप्यायित हो उठता है, ज्ञानरूपी अमृत से नहाकर पवित्र हो जाता है, देवतामय बन जाता है। इस प्रकार शोषण, दाहन और आप्यायन की सम्पन्नता के लिये भी प्राणायाम की उपयोगिता तन्त्रशास्त्र में मानी गयी है।

बटुक

शक्तिसङ्गमतन्त्र के प्रथम खण्ड के बारहवें पटल में बताया गया है कि भूत, प्रेत, वेताल आदि जप, पूजा आदि में विघ्न उपस्थित कर दिया करते हैं। भक्तों के कल्याण के लिये देवी ने बटुक का प्रादुर्भाव किया, जो कि इन विघ्नों को दूर भगा देते हैं। योगिनी, विद्या, भैरव तथा अनन्तकोटि मन्त्रों के तेज:पुञ्ज से बटुक का आविर्भाव हुआ। साक्षात् भगवान् शिव ही बटुक का रूप धारण कर वेताल आदि के उपद्रवों को शान्तकर भक्तों की रक्षा करते हैं। बटुक के प्रसाद से ही सारी विद्याएँ और शाबर आदि मन्त्र फलद होते हैं। इनकी कृपा के बिना कोई भी विद्या अथवा मन्त्र सिद्ध नहीं होते। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी बटुक की तिथि मानी जाती है। इसी दिन इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इसीलिये बटुक की जयन्ती के रूप में इसको मान्यता प्राप्त है। हेतु, त्रिपुरान्तक, वह्निवेताल, अग्निजिह्व, काल, कराल, एकपाद, भीम, त्रैलोक्यसिद्ध और बटुक के भेद से ये दशविध माने गये हैं। शक्ति की उपासना में गणपति, बटुक, योगिनी और क्षेत्रपाल की पूजा अनिवार्य है।

बन्ध-मोक्ष

अद्वैतवादी तान्त्रिक दार्शनिकों के मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। ये मात्र विकल्प के व्यापार हैं। **विकल्प** शब्द की व्याख्या अलग से की गयी है। इस दर्शन में वस्तुत: जब बन्ध की ही कोई स्थिति नहीं है, तब मोक्ष की चर्चा कहाँ से उठेगी और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। चिदानन्दात्मक स्वस्वरूप का परामर्श ही आत्मा का स्वभाव है। इसी को मोक्ष भी कहा जाता है। यह स्वभाव अपूर्णता ख्याति रूप आणव मल से जब आवृत हो जाता है, तो इसी को बन्ध कह देते हैं। ज्ञानदान और पापक्षपण लक्षण दीक्षा से जब मल अपसारित हो जाता है, तो गुरु के कृपा-कटाक्ष से शिष्य पुन: स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, इसी को मोक्ष कहते

हैं। इस दर्शन में वेदान्त आदि दर्शनों के समान ऐहिक और आमुष्मिक भोगों से विरक्ति को आवश्यक नहीं माना गया है। इस दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें भोग और मोक्ष की समरसता प्रतिपादित है। इसकी अनुभूति जीवन्मुक्ति दशा में होती है।

बिन्दु

प्रपञ्चसार, शारदातिलक, रत्नत्रय जैसे ग्रन्थों में नाद और बिन्दु को शिव और शक्ति से उसी तरह से अभिन्न माना गया है, जैसे कि प्रकाश और विमर्शात्मक शिव तथा शक्ति से शब्द और अर्थ को अभिन्न माना गया है। प्रणव की १२ कलाओं में भी बिन्दु और नाद की स्थिति है। आगम और तन्त्र की विभिन्न शाखाओं में नाद और बिन्दु की अपनी-अपनी व्याख्याएँ हैं।

त्रिपुरा दर्शन (योगिनीहृदय १.२७-२८) में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के निष्कल स्वरूप की स्थिति महाबिन्दु में मानी गयी है। कामकलाविलास में बताया गया है कि विमर्श (शक्ति) रूपी दर्पण में परमशिव रूपी प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, तो वह चित्तमय कुड्य (भित्ति) में महाबिन्दु के रूप में प्रतिफलित होता है। इसको कामबिन्दु भी कहा जाता है। आगे चलकर शिव और शक्ति के प्रतीक शुक्ल और रक्त बिन्दु का उन्मेष होता है, जो कि शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि के जनक हैं। दो होने से इन बिन्दुओं को विसर्ग कहा जाता है। कालक्रम से उक्त दोनों बिन्दु मिलकर समरस हो जाते हैं और उससे मिश्र बिन्दु का आविर्भाव होता है। यह हार्धकला के नाम से प्रसिद्ध है। काम बिन्दु, विसर्ग और हार्धकला मिल कर कामकला नामक पदार्थ की रचना करते हैं। इसी से सारे जगत् की सृष्टि होती है।

बिन्दु शब्द की व्याख्या अक्षरबिन्दु, कारणबिन्दु, कार्यबिन्दु शब्दों की परिभाषा के अन्तर्गत भी देखी जा सकती है।

बीजत्रय

गायन्त्री मन्त्र में जैसे तीन पाद है, उसी तरह से श्रीविद्या में तीन कूट अथवा बीज हैं। इनके नाम हैं—वाग्भव, कामराज और शक्ति। प्रत्येक कूट या बीज के अन्त में स्थित हल्लेखा में कामकला की स्थिति मानी जाती है। योगिनीहृदय (३.१७२-१७६) में इसकी १२ कलाओं का वर्णन किया गया

है। उक्त तीन कूटों या बीजों में क्रमश: आधार, हृदय और भ्रूमध्य स्थित वह्नि, सूर्य और सोम नामक कुण्डलिनियों में से प्रत्येक में श्रीचक्र के तीन तीन चक्रों की भावना की जाती है। प्रथम बीज की हृल्लेखा में विद्यमान कामकला की अंगभूत सपरार्ध (हार्ध) कला वह्निकुण्डलिनी, द्वितीय बीज की हार्धकला सूर्यकुण्डलिनी और तृतीय बीज की सपरार्ध कला सोमकुण्डलिनी कहलाती है। वाग्भव बीज का हृदय तक और कामराज बीज का भ्रूमध्य तक उच्चारण होता है। शक्ति बीज में सभी १२ कलाओं का उच्चारण हो सकता है। वाग्भव सृष्टिबीज और कामराज स्थितिबीज है। अत: इनका उच्चारण विश्वातीत उन्मनी पर्यन्त नहीं हो सकता। नित्याषोडशिकार्णव, योगिनीहृदय आदि ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में यह विषय विस्तार से वर्णित है।

वाग्भव बीज

ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. ९७-९९) ने बिन्दुसहित अनुत्तर अकार को भी वाग्भव बीज बताया है। यह सारा विश्व अनुत्तर तत्त्व का ही प्रसार है। यह त्रिपुरा विद्या का प्रथम बीज है। वाग्भव बीज का समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (१.१११-११२) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. १९४) वाग्भव बीज को वैखरी वाणी का विलास मानते हैं। यह ज्ञानशक्ति का प्रतीक है और इसकी उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। (पृ. २१६)। इसका समुद्धार जिह्वा के अग्र भाग में किया जाता है, अर्थात् इसकी आराधना से जिह्वा में सरस्वती का सतत निवास रहता है। नित्याषोडशिकार्णव (४.२१-३३) में वाग्भव बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल वर्णित है। अर्थरत्नावली (पृ. २३०-२३१) में बताया गया है कि वाग्भव बीज की उत्पत्ति मूलाधार में होती है, मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इसकी व्याप्ति रहती है और जिह्वा का अग्र भाग इसकी विश्रान्ति का स्थान है। यहीं (पृ. २७१) वाग्भव बीज के साधन के प्रसङ्ग में होम और उसके लिये उपयोगी सामग्री का वर्णन मिलता है। सौभाग्यसुधोदय (२.८) में इसे पूर्वाम्नाय का प्रतीक कहा है। तन्त्रशास्त्र में एकादश स्वर एकार को भी वाग्भव बीज कहा जाता है।

कामराज बीज

यह त्रिपुरा विद्या का द्वितीय बीज है। इस बीज का भी समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (१.११३-११६) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार

(पृ. १९४) कामराज बीज को मध्यमा वाणी का विलास मानते हैं। यह क्रियाशक्ति का प्रतीक है और इसकी उपासना से काम नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है (पृ. २१६)। नित्याषोडशिकार्णव (४.३४-४६) में ही कामराज बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल भी वर्णित है। अर्थरत्नावली (पृ. २४७) में इस बीज की उत्पत्ति मूलाधार में, व्याप्ति भ्रूमध्यान्त तक तथा विश्रान्ति ब्रह्मरन्ध्र में मानी गयी है। ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. ९७-९९) ने बिन्दु सहित आनन्दात्मक आकार को भी कामराज बीज माना है। धर्माचार्य ने लघुस्तव में कामराज बीज के निष्कल और सकल दो रूपों का वर्णन किया है। सानुस्वार चतुर्थ वर्ण को ही मूलत: निष्कल बीज कहा है। वही सकल भी बन जाता है। दोनों रूपों में उसकी उपासना की जाती है।

शक्ति बीज

यह त्रिपुरा विद्या का तृतीय बीज है। इस बीज का समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (१.११६-११८) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. १९४) शक्ति बीज को पश्यन्ती वाणी का विलास मानते हैं। यह इच्छाशक्ति का प्रतीक है और इसकी सहायता से साधक परमशिव के साथ सामरस्य लाभ कर सकता है (पृ. २१६-२१७)। नित्याषोडशिकार्णव (४.४७-५७) में ही शक्ति बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल वर्णित है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. २१७) ने बताया है कि इसकी उपासना से सभी प्रकार के विषों से मुक्ति मिल जाती है। उक्त तीनों बीजों की व्यस्त और समस्त रूप में भी उपासना की जा सकती है। इस बीज के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन परात्रीशिका शास्त्र के ''तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि'' इस पद्य में किया गया है।

भाव

सात प्रकार के आचारों के समान ही तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में त्रिविध भावों का भी विशद वर्णन मिलता है। ये हैं—पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव। जन्मकाल से सोलह वर्ष तक पशुभाव, इसके बाद पचास वर्ष तक वीरभाव और पचास वर्ष के पश्चात् मनुष्य दिव्यभाव में रहता है। भावत्रय से अन्तत: भावैक्य की सिद्धि होती है। ऐक्यभाव से साधक कुलाचार में प्रतिष्ठित होता है और इस कुलाचार के द्वारा ही मानव देवमय बन पाता है। भाव एक मानस

धर्म है। मन ही मन सर्वदा उसका अभ्यास किया जाता है। दिव्य और वीर ये दो महाभाव है, पशुभाव अधम है। वैष्णव को पशुभाव से पूजा करनी चाहिये। शक्ति-मन्त्र में पशुभाव भीतिजनक है। दिव्य और वीरभाव में वस्तुतः अन्तर नहीं है, किन्तु वीरभाव अति उद्धत है। रुद्रयामल में बताया गया है कि पशुभाव स्थित साधक किसी एक सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, किन्तु कुलमार्ग, अर्थात् वीरभाव स्थित योगी अवश्य ही सब प्रकार की सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है। महाविद्याओं के प्रसन्न होने पर ही वीरभाव की प्राप्ति होती है और वीरभाव के प्रसार से ही दिव्यभाव प्रकट होता है। वीरभाव और दिव्यभाव को ग्रहण करने वाले साधक वाञ्छाकल्पतरुलता के स्वामी हो जाते हैं, अर्थात् जब जो चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं।

दिव्यभाव

कुब्जिकातन्त्र आदि में दिव्यभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि यह विश्व देवतामय है। समस्त जगत् स्त्रीमय और पुरुष एकमात्र भगवान् शिव हैं। इस प्रकार अभेदभाव से जो चिन्ता करता है, वह देवतात्मक या दिव्य है। उसको चाहिये कि नित्य स्नान, नित्य दान, त्रिकाल सन्ध्या, जप-पूजा, निर्मल वसन परिधान, वेदशास्त्र, गुरु और देवता में दृढ आस्था, मन्त्र और पितृपूजा में अटल विश्वास, बलिदान, श्राद्ध और नित्य कर्म का नियमित आचरण करे। शत्रु-मित्र में समभाव रखते हुए अन्य किसी के अन्न को ग्रहण न करे। शरीर-यात्रा के लिये केवल गुरुनिवेदित अन्न स्वीकार करे। कदर्य और निष्ठुर आचरण का परित्याग कर दिव्यभाव से सदा परमेश्वर की उपासना में निरत रहे। उसको सदा सत्य बोलना चाहिये। जो कभी असत्य का सहारा न ले, वह साधक दिव्यभाव में स्थित माना जाता है। सत्ययुग और त्रेता के प्रथमार्ध तक दिव्यभाव की स्थिति मानी जाती है। दिव्यभाव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस भाव के द्वारा साधक समस्त विश्व को परमशिव और उसकी पराशक्ति के रूप में ही देखता है। तथा आहार-विहार आदि अपनी सभी क्रियाओं को शिवशक्ति की पूजा ही समझता है।

पशुभाव

कामाख्यातन्त्र में पशुभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि जो पञ्चतत्त्व को स्वीकार नहीं करते और न उसकी निन्दा ही करते हैं, जो शिवोक्त

कथा को सत्य मानते हैं, पाप कार्य को निन्दनीय समझते हैं, वे ही पशु नाम से प्रसिद्ध हैं। जो प्रतिदिन हविष्य का आहार करते हैं, ताम्बूल नहीं छूते, ऋतुस्नाता अपनी स्त्री के सिवाय अन्य किसी भी स्त्री को कामभाव से नहीं देखते, परस्त्री के कामभाव को देखकर उसका साथ त्याग देते हैं, मत्स्य-मांस का सेवन कभी नहीं करते, गन्ध-माल्य, वस्त्र आदि धारण नहीं करते, सर्वदा देवालय में रहते हैं और आहार के लिये घर जाते हैं, पुत्र और कन्याओं को अतिस्नेह दृष्टि से देखते हैं, ऐश्वर्य को नहीं चाहते, जो है उससे सन्तुष्ट रहते हैं, धन होने पर सदा दरिद्रों की सहायता करते हैं, कभी कृपणता, द्रोह और अहंकार नहीं दिखाते और कभी क्रोध नहीं करते, वे सभी जीव पशुभाव में स्थित माने जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। इनकी कभी मुक्ति नहीं होती।

रुद्रयामल में लिखा गया है कि जो प्रतिदिन दुर्गापूजा, विष्णुपूजा और शिवपूजा करता है, वही पशु उत्तम है। शक्ति के साथ शिव की पूजा करने वाला भी उत्तम है। केवल विष्णु की पूजा करने वाला मध्यम और भूत-प्रेत आदि की उपासना करनेवाला अधम है। शिव, शक्ति, विष्णु आदि की पूजा करने के बाद यक्षिणी आदि की सेवा करने वाला; ब्रह्मा, कृष्ण, तारक ब्रह्म आदि की पूजा करने वाला साधक भी श्रेष्ठ है।

वीरभाव

पिच्छिलातन्त्र आदि में वीरभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि इस भाव में शक्ति या मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन के बिना पूजा नहीं की जाती। स्त्री का भग पूजा का आधार है। यहाँ स्वर्ण अथवा रजत का कुश बनाया जाता है। कलियुग में मुख्य द्रव्यों के अभाव में अनुकल्प का भी विधान है। अथवा मानस भावना से सारी विधियाँ पूरी की जा सकती हैं। स्नान, भोजन, स्वकीया अथवा परकीया स्त्री, मद्य, मांस, स्वयम्भू-कुसुम, भगपूजन आदि सभी विधियाँ यहाँ मानसिक भावना द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। कलिकाल में मनुष्य संशयों से ग्रस्त रहता है। वह वास्तविक वीरभाव का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः मानस भावना से ही उसको अपने इष्टदेव की उपासना करनी चाहिये। निशङ्क वीर ही वीर या दिव्यभाव का अधिकारी होता है। पञ्चमकार-साधन, श्मशान-साधन, चिता-साधन जैसी क्रियाएँ दिव्य या वीरभाव स्थित साधक के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती हैं।

भासाचक्र

भासा या महाप्रतिभा भगवान् की स्वातन्त्र्यरूपा चितिशक्ति का ही नामान्तर है। इसीके गर्भ में पञ्चकृत्यमय अनन्त वैचित्र्य निहित है। यह सर्वातीत होने पर भी सबकी अनुग्राहिका पराशक्ति है। जिस प्रकार दर्पण में नगर आदि दृश्य प्रपञ्च प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार इस स्वच्छ चिन्मयी पराशक्ति की भित्ति में भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक समस्त जगत् प्रतिबिम्ब की भाँति स्फुरित हो उठता है। यही निर्विकल्प परम धाम है। सृष्टि आदि समस्त चक्र इसीमें प्रतिबिम्ब रूप से स्फुरित होते हैं। इसीको सप्तदशी कला कहा जाता है। यह स्वातन्त्र्यशक्ति रूपा संविद् देवी संकोच और विकास दोनों प्रणालियों से नाना रूप में प्रतिभासित होती है। पचास मातृका रूपी वर्णमाला इसी का विकास है। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पाँच चक्र ही क्रम दर्शन में पञ्चवाह-महाक्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। सृष्टि से लेकर अनाख्या पर्यन्त चार चक्रों की पूजा क्रम-पूजा के नाम से तथा भासाचक्र की पूजा अक्रम-पूजा के नाम से शास्त्रों में वर्णित है। इसका विशेष विवरण महार्थमञ्जरी जैसे क्रम-दर्शन के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

भूतलिपि

शारदातिलक (७.१-४) में भूतलिपि का परिचय दिया गया है। वहाँ बताया गया है कि यह भूतलिपि अत्यन्त सुगोप्य है। इसकी प्राप्ति परम दुर्लभ है। भगवान् शिव से इसको पाकर मुनिगण सभी कामनाओं को प्राप्त कर सके थे। कामकलाविलास (श्लो. २७) में सूक्ष्म और स्थूल भेद से मध्यमा वाणी के दो प्रकार बताये गये हैं। सूक्ष्म मध्यमा नवनादात्मक तथा स्थूल भूतलिपिमयी है। कामकलाविलास में श्रीचक्र स्थित अष्टकोण, प्रथम दशार, द्वितीय दशार और चतुर्दशार चक्र में ४२ वर्णात्मक भूतलिपि का विन्यास-क्रम वर्णित है। टीकाकार नटनानन्द ने चेष्टाविशेष से अभिव्यक्त आकार वाली लिपि को भूतलिपि माना है। इसमें नौ वर्ग होते हैं। इनका क्रम यह है—

अ इ उ ऋ ऌ	प्रथम वर्ग
ए ऐ ओ औ	द्वितीय वर्ग
ह य र व ल	तृतीय वर्ग

ङ क ख घ ग	चतुर्थ वर्ग
ञ च छ झ ज	पंचम वर्ग
ण ट ठ ढ ड	षष्ठ वर्ग
न त थ ध द	सप्तम वर्ग
म प फ भ ब	अष्टम वर्ग
श ष स	नवम वर्ग ।

भैरव

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (१.९५-१००) में बृहस्पतिपाद कृत शिवतनुशास्त्र के श्लोकों को उद्धृत कर बताया है कि इनमें अन्वर्थ नामों से भगवान् भैरव की स्तुति की गयी है। "भया सर्वं रवयति" (श्लो. १२७) विज्ञानभैरव के इस श्लोक और उसकी व्याख्या में भी 'भैरव' पद की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। क्षेमराज ने विज्ञानोद्योत के मङ्गल श्लोक में भैरव की स्तुति की है। इन सबका अभिप्राय यह है कि भैरव इस विश्व का भरण, रवण और वमन करने वाले हैं। वे इस संसार का भरण-पोषण करते हैं और वे ही इसकी सृष्टि और संहार भी करते हैं। ऐसा करके वे स्वयं पुष्ट होते हैं, प्रसन्न होते हैं। भगवान् शिव ही भैरव हैं। वे अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति रूपी तूलिका से इस संसार को चित्रित करते हैं और इसके बाद वे स्वयं ही इसको देखकर प्रसन्न होते हैं। ये संसारी जीवों को अभयदान करने वाले हैं। संसारी जीवों के आक्रन्द (छटपटाहट) के कारण भी ये ही हैं और त्राहि-त्राहि पुकारने वाले भक्तजनों के हृदय में प्रकट होकर उनका उद्धार भी ये ही करते हैं, अर्थात् निग्रह और अनुग्रह ये दोनों भगवान् भैरव के ही व्यापार हैं। इसीलिये ये पञ्चकृत्यकारी कहलाते हैं। ये काल के भी काल हैं। इसीलिये इनको कालभैरव कहते हैं। ये कालवंचक योगियों के चित्त में समाधि दशा में स्फुरित होते हैं और अज्ञानी जीवों के हृदय में भी बाह्य और आन्तर इन्द्रियों (करणों) की अधिष्ठात्री देवियों (खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी) के रूप में, जो कि संविद्देवीचक्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रकट होते हैं। भगवान् भैरव का स्वरूप महाभयानक भी है और परम सौम्य भी। यही भैरव ६४ भैरवागम तथा अन्य अनेक शैव और शाक्त आगमों के अवतारक हैं। शाक्त पीठों में सर्वत्र देवी के दर्शन के पहले भैरव की अर्चना की जाती है। केवल वैष्णव देवी का मन्दिर ही इसका अपवाद है। वहाँ

देवी का दर्शन कर लेने के उपरान्त ही भैरव का दर्शन किया जाता है। दस विद्याओं के दस भैरव, असिताङ्ग आदि आठ भैरव तथा मन्थान आदि भैरवों का वर्णन शक्तिसङ्गम आदि तन्त्र-ग्रन्थों (३.११.२५३-२५४) में मिलता है।

भैरवी (शाम्भवी) मुद्रा

दृष्टि जब निमेष (पलकों को बन्द करना) और उन्मेष (पलकों को खोलना) इन दोनों व्यापारों से शून्य होकर बाहर की ओर लगी हो और अवधान क्रिया बाहर की ओर न जाकर अन्त:स्थित आत्मा को अपना लक्ष्य बनावे, अर्थात् इन्द्रिय तो बाहर की तरफ खुली हो, किन्तु चित्त भीतर की ओर पलटा हुआ, हो तो यह अवस्था भैरवी अथवा शाम्भवी मुद्रा के नाम से शास्त्रों में अभिहित है। इस अवस्था में प्रविष्ट हो जाने पर योगी दर्पण में बनते-बिगड़ते हुए नाना प्रकार के प्रतिबिम्बों की भाँति चिदाकाश में उदित और विलीन हो रहे बाह्य पदार्थों और आन्तर भावों को, अर्थात् समस्त विकल्पों को, निमीलन और उन्मीलन समापत्ति (समाधि) के बीच में अवधान रूपी अरणि से जलायी गयी ज्ञानाग्नि के द्वारा भस्म कर अपने समस्त करणचक्र (इन्द्रियसमूह) को आलम्बन के अभाव में अपने स्वरूप में ही विस्फारित (विस्तीर्ण) कर लेता है। उस समय ऐसी प्रतीति होती है, मानों ये इन्द्रियाँ अपने अद्भुत स्वरूप को आँखे फाड़ कर देख रही हों।

इस निर्विकल्प अवस्था में प्रवेश कर लेने पर साधक भैरव-स्वरूप हो जाता है, अर्थात् उसको अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से, हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से, मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने भैरवीय स्वरूप को पहचान लेता है, वह साक्षात् भैरव स्वरूप हो जाता है। भैरवी मुद्रा के सहारे विषयों को देखते हुए भी अनदेखा कर दिया जाता है और इस तरह से अनालोचनात्मक पद्धति से भावों का परित्याग हो जाता है। ''स्पर्शान् कृत्वा'' (५.२७) आदि गीता के श्लोक में इसी स्थिति का वर्णन मिलता है। क्रम-दर्शन में प्रदर्शित पाँच मुद्राओं में भी यह वर्णित है। इसका विशेष विवरण खेचरी मुद्रा के प्रसङ्ग में दिया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा के नाम से यह अभिहित है।

मणिपूर चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि के मूल भाग में मेघ के समान श्याम वर्ण के दस दलों से शोभित मणिपूर चक्र की स्थिति मानी जाती है। इन दलों में अर्धचन्द्र और बिन्दु से भूषित ड से फ पर्यन्त दस वर्ण सुशोभित हैं। इसके बीच में प्रात:कालीन अरुण वर्ण के सूर्य के समान कान्ति वाले त्रिकोणात्मक वैश्वानर मण्डल में रँ बीज का ध्यान किया जाता है। यह मण्डल तीन स्वस्तिक द्वारों से अलंकृत है। रँ बीज का वाहन मेष है, वर्ण रक्त है और इसका शरीर चतुर्भुज है। इस वह्नि बीज के देवता रुद्र हैं। इनका वर्ण सिन्दूर के समान है और इसकी अधिष्ठात्री योगिनी का नाम लाकिनी है। (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरूपण, प्रक० ६)।

मध्यधाम

मध्यनाडी सुषुम्णा को शाक्त-दर्शन में मध्यधाम कहा गया है। इसीको शून्यातिशून्य पदवी भी कहा जाता है। वस्तुत: मध्यधाम सुषुम्णा को शून्य और शिवतत्त्व को शून्यातिशून्य कहते हैं। मध्यधाम या मध्यदशा को शून्यस्वभाव इसलिये कहा जाता है कि यहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियों की कोई सत्ता नहीं बची रहती। मध्यधाम के लिये शून्यातिशून्य शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। इसका मुख्य प्रयोग शिवतत्त्व और उसकी अभिव्यक्ति के स्थान द्वादशान्त के लिये ही किया जाता है। सुषुम्णा नामक मध्यनाडी शून्यातिशून्यधाम द्वादशान्त में जाकर लीन हो जाती है, अत: इसको भी शून्यातिशून्यधाम कह दिया जाता है। इस शून्यातिशून्य-स्वभाव मध्यधाम में विश्रान्ति ही योगी के लिये उपेय (प्राप्तव्य) है।

हृदय के मध्य में इसका निवास है। यह कमलनाल में विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं के समान कृश आकार वाली है। इस मध्यनाडी के भीतर चिदाकाशरूप शून्य का निवास है। इससे प्राणशक्ति चारों ओर प्रसार करती है। साधक जब मध्यनाडी की सहायता से चिदाकाश में प्रविष्ट होता है, तब सोम और सूर्य, अर्थात् अपान और प्राण अथवा मन और प्राण सुषुम्णा में अपने आप विलीन हो जाते हैं। प्राण और अपान के मध्यवर्ती धाम सुषुम्णा (मध्यनाडी) में जिसका आन्तर और बाह्य इन्द्रियचक्र (मन और उससे नियन्त्रित

चक्षुरादि इन्द्रियाँ) लीन हो जाता है और जो ऊर्ध्वस्थान और अध:स्थान में विद्यमान अकुल और कुल पद्मों के सम्पुट के मध्य में भावना के बल से प्रविष्ट हो गया है, अर्थात् ऊर्ध्वगत प्रमाणरूपी पद्म और अध:स्थित प्रमेयरूपी पद्म के मध्य में चिन्मात्र प्रमाता अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और इसीलिये चिन्मात्रता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में जिसका चित्त संलग्न नहीं है, वह योगी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ प्रमेयरूप संसार का निमेष और उन्मेष व्यापार पद्मदल के संकोच और विकास के तुल्य है। इसीलिये इसकी पद्मसम्पुट से तुलना की गयी है।

मध्यमा

शब्दब्रह्म संस्कृत पवन से प्रेरित होकर जब हृदय-स्थान में अभिव्यक्त होता है, तो वह निश्चयात्मिका बुद्धि से संयुक्त होकर विशेष रूप से स्पन्दित होने वाले नाद का रूप धारण कर मध्यमा वाक् के रूप में प्रसिद्ध होता है। पश्यन्ती से नवनादात्मक मध्यमा वाणी का उन्मेष होता है। यह नाद की अनाहत अवस्था है। सङ्केतपद्धति, अर्थरत्नावली, वरिवस्यारहस्य, नेत्रतन्त्रोद्योत, स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत आदि ग्रन्थों में धर्मशिव आदि आचार्यों के वचनों के प्रमाण पर अष्टविध तथा नवविध नाद का प्रतिपादन किया गया है। इनकी अभिव्यक्ति वाणी की मध्यमा दशा में होती है। यही नादानुसन्धान की स्थिति है। इसको मध्यमा इसलिये कहा जाता है कि यह न तो पश्यन्ती के समान उत्तीर्ण है और न वैखरी की तरह स्पष्ट अवयवों वाली है। उक्त दोनों स्थितियों के मध्य में इसकी स्थिति होने से ही इसको मध्यमा कहा जाता है। नवनादात्मक इस मध्यमा वाणी से ही नववर्गात्मिका वैखरी वाणी अभिव्यक्त होती है। योगिनीहृदय में इसको ज्येष्ठा शक्ति कहा गया है।

मध्यविकास

प्राण और अपान के आधारभूत स्थान आन्तर आकाश हृदय और बाह्य आकाश द्वादशान्त में प्रत्यावृत्ति के अभाव में एक क्षण के लिये प्राण या अपान की वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। तब ऐसी प्रतीति होती है कि मानों प्राण और अपान कहीं विलीन होगये हैं। इस स्थिति को मध्यदशा के नाम से जाना जाता है। इस मध्यदशा का जब विकास किया जाता है, तब धीरे-धीरे साधक की

भेद-दृष्टि (दूसरे से अपने को अलग समझने का स्वभाव) घटती जाती है और उसकी बाह्य और आन्तर इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं। क्रमशः उसका प्राणचार (प्राण और अपान की गति) मध्यनाड़ी सुषुम्णा में लीन हो जाता है और तब परा शक्ति भैरवी से अभिन्न रूप में विद्यमान भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है।

हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त में प्राण की गति रहती है और हृदय-कमल, मुख का सङ्कोच-विकास तथा द्वादशान्त—ये अपान की गति के स्थान हैं। इनमें एक क्षण के लिये प्राण के अस्त हो जाने पर और अपान का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के बाह्य कुम्भक की प्राप्ति होती है। इसी तरह से एक क्षण के लिये अपान के अस्त हो जाने पर और प्राण का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के अन्तःकुम्भक की प्राप्ति होती है। यह मध्यदशा ही परम पद कहलाती है। प्राण-अपान की इस मध्यदशा को योगी ही जान सकते हैं। एक तुटि, लव अथवा क्षण के लिये भी अन्तर्मुख हो जाने पर योगी में इस मध्यदशा का विकास हो जाता है और तब प्राण और अपान की पुनः प्रत्यावृत्ति नहीं होती, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

यह प्राणात्मक और अपानात्मक शक्ति हृदय से द्वादशान्त तक न तो जायगी और न द्वादशान्त से हृदय की ओर वापस ही लौटेगी, जब कि मध्यनाडी का धाम (स्थान) विकल्पहानिरूप उपाय से विकसित कर दिया जाय। प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से, हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने स्वरूप को पहचान लेता है, वह साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के १८ वें सूत्र में विकल्पक्षय आदि मध्यदशा के विकास के उपाय बताये गये हैं। स्पन्दकारिका में उन्मेष दशा के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

मन्त्र

मन्त्र दो अक्षरों से बना है—मन् और त्र। मन् का अर्थ है मनन करना और त्र का अर्थ त्राण। मनन करने से जो त्राण (रक्षा) करे वह मन्त्र है। मन्त्र उस अक्षर, पद या पदों के समुदाय को कहते हैं, जिसके उच्चारण और मनन

से शक्ति जागती है। स्वच्छन्दतन्त्र (४.३७५) आदि ग्रन्थों में मन्त्र को ज्ञानशक्ति का विलास माना गया है। इसकी सहायता से साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवपद से संयुक्त हो जाता है।

तन्त्रशास्त्र में मन्त्र के लिये मनु शब्द का भी प्रयोग मिलता है। स्त्री-देवता वाले मन्त्रों को विद्या कहा जाता है। पिण्ड, कर्तरी, बीज, मन्त्र और माला के भेद से, बीज, कूट, पिण्ड और माला के भेद से तथा सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि के भेद से मन्त्र नाना प्रकार के होते हैं। वैष्णव आगमों में पद, पिण्ड, बीज और संज्ञा के भेद से इनके चार प्रकार वर्णित हैं। नेत्रतन्त्र (१८.१०-१२) में सम्पुटित, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत, युक्तिविदर्भित और विदर्भग्रथित—ये ग्यारह विधियाँ मन्त्रों के विन्यास अथवा उच्चारण की बतायी गयी है। शारदातिलक (२३.१३६) में शान्ति, वश्य, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण नामक षट्कर्मों की सिद्धि के लिये ग्रथन, विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग और पल्लव नामक छः प्रकार के मन्त्रविन्यास की पद्धति वर्णित है। टीकाकारों ने इन पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट किया है। तदनुसार उक्त विधियों से मन्त्राक्षरों अथवा मन्त्रों का विशेष स्थितियों में लेखन अथवा उच्चारण किया जाता है।

मीमांसा-दर्शन में मन्त्र को ही देवता माना गया है। तन्त्रशास्त्र में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यहाँ मनु (मन्त्र) अथवा विद्या को उस देवता का विग्रह ही माना जाता है। दस महाविद्याओं के प्रतिपादक शाक्त तन्त्रों में काली, तारा, त्रिपुरा आदि शब्दों से मन्त्र और देवता दोनों अभिहित होते हैं। निरुक्त में मन्त्रार्थ के ज्ञान की महिमा वर्णित है। तदनुरूप ही तन्त्रशास्त्र में कहा जाता है कि मन्त्रार्थ की भावना के साथ मन्त्र का जप करने से मन्त्रचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक के समक्ष मन्त्र-देवता अपने स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य आदि शब्दों की निरुक्ति के प्रसङ्ग में ये विषय चर्चित हैं।

मन्त्रस्वरूप, मन्त्रवीर्य, मन्त्रसामर्थ्य, मन्त्रावस्था, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रदोष, मन्त्रसंस्कार, मन्त्रसिद्धि जैसे विषयों पर तथा मन्त्रदीक्षा के प्रसंग में गुरु, शिष्य, देश, काल, स्थान आदि के विषय में तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। स्त्रीप्रदत्त तथा स्वप्नलब्ध मन्त्रों की

साधनविधि तन्त्रों में वर्णित है। मन्त्रदीक्षा के समय कुलाकुलचक्र, नक्षत्रचक्र, राशिचक्र, नामचक्र आदि की सहायता से मन्त्र का उद्धार और परीक्षण किया जाता है कि किस व्यक्ति को किस मन्त्र की दीक्षा दी जाय। हुं, फट् आदि अंग-मन्त्रों के संयोजन की विधि का जानना भी आवश्यक माना गया है। मन्त्र, मण्डल आदि में जैसे प्रधान देवता के अतिरिक्त आवरण देवताओं का विन्यास विहित है, उसी प्रकार मूलविद्या अथवा प्रधान मन्त्र के भी अंग-विद्या अथवा अंग-मन्त्रों का शास्त्रों में वर्णन मिलता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय और चतुर्थ पटल में जैसे प्रासाद अथवा पराप्रासाद मन्त्र का सविशेष महत्त्व वर्णित है, उसी तरह से तन्त्रशास्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ अथवा सम्प्रदाय का अपना मूल (मुख्य) मन्त्र होता है। इसी मूल-मन्त्र के अंग के रूप में अन्य मन्त्रों का विनियोग बताया जाता है। उक्त विषयों का विशेष विवरण जिज्ञासुओं को नेत्रतन्त्र, शारदातिलक, प्राणतोषिणी आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

नेत्रतन्त्र (१८.१३-१४) में कहा गया है कि वही साधक श्रेष्ठ है, जो हृदय और द्वादशान्त में मन्त्र के उन्मेष और विश्रान्ति को जानता है, मन्त्र की शक्ति से परिचित है, उसके ध्यान के स्वरूप और मुद्रा को हृदयङ्गम कर सका है। तन्त्रालोक (२९.८३), उत्तरषट्क, अर्थरत्नावली (पृ. २३१,२४७) आदि ग्रन्थों में उदय, सङ्गम (व्याप्ति) और शान्ति (विश्रान्ति) नामक तीन अवस्थाओं का उल्लेख है। साधक को चाहिये कि वह आधार स्थान में मन्त्र के उदय की स्थिति का, हृदय स्थान में व्याप्ति का तथा ब्रह्मरन्ध्र में मन्त्र की विश्रान्ति दशा का सावधानी से अवलोकन करे। इसके लिये योनिमुद्रा के अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, जिसका निरूपण अलग से किया गया है।

मन्त्र-चैतन्य

जपयज्ञ के अभ्यास से वैखरी वाणी के समस्त आगन्तुक मल जब दूर हो जाते हैं, तब इडा-पिंगला का मार्ग अवरुद्ध होने लगता है और सुषुम्णा-पथ उन्मुक्त हो उठता है, इस स्थिति में शब्दशक्ति प्राणशक्ति की सहायता से शोधित होकर सुषुम्णा रूप ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट्-प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव को धारण कर लेता है। इसी स्थिति को मन्त्रचैतन्य

का उन्मेष कहा जाता है। प्राणतोषिणीतन्त्र (पृ. ४१८-४१९) में बताया गया है कि मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा को जो नहीं जानता, उसकी तान्त्रिक उपासना कभी भी सफल नहीं हो सकती। मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता ही मन्त्रचैतन्य के नाम से अभिहित होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि मन्त्र मणि के समान है और मन्त्रदेवता, अर्थात् मन्त्रचैतन्य मणि की प्रभा के समान हैं।

उत्तरषट्क नामक ग्रन्थ में मन्त्र की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—स्पर्शन, अवलोकन, सम्भाषा, बिन्दुदर्शन और स्वयमावेशन। स्पर्शन का अर्थ मन्त्र के साथ साधक का सम्बन्ध है। इसका चिह्न कम्पन है। यह पहले हृदय में उत्पन्न होता है। मन्त्र का साधक को देखना ही अवलोकन है। इसका चिह्न धूनन है। इसकी उत्पत्ति कण्ठ में होती है। मन्त्र का साधक से भाषण सम्भाषा है। इसका चिह्न स्तोभ है। इस अवस्था में साधक समस्त विद्या और मन्त्रों की कल्पना कर सकता है। बिन्दुदर्शन का अर्थ है मन्त्र की आत्मा का साक्षात्कार। यह साक्षात्कार भ्रूमध्य में होता है। इससे साधक को सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वयमावेशन का अभिप्राय है—मन्त्र का साधक को स्वात्मस्वरूप में समाविष्ट कर लेना। यही वास्तविक मन्त्र-चैतन्य की स्थिति है। यहाँ आकर मन्त्र की साधना फलीभूत हो जाती है। साधक की मन्त्रदेवता के साथ समरसता हो जाती है।

मन्त्रार्थ

मन्त्रजप के साथ मन्त्रार्थ की भावना आवश्यक है। राख में डाली गयी आहुति जैसे निष्फल होती है, इसी तरह से अर्थ के ज्ञान के बिना किया गया मन्त्र का उच्चारण भी व्यर्थ माना जाता है। निरुक्त आदि ग्रन्थों में भी अर्थज्ञान की महिमा वर्णित है। शास्त्रों में विविध प्रकार के मन्त्रार्थों का विवरण पाया जाता है। भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य में १५ प्रकार के मन्त्रार्थों का निरूपण किया है। उनमें भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ—ये छः अर्थ ही प्रधान हैं। योगिनीहृदय के मन्त्रसङ्केत प्रकरण में इनका ही निरूपण हुआ है। तदनुसार मन्त्र के अवयवभूत अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारणकारण पूर्ण परमेश्वर ही सब मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से अपने मन्त्र का उद्भव और उसका अवतरण क्रम अथवा परम्परा का ज्ञान सम्प्रदायार्थ है। परमेश्वर, गुरु और निज आत्मा का ऐक्यानुसन्धान

निगर्भार्थ है। परमेश्वर निष्कल निरवयव है, गुरु भी वही है। निष्कल परमेश्वर का जो निज आत्मरूप में साक्षात्कार करते हैं, वे ही गुरु हैं। इसलिये गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक का ऐक्यानुसन्धान कौलिकार्थ है। मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी रूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है, इस प्रकार की भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परम तत्त्व के साथ प्रकाशानन्दमय, विश्वातीत और विश्वमय, गुरुप्रबोधित, निर्मलस्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुसन्धान महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थों के ज्ञान से पाशात्मक विकल्पजाल भलीभाँति निवृत्त हो जाता है।

मल

तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव ने १८ वीं कारिका में मल का लक्षण बताया है कि मल एक है और वह अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त है। यह पुरुष की ज्ञान और क्रिया शक्ति को उसी तरह से ढक लेता है, जैसे कि भूसी चावल को और कालिमा तांबे को ढके रहती है। इस तरह द्वैतवादी शैवों के यहाँ मल जीव में रहने वाला एक द्रव्यविशेष माना गया है। अद्वैतवादी शैव और शाक्त दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। वे संसृति के अनादि कारण अज्ञान को ही मल मानते हैं। यह मल तीन प्रकार का होता है—आणव, मायीय और कार्म। अणु(जीव)गत अज्ञान ही उसके परमार्थ स्वरूप को ढक लेता है, इसी को आणव मल कहते हैं। माया शक्ति के अधीन मल मायीय तथा पुण्य और पाप कर्मों की वासना से उत्पन्न मल कार्म मल कहलाता है।

महाप्रचय (सततोदित)

मालिनीविजय (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। तदनुसार तुरीयातीत अवस्था ही महाप्रचय अथवा सततोदित दशा है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक निष्प्रपञ्च, निराभास, शुद्ध, स्वात्मस्वरूप, सर्वातीत, शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह महान् प्रकाशमय अनन्तपद है। सततोदित पद का अभिप्राय यह है कि यह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, अखण्ड

रूप में सर्वत्र सदा प्रकाशित होता रहता है। इसके पर्याय के रूप में शास्त्रों में नित्योदित पद भी प्रयुक्त होता है।

मातृका

अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला को ही मातृका कहा जाता है। विभिन्न शास्त्रों में यह शब्दराशि, मालिनी, कालिका, भूतलिपि आदि शब्दों से अभिहित होती है। यह सात करोड़ महामन्त्रों की जननी है। सौभाग्यसुधोदय (१.६) में माति, तरति और कायति—इन तीन धातुओं से मातृका पद की निष्पत्ति बतायी गयी है। अनाहत मूर्ति, अर्थात् अनाहत नाद मध्यमा वाक् के रूप में यह सारे जगत् को अपने में समेटे रहती है। उत्तीर्ण, अर्थात् पश्यन्ती के रूप में यह जगत् से ऊपर उठ जाती है और वैखरी वाणी के रूप में यह नाना नामरूपात्मक प्रपञ्च का शरीर धारण करती है। इसीलिये इसको मातृका कहा जाता है। तन्त्रसद्भाव नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि सभी मन्त्र वर्णों से बनते हैं और ये शक्ति से सम्पन्न होते हैं। यह शक्ति मातृका के नाम से शास्त्रों में जानी जाती है, जो कि शिव से अभिन्न है। इस प्रकार परावाक्-स्वरूपिणी, अनाहतनादमयी, परमशिव से अभिन्न, ३६ तत्त्वों की सृष्टि में कारणभूत परा संवित् को ही तन्त्रशास्त्र में मातृका कहा गया है। यह मातृका पहले बीज और योनि, अर्थात् स्वर और व्यंजन के भेद से द्विधा विभक्त होती है। इसका दूसरा विभाग वर्गात्मक है। सात, आठ या नौ वर्गों का विधान विभिन्न शास्त्रों में वर्णित है। अक्षरों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। किन्तु १६ स्वर और ३४ व्यञ्जनों वाला विभाग प्राय: सर्वमान्य है।

मालिनी

मातृका का निरूपण अलग से किया गया है। संक्षेप में अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला ही लोक में मातृका के नाम से प्रसिद्ध है। इस वर्णमाला का नादि फान्त क्रम शैव और शाक्त तन्त्रों में मालिनी कहा जाता है। मालिनीविजयतन्त्र (३.३७-४१) में यह क्रम मालिनी न्यास के नाम से वर्णित है। इसीके आधार पर अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. १३४-१३५), परात्रीशिकाविवरण (पृ. १२०-१२३) और तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक के अन्त में इसका निरूपण किया है। वहाँ मालिनी को शक्ति तथा मातृका को शक्तिमत् का वाचक माना गया

है। मालिनी की विशेषता यह है कि इसमें स्वर और व्यञ्जन वर्ण परस्पर घुले-मिले हैं। त्रिकहृदय में मालिनी को नादिनी कहा गया है और इसकी स्थिति शिखान्त में मानी गयी है। मालिनी-न्यास से मन्त्रों के सभी दोष दूर हो जाते हैं और गारुड, वैष्णव आदि साञ्जन मन्त्र भी निरञ्जन बनकर मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। मालिनी का क्रम इस प्रकार है ----- न ऋ ॠ ऌ ॡ थ च घ ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ इ अ व म य ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ।

मुद्रा

इसका साधारण अर्थ है छाप, मोहर। योग में इसका अर्थ होता है विशेष अंग-विन्यास, विशेष रूप से हाथ की अङ्गुलियों की निश्चित स्थिति। अधिक व्यापक रूप से इसका अर्थ होता है—शरीर के कुछ अवयवों और इन्द्रियों पर विशेष नियन्त्रण, जिससे कि ध्यान और समाधि में सहायता मिलती है। जैसे कि भैरवी मुद्रा के अभ्यास से साधक जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है।

स्वच्छन्दतन्त्र (४.३७५) जैसे ग्रन्थों में मुद्रा को क्रिया शक्ति का विलास माना गया है। योगिनीहृदय (१.५७) की टीका में अमृतानन्द कहते हैं कि परा संवित् ही क्रियाशक्ति के रूप में विश्व को मोद (सुख) से भर देती है और सारे दु:खों का नाश कर देती है। उक्त दोनों गुणों के आधार पर संविन्निष्ठ क्रियाशक्ति ही मुद्रा के नाम से अभिहित होती है। अन्यत्र बताया गया है कि यह ग्रह आदि के दोषों से साधक को मुक्त कर देती है, उसके पाशजाल को काट देती है। इस तरह मोचन और द्रावण गुणों के आधार पर इसको मुद्रा कहा जाता है। तन्त्रालोक (३२.३) में कहा गया है कि देह के माध्यम से देही आत्मा को स्वरूपावबोध का सुख देने के कारण इसको मुद्रा कहते हैं।

नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका के रचयिता विद्यानन्द बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से मुद्रा के दो प्रकार बताते हैं। अङ्गुलियों के विन्यास के आधार पर प्रदर्शित की जाने वाली मुद्रा बाह्य तथा बन्ध के नाम से प्रसिद्ध मुद्रा आभ्यन्तर कही जाती है। ऋजुविमर्शिनीकार खेचरी मुद्रा के प्रकरण में त्रिविध मुद्राओं का निरूपण करते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (२.१०३) में भी त्रिविध मुद्रा का उल्लेख है, किन्तु उनके नाम शिवानन्द द्वारा प्रदर्शित नामों से भिन्न

है। क्षेमराज ने बताया है कि ये त्रिविध विभाग, मनोजा, वाग्भवा और देहोद्भवा के नाम से शास्त्रों में वर्णित हैं। तन्त्रालोक (३२.९) और उसकी टीका विवेक में चतुर्विध मुद्रा प्रतिपादित हैं—करजा, कायिकी, विलापाख्या और मानसी।

नित्याषोडशिकार्णव के तृतीय पटल में अङ्गुलियों के विशेष प्रकार के विन्यास के आधार पर प्रदर्शित की जाने वाली दशविध करजा मुद्राओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की मुद्राएँ प्राय: सभी तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित हैं। परशुरामकल्पसूत्र के परिशिष्ट (पृ. ६०८-६५२) में प्राय: शताधिक मुद्राओं का विवरण मिलता है। भगवान् राम की उपासना में प्रयुक्त ज्ञानमुद्रा भी वहाँ वर्णित है। संस्थानविशेष का अनुसरण करने वाली कायिकी मुद्राओं का बन्ध अथवा मुद्रा के नाम से विवरण मिलता है। हठयोगप्रदीपिका के तृतीय उपदेश में कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये दस मुद्राओं का वर्णन किया गया है। तन्त्रालोक (३२.५-६) में बताया गया है कि करंकिणी, क्रोधना, भैरवी और लेलिहाना मुद्रा खेचरी के ही प्रपञ्च हैं। ये पाँच मुद्राएँ विज्ञानभैरव, चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमञ्जरी आदि ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। वहाँ बताया गया है कि करंकिणी मुद्रा पांचभौतिक देह को परम आकाश में विलीन कर देती है, इसके साधक ज्ञानसिद्ध कहलाते हैं। क्रोधनी मुद्रा पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त चौबीस तत्त्वों को मन्त्रमय शरीर में विलीन कर देती है, इसके साधक मन्त्रसिद्ध कहलाते हैं। भैरवी मुद्रा अपने स्वरूप में सारे जगत् को विलीन कर लेती है, इसके साधक मेलापसिद्ध कहे जाते हैं। लेलिहाना मुद्रा सारे जगत् का अपने पूर्ण विमर्शमय स्वरूप में बार-बार आस्वादन करती रहती है, इसके साधक शाक्तसिद्ध कहलाते हैं। खेचरी मुद्रा शक्ति, व्यापिनी आदि स्थानों में सदा विचरण करने वाली है, इसके साधक शाम्भवसिद्ध कहे जाते हैं। इनका विलापाख्य तथा मानस विभाग में समावेश होगा। कुछ बन्ध तथा मुद्राओं का भी आभ्यन्तर अथवा मानस विभाग में समावेश होगा।

महार्थमञ्जरीकार (पृ. ११०) ने वेष-विन्यास को भी मुद्रा के अन्तर्गत माना है। यामुनाचार्य आगमप्रामाण्य में पाशुपत मत में प्रसिद्ध कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत नामक छः मुद्राओं का तथा कपाल और खट्वाङ्ग नामक उपमुद्राओं का उल्लेख करते हैं। इनका उक्त वेषविन्यासात्मक मुद्रा में ही समावेश किया जा सकता है।

वैष्णव सम्प्रदाय में शंख, चक्र आदि से शरीर को अङ्कित किया जाता है। इसको भी वहाँ मुद्रा पद से ही अभिहित किया गया है। तप्तमुद्रा और शीतलमुद्रा के नाम से यह दो प्रकार की मानी जाती है। अग्नि में तपे हुए चक्र आदि के ठप्पों से शरीर पर जो चिह्न लगाये जाते हैं, उन्हें तप्तमुद्रा और चन्दन आदि से शरीर पर जो छाप दिये जाते हैं, उन्हें शीतलमुद्रा कहते हैं। रामानुज सम्प्रदाय में तप्तमुद्रा का विशेष प्रचार है। पञ्चमकार के अन्तर्गत भी मुद्रा का उल्लेख है। वहाँ खाद्य अन्नविशेष को, अर्थात् विशेष प्रकार के उड़द या चने को मुद्रा कहा गया है। शैव, शाक्त तथा बौद्ध तन्त्रों में इनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। शक्तिसङ्गमतन्त्र (२.६३.२१-४५) में अंक, बीज, बीजक, मन्त्र और नाम के भेद से पञ्चविध मुद्राएँ वर्णित हैं। तदनुसार मोहर और अंगूठी को भी मुद्रा कहा जाता है।

नेत्रतन्त्र (२१.८०) में बताया गया है कि मन्त्र, मुद्रा और ध्यान की सहायता से स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अद्वैत दृष्टि के प्रतिपादक तन्त्र-ग्रन्थों में सब कुछ स्वात्मस्वरूप माना जाता है। तदनुसार मुद्रा भी परा संवित् का ही विस्फार है। शिवानन्द के अनुसार बोधगगन में विचरण करनेवाली इस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु क्षेमराज ने तन्त्रसद्भाव आदि ग्रन्थों की सहायता से इसको समझाने का प्रयत्न किया है। खेचरी मुद्रा की व्याख्या में इसका विवरण देखना चाहिये।

अश्विनी मुद्रा का उल्लेख कर देना भी यहाँ आवश्यक है। "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" में बताया गया है कि इसका अभ्यास प्राणशक्ति के सङ्कोच और विकास के लिये किया जाता है।

मूलाधार चक्र

अन्य चक्रों का यह मूल आधार है, अतः इसे मूलाधार चक्र कहा जाता है। यह सुषुम्णा नाडी के मुख से जुड़ा हुआ है। लिङ्ग के नीचे और गुदा के ऊपर कन्द-स्थान में यह स्थित है। भूतशुद्धितन्त्र में बताया गया है कि गुदा से दो अङ्गुल ऊपर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल विस्तार के पक्षी के अंडे के समान आकार वाले स्थान को **कन्द** कहा जाता है। कन्द-स्थान स्थित मूलाधार पद्म के चार लाल वर्ण वाले पत्र हैं और इन पत्रों पर पूर्व आदि

दिशाओं के क्रम से सुवर्ण की आभा वाले यं शं षं सं ये चार वर्ण विराजमान हैं। यह अधोमुख कमल है। इस आधार पद्म में चतुष्कोण पृथिवी मण्डल स्थित है और इसकी आठों दिशाओं में आठ शूल शोभा पाते हैं तथा इसके मध्य में पीत वर्ण पृथिवी का बीजाक्षर लँ विराजमान है। धरा (पृथिवी) बीज चार बाहुओं से युक्त और इसी पर आरूढ माना जाता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा इसके अधिपति हैं। इस मूलाधार पद्म में डाकिनी शक्ति का निवास है। ब्रह्मनाडी के मूल स्थान में मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य में विद्युत् के समान प्रकाशमान भगवती त्रिपुरा का त्रिकोण, जिसका कि नाम कामरूप पीठ भी है, विराजमान है। इसके बीच में पश्चिमाभिमुख स्वयम्भू लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरूपण, प्रक० ६)।

यामलावस्था (युगनद्ध)

तन्त्रशास्त्र में रुद्रयामल आदि आठ यामल प्रसिद्ध हैं। वाराहीतन्त्र में बताया गया है कि इन यामल-ग्रन्थों में सृष्टि आदि आठ विषयों का प्रतिपादन किया जाता है। यामल- ग्रन्थों का आविर्भाव यामल-भाव से होता है, अर्थात् परमशिव विश्व का कल्याण करने की दृष्टि से स्वयं ही विमर्श रूप में बदल कर अनुग्राह्य की योग्यता के अनुसार पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के माध्यम से प्रश्न करते हैं और प्रकाश रूप में अवस्थित होकर उसी पद्धति से वे प्रश्नों का उत्तर भी देते हैं। इस प्रकार भैरव और भैरवी के यामलभाव से प्रश्न-प्रतिवचन शैली में इन यामलों का आविर्भाव होता है। यमल या यामल शब्द का अर्थ है—युगलभाव। तान्त्रिकसाधना प्रधानत: युगलभाव की ही उपासना है। शिव-शक्ति, भैरव-भैरवी, राधा-कृष्ण, सीता-राम, शिव-पार्वती की उपासना युगलभाव की ही उपासना है।

शाक्त सम्प्रदाय, विशेष कर कौल सम्प्रदाय के योगीगण यामलावस्था में स्थित होकर कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ उसकी समरसता सम्पादित करते हैं। इसीको शिव और शक्ति की यामलावस्था कहा जाता है। यही यामली सिद्धि है। बौद्ध तन्त्रों में इस अवस्था को युगनद्ध शब्द से अभिहित किया गया है।

महायोग के फलस्वरूप जिस षट्कोण की चर्चा शास्त्रों में आती है, वही शैव और शाक्त तन्त्रों में शिव और शक्ति का सामरस्य, वैष्णवों में

युगल-स्वरूप और बौद्ध तन्त्रों में युगनद्ध के रूप में नामित है। युगनद्ध स्वरूप भी मिथुनाकार है। यहाँ प्रज्ञा और उपाय का, शून्यता और करुणा का, कमल और कुलिश का सामरस्य सम्पन्न होता है। अनङ्गवज्र ने अपने प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि नामक ग्रन्थ में कहा है कि प्रज्ञा का लक्षण नि:स्वभाव है तथा उपाय का लक्षण सस्वभाव है। केवल प्रज्ञा के द्वारा अथवा केवल उपाय के द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा और उपाय दोनों में साम्य या अभिन्नता का सम्पादन करना चाहिये। यह समरसता शिव और शक्ति की समरसता के ही तुल्य है। बौद्ध तन्त्रों में यह समरसता युगनद्ध-दशा, युगनद्ध- काय आदि शब्दों से अभिहित है। अद्वयवज्र के युगनद्धप्रकाश (पृ. ४९) में तथा नडपाद की सेकोद्देशटीका (पृ. ५६-५७) में इसका विवरण मिलता है। पूरे प्रकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव एक ही स्थिति के सूचक शब्द हैं। इस अवस्था में भोग और मोक्ष की समरसता सम्पन्न हो जाती है।

योगिनी

तन्त्रशास्त्र में योगिनी शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। स्थूल रूप से तन्त्रशास्त्र में, विशेष कर कौल मत में पुरुष साधक को वीर तथा स्त्री साधिका को योगिनी कहा जाता है। इस शास्त्र में योगिनी-मुख से प्राप्त मन्त्रदीक्षा का विशेष महत्त्व बताया गया है। चौसठ योगिनियाँ प्रसिद्ध हैं। अष्टाष्टक पूजा में ६४ भैरव और ६४ योगिनियों की यामलभाव से उपासना की जाती है। नित्याषोडशिकार्णव आदि ग्रन्थों में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की वन्दना योगिनी के रूप में भी की गयी है। टीकाकारों का कथन है कि मातृका के अष्ट वर्गों की अधिष्ठात्री ब्राह्मी आदि देवियाँ यहाँ योगिनी पद से अभिप्रेत हैं। अन्य टीकाकार वशिनी आदि आठ देवियों का यहाँ उल्लेख मानते हैं। त्वक्, असृक्, मांस, मेदा, मज्जा और शुक्र नामक धातुओं की स्वामिनी डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी और हाकिनी नामक देवियाँ कुछ आचार्यों के मत से योगिनी पद से अभिप्रेत हैं। ये षट्चक्र, षडूर्मि और षट्कोशों की अधिष्ठात्री देवियाँ मानी गयी हैं। अन्य आचार्य याकिनी का भी इसमें समावेश कर इनकी संख्या सात मानते हैं।

अर्थरत्नावलीकार (पृ. ७४) डाकिनी से लेकर हाकिनी पर्यन्त योगिनियों की संख्या ६४ लक्षकोटि, ३२ लक्षकोटि, १६ लक्षकोटि, ८ लक्षकोटि, ४ लक्षकोटि और १ लक्षकोटि मानते हैं। अन्यत्र (पृ. १३४) पर, सहज, कुलज और अन्त्यज के भेद से चार प्रकार की योगिनियों का उल्लेख करते हैं। ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. २५२) का कहना है कि ६४ करोड़ योगिनियाँ ब्राह्मी आदि आठ शक्तियों का ही विस्तार हैं। नव- चक्रों में पूजनीय प्रकटा आदि नवविध योगिनियों का भी उल्लेख त्रिपुरा सम्प्रदाय में ही मिलता है। इनको चक्रेश्वरी भी कहा जाता है। यह सारा विस्तार भगवती त्रिपुरा का ही है। इसीलिये योगिनी के रूप में उसकी स्तुति की गयी है।

नाडी शब्द की परिभाषा में बताया गया है कि सहजयान सम्प्रदाय में नाडियों के लिये योगिनी शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्रम-दर्शन में द्वादश स्वरों की अधिष्ठात्री द्वादश शक्तियों का वर्णन मिलता है। इनको कालिका अथवा योगिनी शब्द से भी अभिहित किया जाता है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. १, पृ. ४३)।

योगी

मालिनीविजयतन्त्र (४.३२-४०) में चार प्रकार के योगी बताये गये हैं। इनके नाम हैं—सम्प्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध (सिद्धतम)। जिसे योग का केवल उपदेश प्राप्त हुआ है, उसे सम्प्राप्त योगी कहते हैं। तत्त्व से चलित चित्त को जो बार बार उसीमें लगाने का प्रयत्न करता रहता है, वह घटमान योगी कहा जाता है। सम्प्राप्त और घटमान योगी की न तो ज्ञान में और न योग में ही स्थिर रूढि रहती है। इनके द्वारा अन्य लोगों की पारमार्थिक सहायता नहीं हो सकती। तृतीय प्रकार सिद्ध योगी का है। इसका योग सिद्ध हो जाता है। इसमें स्वाभ्यस्त ज्ञान की भी स्थिति रहती है। इस ज्ञान के द्वारा वह दूसरे को भी मुक्त कर सकता है। चतुर्थ प्रकार का सुसिद्ध योगी साक्षात् सदाशिव-सदृश हो जाता है, जो कभी अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होता। वह किसी भी स्थान में रहे, कैसा भी भोग करे, सदा निर्विकार रहता है। ऐसा योगी सभी स्थितियों में जीवमात्र का उद्धार कर सकता है। युक्त और युञ्जान के भेद से भी योगी का स्वरूप प्रतिपादित है। इनमें से युक्त योगी योगज धर्म की सहायता

से परमाणु जैसे सूक्ष्मतम पदार्थों की भी सदा जानकारी रखता है। इसके विपरीत युञ्जान योगी प्रयत्न करने पर ही उक्त पदार्थों को जान सकता है।

योनिमुद्रा

नित्याषोडशिकार्णव जैसे त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दस प्रकार की मुद्राओं का विवरण मिलता है। उनमें से पहली त्रिखण्डा मुद्रा आवाहन में विनियुक्त होती है और बची हुई नौ मुद्राओं का विनियोग नौ चक्रों की पूजा में बीज-मन्त्रों के उच्चारण के साथ किया जाता है। इन मुद्राओं के बीज-मन्त्र अर्थरत्नावली में उद्धृत किये गये हैं। यद्यपि योनिमुद्रा का निरूपण यहाँ सबके अन्त में हुआ है, तो भी इसको प्रथम, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि सभी मुद्राओं की उत्पत्ति इसीसे होती है। बाह्य पूजा में मुद्राओं का क्रम वही है, जो कि उक्त ग्रन्थों में बताया गया है, किन्तु अन्तर्याग में योनिमुद्रा को ही प्रथम स्थान प्राप्त है।

नित्याषोडशिकार्णव (३.२६-२७) प्रदर्शित योनिमुद्रा का स्वरूप यह है—दोनों मध्यमाओं को वक्र कर उसके ऊपर तर्जनियों को रखना चाहिये। पीछे अनामिका और कनिष्ठिका को मध्यगत करके अङ्गुष्ठ द्वारा परिपीडित करने से यह मुद्रा बनती है। तन्त्रसार में इसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है—दोनों हाथों की मध्यमाओं को मध्य स्थल में रखकर दोनों हाथों की कनिष्ठाद्वय को मध्यमाद्वय द्वारा आबद्ध करना चाहिये। तब दोनों तर्जनियों को दण्डाकार करके मध्यमाद्वय के ऊपरी भाग पर रखने से यह मुद्रा बनती है। यह परमा मुद्रा सर्वसंक्षोभकारिणी है। इस मुद्रा से त्रिपुरा देवी का ध्यान किया जाता है।

अङ्गुलिविरचनात्मा मुद्रा के अतिरिक्त संस्थानविशेष रूप योनिमुद्रा का भी शास्त्रों में वर्णन है। उत्तरषट्क में बताया गया है कि गुदा और मेढ्र (लिङ्ग) के मध्य में योनि स्थान, अर्थात् कन्द स्थान है। उसको आकुञ्चित कर बाँध लेना चाहिये। इसके अभ्यास से मन्त्रों के सभी दोषों का निवारण हो जाता है। हठयोग के ग्रन्थों में महामुद्रा के नाम से इसका वर्णन किया गया है। वहाँ बताया गया है कि इस मुद्रा के अभ्यास से साधक कुण्डलिनी शक्ति को जगा सकता है। प्राणतोषिणीतन्त्र (पृ. १२८-१३२) में भी इसका विस्तृत विवरण मिलता है। वहाँ बताया गया है कि योनिमुद्रा में स्थित होकर योगी पवन की

गति को ऊर्ध्वोन्मुख बनाकर उससे मन्त्राक्षरों का शोधन कर ले। महामुद्रा और मूलबन्ध भी योनिमुद्रा के ही प्रकार हैं। प्राणतोषिणी-धृत कुब्जिकातन्त्र में भी इस विषय का विवरण है। इसीलिये शास्त्रों में मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा के ज्ञान को मन्त्रसाधना में अनिवार्य माना जाता है। उच्च कोटि का साधक इस योनिमुद्रा के अभ्यास से ही मन्त्रगत दोषों का निवारण कर सकता है। शारदातिलक में बताया गया है कि जो साधक योनिमुद्रा के अभ्यास में असमर्थ है, उसको चाहिये कि वह मन्त्रगत दोषों के निवारण के लिये उनको दस प्रकार के संस्कारों से संस्कृत करे।

इसके अभ्यास से योनि-स्थान, अर्थात् कन्द-स्थान मुद्रित हो जाता है। इसीलिये इसको योनिमुद्रा कहते हैं।

रूप

मालिनीविजय (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहाँ मन्त्रेश को रूपस्थ बताया गया है और उसके उदित, विपुल, शान्त और सुप्रसन्न नामक चार भेद किये गये हैं। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (१९.३०-४८) और शिवज्ञान के प्रसङ्ग (२०.१-७, १८-२६) में इस विषय का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र-ग्रन्थ ज्ञानार्णव के ३६ वें प्रकरण में रूपस्थ ध्यान वर्णित है। इसमें सर्वज्ञ वीतराग के ध्यान की विधि का निरूपण है। योगिनीहृदय (१.४२) में वर्णित है कि रूप में जालन्धर पीठ का निवास है। दीपिकाकार ने रूप का अर्थ बिन्दु किया है और इसकी स्थिति भ्रूमध्य में बतायी है। वहीं अन्यत्र (३.९४) इसको विघ्नरूप माना है। इसीलिये ३.१३७ की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि रूप से मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान (पृ. ४) पर रूप का अर्थ वर्ण तथा अन्यत्र (पृ. ९०) कलाविष्ट जीव किया है। यहीं (पृ. ५३) यह भी बताया गया है कि इसके आठ भेद होते हैं।

रूपातीत

मालिनीविजय (२.३६-४५) तथा तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड,

पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहाँ परा शक्ति को रूपातीत बताया गया है, जो कि क्रियाशील होते हुए भी निर्विकार मानी गयी है। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (१९.३०-४८) और शिवज्ञान के प्रसङ्ग (२०.१-७, १८-२६) में भी इस विषय का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र-ग्रन्थ ज्ञानार्णव के ३७ वें प्रकरण में रूपातीत ध्यान की विधि वर्णित है। इसको वहाँ निष्कल ध्यान बताया गया है। योगिनीहृदय (१.४२) में वर्णित है कि रूपातीत में ओड्याण पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने रूपातीत का अर्थ चिन्मय दशा किया है और इसकी स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में बतायी है। वहीं अन्यत्र (३.९४) ग्रन्थिरूप होने से इसको भी विघ्नरूप ही माना है। इसीलिये ३.१३७ की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि इससे मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान (पृ. ४) पर रूपातीत का अर्थ लक्ष्य तथा अन्यत्र (पृ. ९०) काष्ठ योगी किया है। वहीं (पृ. ५३) यह भी बताया है कि इसके आठ भेद होते हैं।

रौद्री

सृष्ट विश्व का संहार करने के लिये जब शान्ता शक्ति पुनः अम्बिका शक्ति के साथ समरस होना चाहती है, तो वह लौटकर वहीं आ जाती है, जहाँ से वह गतिशील हुई थी। इस तरह से उसका शृङ्गाट (त्रिकोण) आकार पूर्ण हो जाता है। यह रौद्री शक्ति का व्यापार है। क्रिया शक्ति से समरस होकर यह वैखरी वाणी के रूप में समस्त स्थूल वागात्मक प्रपञ्च की सृष्टि करती है (योगिनीहृदय, १.३९-४०)।

लययोग

हठयोगप्रदीपिका के चतुर्थ उपदेश में लययोग का वर्णन मिलता है। वहाँ इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमनस्क, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमरत्व, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या—ये समस्त शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। लययोग के प्रसङ्ग में वहाँ बताया गया है कि इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण वायु, प्राण वायु का स्वामी लय है और यह

लय नाद पर आश्रित है। इस नाद के अनुसन्धान से ही वह लयावस्था प्राप्त होती है, जिसमें कि मन और प्राण का लय हो जाता है। नादानुसन्धान के माध्यम से मन और प्राण के लय का विधान करने वाली विधि ही लययोग के नाम से जानी जाती है। इससे प्राप्त होने वाली स्थिति को कोई मोक्ष कहे या न कहे, इसमें एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। लययोग का मुख्य लक्षण यह है कि एक बार मन और प्राण के लीन हो जाने पर उसके बाद योगी के चित्त में वासनाओं की पुन: उत्पत्ति नहीं होती और इस प्रकार उसका सभी बाह्य विषयों से सम्पर्क छूट जाता है। वह आत्माराम, जीवन्मुक्त हो जाता है। शाम्भवी मुद्रा में वह प्रतिष्ठित हो जाता है।

लिङ्ग

लीन, अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के अगोचर चिद्रूप अर्थ का बोध कराने वाला तत्त्व लिङ्ग कहा जाता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के प्रतिरूप कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ इसलिये कहलाते हैं कि ये चिति के स्फुरण के आधार- स्तम्भ हैं। चतुर्विध अन्त:करण में उनकी वृत्तियों के समान उक्त चतुर्विध पीठों में स्वयम्भू, बाण, इतर और पर नामक लिङ्गों की स्थिति मानी गयी है (योगिनीहृदय, १.४४)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के छठे षट्चक्र-प्रकरण में भी इन लिङ्गों की विभिन्न चक्रों में स्थिति प्रतिपादित है।

इतर लिङ्ग

बुद्ध्यात्मक पूर्णगिरि पीठ में बुद्धि की वृत्ति के प्रतिरूप इतर लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। यह शरत् पूर्णिमा के चन्द्र के समान कान्ति वाला है। कदम्ब के फल के समान इसकी गोल आकृति है। थकार से लेकर सकार पर्यन्त सोलह व्यञ्जनों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के वाम भाग में इसकी स्थिति मानी जाती है (योगिनीहृदय, १.४४-४६)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र-प्रकरण में इतर लिङ्ग की स्थिति आज्ञा चक्र में मानी गयी है।

पर लिङ्ग

चित्तमय ओड्याण पीठ में चित्त की वृत्ति के प्रतिरूप पर लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। परतेजोमय इस लिङ्ग का कोई वर्ण नहीं है। यह सूक्ष्म, अतीन्द्रिय

और बिन्दुमय है। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त अक्षरों से यह आवृत है। इसमें परमानन्द पद की नित्य स्थिति रहती है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित ज्योतिर्बिन्दु में इसका निवास है (योगिनीहृदय, १.४७) श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र-प्रकरण में स्वाधिष्ठान चक्र में परलिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। वस्तुत: योगिनीहृदय के अनुसार सहस्रार चक्र में इसकी स्थिति मानी जानी चाहिये। सम्प्रदाय भेद से इस विरोध का परिहार करना होगा।

बाण लिङ्ग

अहंकारात्मक जालन्धर पीठ में अहंकार की वृत्ति के प्रतिरूप बाण लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। यह बन्धूक पुष्प के समान रक्त वर्ण का है। इसकी आकृति त्रिकोणात्मक है। ककार से लेकर तकार पर्यन्त सोलह व्यञ्जनों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के दक्षिण भाग में इसकी स्थिति मानी गयी है (योगिनीहृदय, १.४४-४६)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र-प्रकरण (६ प्रकाश) में अनाहत चक्र में बाण लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है।

स्वयम्भू लिङ्ग

मनोमय कामरूप पीठ में मन की वृत्ति के प्रतिरूप स्वयम्भू लिङ्ग की स्थिति मानी गयी है। यह सुवर्ण के समान पीत वर्ण है। यह तीन शिखर वाला है, अथवा तीन बिन्दुओं के कूट से इसका आकार बनता है। अकार आदि सोलह स्वरों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के अग्र भाग में इसका निवास है (योगिनीहृदय, १.४४-४६)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र-प्रकरण (६ प्रकाश) में मूलाधार चक्र में पश्चिमाभिमुख स्वयम्भू लिङ्ग की स्थिति बतायी गयी है।

लोपामुद्रा विद्या

लोपामुद्रा सन्तान और कामराज सन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। लोपामुद्रा सन्तान की प्रवृत्ति अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा से मानी जाती है। लोपामुद्रा ने ही सर्वप्रथम इस विद्या को लोक में प्रवृत्त किया था। इसलिये उन्हीं के नाम से यह विद्या प्रसिद्ध हुई। हादिविद्या का अभिप्राय भगवती त्रिपुरसुन्दरी के उस मन्त्र से है, जिसका आरम्भ हकार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या आज भी लोक में प्रवृत्त

है। प्रपञ्चसार और सौन्दर्यलहरी में पहले हादिविद्या का ही उद्धार किया गया है। योगिनीहृदय में इसी विद्या की व्याख्या की गयी है। ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी, सौभाग्यसुधोदय आदि ग्रन्थों में इस विद्या की दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरु-परम्परा सुरक्षित है। तदनुसार दिव्यौघ क्रम में चर्यानाथ, ओड्डनाथ, षष्ठिनाथ और मित्रीशनाथ के नाम आते हैं, सिद्धौघ क्रम में लोपामुद्रा, अगस्त्य, कङ्कालतापस, धर्माचार्य, मुक्तकेशिनी और दीपकाचार्य हैं। इनमें धर्माचार्य लघुस्तव के तथा दीपकनाथ त्रिपुरसुन्दरीदण्डक के रचयिता हैं। मानवौघ परम्परा में जिष्णुदेव, मातृगुप्तदेव, तेजोदेव, मनोजदेव, कल्याणदेव, रत्नदेव और वासुदेव के नाम उल्लिखित हैं। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द वासुदेव के शिष्य थे। कामकलाविलासकार पुण्यानन्द और उनके शिष्य योगिनीहृदयदीपिकाकार योगी अमृतानन्द भी इसी हादिविद्या-परम्परा के प्रमुख आचार्य थे। इस विषय की अधिक जानकारी के लिये तन्त्रयात्रा (पृ. ६४-७८) में प्रकाशित ''त्रिपुरादर्शनस्यापरिचिता आचार्याः कृतयश्च'' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये।

वह्नि

विज्ञानभैरव के ६७ वें श्लोक में वह्नि और विष शब्दों की चर्चा आयी है। यहाँ वह्नि का अधः कुण्डलिनी से सम्बन्ध है और विष का ऊर्ध्व कुण्डलिनी से। अधः कुण्डलिनी में प्रवेश (आवेश) सङ्कोच अथवा वह्नि कहलाता है और ऊर्ध्व कुण्डलिनी में प्रवेश विकास अथवा विष कहलाता है। वह्नि का प्राण से सम्बन्ध है और विष का अपान से। जब प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है और अधः कुण्डलिनी अथवा मूलाधार तक जाता है, तब इस दशा को वह्नि कहते हैं। वह्नि शब्द वह् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—उठाकर ले जाना। अग्नि को वह्नि इसलिये कहा जाता है कि यह जो कुछ उसमें हवन किया जाता है, उसे देवों तक उठाकर ले जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह प्राण को मूलाधार तक उठाकर ले जाता है। इससे जीव का स्वरूप सङ्कुचित हो जाता है। वह्नि शब्द इसी दशा का बोधक है।

योगशास्त्र में मानव के शरीर में स्थित आधारों की चर्चा आयी है। इनमें से लिङ्ग के ऊपर नाभि से चार अङ्गुल नीचे वह्नि नामक आधार की स्थिति मानी गयी है। नित्याषोडशिकार्णव (५.१) और तन्त्रालोक (३.१६५-१७०)

में कामतत्त्व के रूप में इसका वर्णन किया गया है। गोरक्षनाथ कृत अमरौघशासन (पृ. ८-९) में भी यह विषय चर्चित है।

वामा

शान्ता शक्ति जब अम्बिका शक्ति में बीजभाव से स्थित जगत् को स्पष्ट भासित करने को उद्यत होती है, तो वह वामा कहलाती है। विश्व का वमन करने और इसकी गति कुटिल होने से भी इसको वामा कहा जाता है। इसकी कुटिल गति के कारण ही शृङ्गाट (त्रिकोण) की वाम रेखा बनती है। यही वामा शक्ति इच्छा शक्ति से संवलित होकर पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त होती है (योगिनीहृदय, १.३७-३८)।

विकल्प

तान्त्रिक दर्शन में बाह्य नील-पीत (घट-पट) आदि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी पदार्थ विकल्प-स्वरूप माने गये हैं। अहंपरामर्श दो प्रकार का होता है— शुद्ध और मायीय। इनमें से शुद्ध परामर्श विश्व से अभिन्न रूप में विद्यमान संविन्मात्र में अथवा विश्व की छाया से असंस्पृष्ट स्वच्छ आत्मा में होता है। मायीय अथवा अशुद्ध परामर्श वेद्यस्वरूप देह, बुद्धि, प्राण, शून्य आदि को अपना आलम्बन बनाता है, अर्थात् इन्हीं को अपना स्वरूप मान लेता है। इनमें से शुद्ध परामर्श में किसी प्रतियोगी (विरोधी) पदार्थ की सत्ता न रहने से कोई भी अपोहनीय (त्याज्य) नहीं है। घट आदि बाह्य पदार्थ भी उस प्रकाशस्वरूप परम तत्त्व से ही अपना अस्तित्व बनाते हैं, अत: वे उससे अभिन्न ही हैं, उसके विरोधी नहीं। इस अवस्था में जब कोई स्थिति अपोहनीय नहीं है, तो वह विकल्प कैसे हो सकती है? इसके विपरीत अशुद्ध (मायीय) परामर्श से वेद्यरूप शरीर आदि में उससे भिन्न देह, घट आदि का भी व्यपोहन (व्यवच्छेद=भेद) विद्यमान है। इसी भेददशा की प्रतीति को विकल्प के नाम से जाना जाता है। बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद में भी विज्ञान अथवा शून्य के अतिरिक्त सभी जागतिक पदार्थ विकल्प-स्वरूप ही माने गये हैं।

विद्या (दस महाविद्या)

उपनिषदों में नाचिकेतसी विद्या आदि पदों से उन उन ऋषियों के द्वारा किये गये आत्मविद्या-सम्बन्धी व्याख्यानों को विद्या के नाम से जाना जाता

है। वाल्मीकि रामायण में भी बला और अतिबला विद्याओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु तन्त्रशास्त्र में पुरुष- देवताओं के मन्त्रों के लिये मनु शब्द और स्त्री-देवताओं के मन्त्रों के लिये विद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। शाक्त तन्त्रों में दस महाविद्या के नाम से काली, तारा, षोडशी (सुन्दरी = त्रिपुरा), भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी और कमला—ये देवियाँ प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः मन्त्र या विद्या ही देवता का स्वरूप है, इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त दस विद्याओं की विशिष्टता के आधार पर इनको महाविद्या कहा गया है। ये शाक्तों की उपास्य विशिष्ट शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों की उपासना करने वाले ही वस्तुतः शाक्त कहे जाते हैं। शक्तिसङ्गम जैसे तन्त्र-ग्रन्थों में इन महाविद्याओं के मूल स्थान, जयन्ती आदि का तथा किस क्रम, मत या मार्ग से किस महाविद्या की उपासना की जाय, इत्यादि विषयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। शाक्तप्रमोद नामक ग्रन्थ में भी इन महाविद्याओं की उपासना-विधि संगृहीत है।

इन दस महाविद्याओं में काली, तारा और त्रिपुरा की उपासना का विशेष प्रचार है। काश्मीर और केरल में कभी क्रम-दर्शन की पद्धति से काली की उपासना की जाती थी। आजकल काली की उपासना बंगाल में प्रचलित है, किन्तु उसका आधार क्रम-दर्शन नहीं है। तारा की उपासना बौद्ध और शाक्त उभय सम्प्रदायों में अपनी अपनी पद्धति से प्रचलित है। सम्प्रति तारा की उपासना मिथिला में तथा उग्रतारा की उपासना असम राज्य में होती है। त्रिपुरा की उपासना कश्मीर, केरल और गौड पद्धति के अनुसार आज भी पूरे देश में व्याप्त है। काली, तारा और त्रिपुरा सम्प्रदाय का विपुल वाङ्मय आज भी उपलब्ध है।

विशुद्धि चक्र

अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ में धूम के समान धूसर वर्ण का विशुद्धि चक्र स्थित है। इसको विशुद्धि चक्र इसलिये कहा जाता है कि यह जीव को विशुद्ध बनाता है। जीव इस चक्र में हंस मन्त्र (अजपा गायत्री) का साक्षात्कार कर सकता है। यह आकाश तत्त्व का प्रतीक है। यह षोडशदल कमल है। इन दलों में रक्त वर्ण अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वरों की स्थिति मानी जाती है। इस कमल की कर्णिका में पूर्ण चन्द्र की कान्ति से भासुर वृत्ताकार नभोमण्डल है। इसमें आकाश बीज **हं** का ध्यान किया जाता है। इस बीज के चार हाथ

पाश, अभय, अंकुश और वरद मुद्रा से अलंकृत हैं और यह श्वेत वर्ण के हाथी पर आरूढ है। सदाशिव इसके देवता हैं और शक्ति का नाम है शाकिनी। इस चक्र की साधना से साधक के लिये मोक्ष का द्वार उन्मुक्त हो जाता है (षट्चक्रनिरूपण प्रक० ६, श्रीतत्त्वचिन्तामणि)।

विश्वाहन्ता

तान्त्रिक दर्शन इस विश्व को अलीक या माया का खेल नहीं मानता। उसकी दृष्टि से यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना कि प्रत्येक दर्शन का अपना परम तत्त्व होता है। सब कुछ परम-तत्त्वमय है, उसकी शक्तियों का विलास है। परमतत्त्व अपनी कुछ शक्तियों को समेट कर परिमित प्रमाता बन जाता है और पुन: वही अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपरिमित प्रमाता, पूर्ण प्रमाता हो जाता है। परिमित प्रमाता जीव और अपरिमित प्रमाता परमतत्त्व (शिव या शक्ति) है। अज्ञ जीव की अहन्ता (अपनापन) अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु वह भी अपनी इस अहन्ता का विस्तार पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, राष्ट्र आदि तक कर लेता है। इसी पद्धति से सारे विश्व के साथ अपनी अहन्ता का विस्तार कर लेना ही विश्वाहन्ता कही जाती है। इस विश्वाहन्ता का प्रतिपादन आगम और तन्त्र-ग्रन्थों में, विशेषकर कश्मीर और केरल में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। जीव और शिव ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। जीव जब जान जाता है कि मैं ही शिव हूँ, तो उसको यह सारा विश्व शिवस्वरूप ही नजर आता है और इस से वह सारे विश्व को अहन्ता से ओत-प्रोत पाता है। यही स्थिति शास्त्रों में विश्वाहन्ता के नाम से कही गयी है। इस विषय के विशेष अध्ययन के लिये विरूपाक्षपञ्चाशिका, विज्ञानभैरव, महार्थमञ्जरी, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

विष

विज्ञानभैरव के ६७ वें श्लोक में वह्नि और विष शब्दों की चर्चा आयी है। यहाँ वह्नि का अध: कुण्डलिनी से और विष का ऊर्ध्व कुण्डलिनी से सम्बन्ध है। अध: कुण्डलिनी में प्रवेश (आवेश) संकोच अथवा वह्नि कहलाता है और ऊर्ध्व कुण्डलिनी में प्रवेश विकास अथवा विष कहलाता है। वह्नि का प्राण

से सम्बन्ध है और विष का अपान से। अध: कुण्डलिनी के मध्य के शेष भाग और उसके पूर्ण अग्र भाग से लेकर ऊर्ध्व कुण्डलिनी तक में आवेश अथवा प्रवेश विष कहलाता है। इस प्रसङ्ग में विष शब्द का अर्थ जहर नहीं है। विष शब्द विष्लृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है—व्याप्त होना, फैल जाना। तदनुसार विष का अर्थ है प्रसरण अथवा विकास। जहर को विष इसीलिये कहते हैं कि वह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह अपान को द्वादशान्त तक ले जाता है, अर्थात् उसको सारे शरीर में फैला देता है। इससे जीवभाव का विकास होता है। विष शब्द इसी दशा का बोधक है।

योगशास्त्र में मानव शरीर स्थित आधारों की चर्चा आयी है। इनमें से विष नामक आधार की स्थिति लिङ्ग के मध्य में मानी जाती है। योगिनीहृदय (१.२५) में इसके लिये विषु शब्द प्रयुक्त हुआ है। नित्याषोडशिकार्णव (५.१) और तन्त्रालोक (३.१६५-१७०) में विष तत्त्व के रूप में इसका वर्णन मिलता है। गोरक्षनाथ कृत अपरौघशासन (पृ. ८-९) में भी यह विषय चर्चित है।

विषुवसप्तक

योगिनीहृदय (३.१७६-१७७) में बताया गया है कि मन्त्र के जप के समय शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक और विषुवसप्तक की भावना करनी चाहिये। प्राण-विषुव, मन्त्र-विषुव, नाडी-विषुव, प्रशान्त-विषुव, शक्ति-विषुव, काल-विषुव और तत्त्व-विषुव—ये सात प्रकार के विषुव हैं। योगिनीहृदय (३.१८२-१८९) में ही वर्णित है कि प्राण, आत्मा तथा मन के परस्पर योग को प्राण-विषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को निज आत्मा समझकर उसकी भावना करना मन्त्र-विषुव है। मूल मन्त्र के द्वारा छ: चक्र तथा द्वादश ग्रन्थियों का क्रमशः भेदन होने पर मध्य नाडी में नाद का स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीजशिखरवर्ती नाद के उच्चरित होने पर नाडी-विषुव की निष्पत्ति होती है। शक्ति में नादान्त पर्यन्त मन्त्र के अवयवों की लय-भावना प्रशान्त-विषुव कहलाती है। शक्तिमध्यगत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को शक्ति-विषुव कहा जाता है। उन्मना पर्यन्त नाद के चिन्तन को काल-विषुव कहते हैं। काल-विषुव के बाद तत्त्व-विषुव की स्थिति है। उन्मना के ऊपर उन्मना के भेद के साथ साथ नाद का भी लय हो जाता है। तभी तत्त्वबोध, अर्थात् स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार हो पाता है। इसलिये तत्त्व-विषुव को ही चैतन्य की अभिव्यक्ति

का स्थान माना जाता है। यह परमपद नैसर्गिक आनन्द से परिपूर्ण है। यही परमशिव की स्वाभाविक अवस्था है।

वृन्दचक्र

वृन्द (सन्दोह), अर्थात् समूहात्मक चक्र को वृन्दचक्र कहा जाता है। यह पहले ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध के भेद से पाँच प्रकार का और पुनः ६४ प्रकार का होता है। इनमें से ज्ञानसिद्ध के सोलह, मन्त्रसिद्ध के चौबीस, मेलापसिद्ध के बारह, शाक्तसिद्ध के आठ और शाम्भवसिद्ध के चार भेद होते हैं। सब मिलाकर इनकी संख्या ६४ हो जाती है। ६५ वीं कालसङ्कर्षिणी शक्ति इन सबमें अनुस्यूत होकर रहती है। सभी प्राणियों का मङ्गल करने वाली यह शक्ति भगवती महाराज्ञी मङ्गला के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यह वृन्दचक्र धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित्, भाव, पात और अनिकेत के भेद से अष्टधा स्फुरित होता है। ज्ञानसिद्ध आदि की क्रमशः कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य नामक धामों में स्थिति मानी जाती है। करङ्किणी, क्रोधनी, भैरवी, लेलिहाना और खेचरी क्रमशः इनकी मुद्राएँ हैं। विज्ञानभैरव के ७७-८१ श्लोकों में इनका लक्षण बताया गया है। ज्ञानसिद्ध षोडश स्वरमय और मन्त्रसिद्ध ककार से लेकर मकार पर्यन्त व्यञ्जनमय है। स्वर और व्यञ्जनों से मिली बारह मात्राएँ अथवा प्रणव की कलाएँ मेलापसिद्ध हैं। यकार से लेकर हकार पर्यन्त आठ व्यञ्जन शाक्तसिद्ध और आद्य वर्ण अकार की अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री नामक चार कलाएँ शाम्भवसिद्ध कहलाती हैं। रौद्री, वामा, अम्बिका, ज्येष्ठा और इन सबकी समष्टि पञ्चमी शक्ति क्रमशः उक्त ज्ञानसिद्ध आदि की कलाएँ हैं। आलोचन, परामर्श, स्वात्मविश्रान्ति, वासनाशान्ति और स्वात्मसंविन्मात्रता ये पाँच संवित् के स्वरूप उक्त ज्ञानसिद्ध आदि में रहते हैं। भाव का अर्थ है स्वभाव। ज्ञानसिद्ध आदि क्रमशः प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण, शुद्धप्रमाता और परमशिव स्वभाव के माने गये हैं। शाम्भवसिद्ध आदि में वामेश्वरी आदि पाँच शक्तियों की अथवा ज्ञानसिद्ध आदि में सृष्टि आदि कृत्यपञ्चक की स्थिति को पात कहते हैं। पात-क्रम से विपरीत सभी विकल्पात्मक क्षोभों के शान्त हो जाने पर नामरूपातीत स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा ही अनिकेत है। इन्हीं आठ रूपों में वृन्दचक्र की उपासना की जाती है। इस वृन्दचक्र को सूक्ष्म पीठ कहा गया है। इस वृन्दचक्र की नायिका कालसङ्कर्षिणी

अथवा भगवती मङ्गला शक्ति है। गुरुपंक्ति में सर्वप्रथम इनकी उपासना विहित है (महार्थमञ्जरी, पृ. ८९-९५)।

वैखरी

संस्कृत पवन से प्रेरित शब्दब्रह्म कण्ठ आदि स्थानों में अभिव्यक्त होकर अकार आदि वर्णों के रूप में कान से स्पष्ट सुनाई पड़ने लगता है, तो वह बीज के रूप में प्रकाशित होता है। इसीको वैखरी वाक् कहते हैं। सामान्य व्यक्ति मातृका के किसी वर्ण को सुनता है, तो उसको केवल वैखरी वाणी का ही बोध होता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाक् से इसकी क्रमशः कैसे अभिव्यक्ति हुई, इस बात को वह समझ नहीं पाता। स्थान, करण, प्रयत्न आदि से अभिहत पवन से इसकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिये इसका नाम हत है। **वै** अर्थात् निश्चय ही स्पष्टतर रूप से, **ख** अर्थात् कर्णविवरवर्ती आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय में यह पहुँचती है (**राति**), अतः इसको वैखरी कहते हैं। योगिनीहृदय (१.४०) में इसको रौद्री शक्ति कहा गया है।

शक्तित्रितय

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक, मातृ-मान-मेयात्मक अथवा वामा-ज्येष्ठा-रौद्र्यात्मक शक्तित्रय का प्रतिपादन त्रिपुरा आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मिलता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रधानतया शक्ति के परा, परापरा और अपरा नामक तीन भेद माने जाते हैं। तन्त्रालोक, विज्ञानभैरव आदि ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है। तन्त्रालोक (१.५) में बताया गया है कि स्वातन्त्र्य शक्ति को ही परा कहा जाता है। वही जब क्रम की सृष्टि करना चाहती है, तो परापरा और क्रम रूप होकर अपरा कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वातन्त्र्यशक्ति, क्रमसंसिसृक्षा और क्रमात्मता के रूप में विद्यमान शिव, शक्ति और नरात्मक भगवान् की विभूतियाँ ही उक्त त्रिविध रूपों में भासित होती हैं। इनमें परा देवी का स्वरूप निष्कल, परापरा का निष्कल-सकल और अपरा का स्वरूप सकल माना जाता है।

शक्तिपात

साधक या शिष्य पर ईश्वर या गुरु की कृपा को शक्तिपात कहा जाता है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों का यह एक पारिभाषिक शब्द है।

पञ्चकृत्यकारी (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह) प्रभु की अनुग्रह शक्ति का यह व्यापार है। ईश्वर या गुरु अपनी शक्ति का सञ्चार साधक या शिष्य के हृदय में कर देता है, जिससे कि उसकी बुद्धि निर्मल होकर विवेकोन्मुख हो उठती है, स्वात्मस्वरूप की खोज में लग जाती है। अभिनवगुप्त ने शक्तिपात के लक्षण, भेद आदि के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों की आलोचना करते हुए अपने विशाल ग्रन्थ तन्त्रालोक के तेरहवें आह्निक (भा. ८, पृ. १-२१४) में विस्तार से विचार किया है।

शब्दब्रह्म

कारण बिन्दु जब कार्य बिन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति के लिये उन्मुख होकर टूटता है, तो उस दशा में अव्यक्त, शब्दब्रह्म नाम का रव उत्पन्न होता है (प्र०सा० १.४४)। इस रव का कारण बिन्दु से तादात्म्य रहता है, इसलिये यह सर्वगत है, तो भी इसकी अभिव्यक्ति मूलाधार में ही होती है। सभी प्राणियों में निवास करने वाला चैतन्य ही यहाँ शब्दब्रह्म के नाम से जाना गया है। यह प्राणियों के शरीर में कुण्डलिनी का रूप धारण करके रहता है और परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से वर्ण रूप में अभिव्यक्त होता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिये व्यञ्जक के प्रयत्न से संस्कृत पवन की आवश्यकता पड़ती है। कारण बिन्दु का यह अभिव्यक्त स्वरूप शब्दब्रह्म कहलाता है और मूलाधार में निस्पन्दावस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इस शब्दब्रह्ममयी कुण्डलिनी से ही ४२ अक्षरों वाली भूतलिपि एवं ५० या ५१ अक्षरों वाली मातृका की उत्पत्ति होती है और यही शक्ति ध्वनि तथा नाद की भी जननी है। शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी से होती है।

शाक्त उपाय

सत्तर्क, सदागम और सद्गुरु की सहायता से जब साधक उच्चार, करण आदि विकल्प व्यापारों का शोधन कर लेता है, अर्थात् इन सबमें स्वात्मस्वरूप का ही दर्शन करने लगता है, तो उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास होता है। वह जान जाता है कि यह सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, मेरा शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो इससे भी परे है। इस तरह सार्वात्म्य भावना के सहारे साधक के चित्त में शुद्ध विकल्पों की सृष्टि होने लगती है, अर्थात् वह सभी जागतिक

पदार्थों को अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् नहीं देखता, उन सबमें अपने शुद्ध स्वरूप की ही भावना करता है।

शान्ता

प्रकाश और विमर्श-स्वभाव शिव और शक्ति के सामरस्य से ही शब्द और अर्थ स्वरूप षडध्वात्मक जगत् की सृष्टि होती है। प्रकाश-स्वभाव शिव शान्ता, इच्छा, ज्ञाना और क्रिया के रूप में परिणत होकर अर्थात्मक जगत् की और विमर्श-स्वभाव शक्ति अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री रूप में परिणत होकर वागात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं (योगिनीहृदयदीपिका, पृ. ५५-५७)। इस तरह से शान्ता इच्छा से भी ऊपर उठी हुई पारमेश्वरी शक्ति को कहते हैं।

शाम्भव उपाय

यह सारा जगत् शिवमय है। यह जगत् बोधगगन में उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि दर्पण में मुँह का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो किसी दूसरे पदार्थ में संक्रान्त होकर ही प्रकाशित होता है, उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं (तन्त्रसार, पृ. १०, तन्त्रालोक ३.५३)। जैसे कि दर्पण आदि में दिखाई पड़ने वाली प्रतिकृति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, दर्पण आदि में संक्रान्त होने पर ही वह दिखाई पड़ती है। बिम्ब की तो स्वतन्त्र सत्ता होती है। यह बिना किसी की सहायता के प्रकाशित होता है। जैसे कि मुख स्वयं भासित होता है। इसको प्रकाशित करने के लिये दर्पण जैसे पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरी के समान शिवमय दर्पण में भासित हो रहा है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दर्पण में भासित हो रहा प्रतिबिम्ब (मुख की प्रतिकृति) बिना बिम्ब (मुख) के प्रकाशित नहीं होता। इसी तरह से दर्पणस्थानीय शिव में प्रकाशित हो रहे प्रतिबिम्बस्थानीय इस जगत् के बिम्ब की भी सत्ता होनी चाहिये। आप यह बताइये कि वह बिम्बस्थानीय पदार्थ क्या है? शास्त्रकारों ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि वस्तु के स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न करना व्यर्थ है। अग्नि गरम होती है। पानी ठंडा होता है। यह इनका स्वभाव है। इस तरह से शिव का यह स्वभाव है कि वह अपने में ही अपने विज्ञानमय स्वरूप को जगत् के रूप में भासित होने देता

है। ईश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का यह सारा खेल है कि शिवमय दर्पण में बिना बिम्ब की सत्ता के भी यह जगत् रूपी प्रतिबिम्ब भासित होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिव के निर्विकल्प स्वरूप के अतिरिक्त इस जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इस निर्विकल्प शून्य स्थिति में अपने चित्त को समाहित करने का प्रयास ही शाम्भव उपाय है।

शून्य

शून्य तत्त्व परमार्थत: अभावात्मक नहीं है, किन्तु सभी आलम्बन धर्मों से, सभी तत्त्वों से और सभी क्लेशाशयों से शून्य पदार्थ को ही शून्य कहा गया है। इस तरह से किसी अवर्णनीय, अविज्ञेय अवस्था (स्वातन्त्र्य शक्ति) को ही शाक्त और शैव मत में शून्यता माना गया है। इसका विवेचन विज्ञानभैरव के १२४ वें श्लोक की व्याख्या में विमर्शदीपिका के और १३१ वें श्लोक की व्याख्या में चन्द्रज्ञान नामक ग्रन्थ के प्रमाण पर विस्तार से किया गया है।

शाक्त और शैव मत में तथा सन्त साहित्य में शून्य और शून्यातिशून्य (महाशून्य) शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। आणव उपाय और मध्यनाडी सुषुम्णा के प्रसङ्ग में आये इन शब्दों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। स्वच्छन्दतन्त्र (७.५७) की टीका में क्षेमराज ने शून्य को माया का और शून्यातिशून्य को महामाया का बोधक माना है। समना पर्यन्त अर्धमात्रा की स्थिति शून्य में और उन्मना की स्थिति शून्यातिशून्य पदवी में मानी गयी है। मध्यधाम सुषुम्णा और शिवतत्त्व के अर्थ में भी क्रमश: शून्य और शून्यातिशून्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। मध्यनाडी के भीतर चिदाकाश रूप शून्य का निवास माना गया है। शून्यातिशून्य के उच्चारण का तात्पर्य उन्मना पर्यन्त पिण्ड मन्त्र के उच्चारण के अभ्यास से है। उन्मना की स्थिति शून्यावस्था में मानी गयी है और उसको **शून्या** कहा गया है।

शून्यषट्क

स्वच्छन्दतन्त्र (४.२८९-२९६) और योगिनीहृदय (३.१७७-१७८) में शून्यषट्क का विवरण मिलता है। दीपिकाकार योगी अमृतानन्द ने बताया है कि छ: शून्यों का स्वरूप विज्ञानभैरव के ३२ वें श्लोक से जानना चाहिये। स्वच्छन्दतन्त्र में पहले ऊर्ध्वशून्य, अध:शून्य और मध्यशून्य नामक तीन शून्य

प्रतिपादित हैं। विज्ञानभैरव के ४४ वें श्लोक की टीका में उद्धृत वासुदेव के वचन में भी ये ही तीन शून्य गिनाये गये हैं। क्षेमराज ने नादान्त पर्यन्त समस्त पाशों के क्षय के कारणभूत शक्ति पद को ऊर्ध्वशून्य, हृदय को अध:शून्य और कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र को मध्यशून्य माना है। व्यापिनी में चतुर्थ, समना में पञ्चम और उन्मना में षष्ठ शून्य की स्थिति मानी गयी है। ये सभी शून्य सामय (सहेतुक) माने गये हैं। इनका परित्याग कर सप्तम शून्य में लीन होने का प्रयत्न साधक को करना चाहिये। यह सप्तम शून्य परम सूक्ष्म है, सभी अवस्थाओं से अतीत है। वस्तुत: यह चिदानन्दघन परमशिव तत्त्व शून्य नहीं है, तो भी इसको शून्य कह दिया जाता है। शून्य अभावात्मक होता है। इस शिवतत्त्व को शून्य इसलिये कहा जाता है कि यहाँ आकर सभी जागतिक पदार्थों का क्षय (अभाव) हो जाता है। इस तरह से अभावात्मक शून्यों की संख्या छ: ही है। यह सप्तम शून्य अभावात्मक नहीं है। अत: इसके कारण अभावात्मक शून्यों की संख्या में वृद्धि न होने से शास्त्रों में छ: ही शून्य माने गये हैं।

शृङ्गाट

त्रिपुरा-दर्शन में त्रिकोण को शृङ्गाट कहा गया है। मूलाधारगत चतुर्दल पद्म के मध्य में स्थित त्रिकोण में कुल शक्ति का आसन है। इसको शृङ्गाट पीठ कहा जाता है। शृङ्गाट (सिंघाड़ा) फल का आकार त्रिकोणात्मक है। अत: इस दर्शन में प्राय: त्रिकोण के स्थान में शृङ्गाट पद का ही प्रयोग हुआ है। शृङ्गाट के मध्य भाग में वामा आदि और इच्छा आदि पाँच-पाँच शक्तियों को अपने में समेटे हुए नाम और रूप से रहित बिन्दु तत्त्व की स्थिति मानी जाती है। इसीको बीज भी कहते हैं। इसमें विमर्श शक्ति विराजमान है। स्वेच्छा से इसमें स्पन्दन होता है। बीज से अंकुर के समान इसमें से एक सूक्ष्म रेखा निकलती है। तिरछी होकर यह बिन्दु के दक्षिण भाग से ईशान कोण तक जाती है। इसको वामा शक्ति कहते हैं। ईशान कोण से चलकर यह रेखा आग्नेय कोण तक सीधी आती है। इस रेखा को ज्येष्ठा शक्ति कहते हैं। आग्नेय कोण से तिरछी चलकर यह रेखा प्रथम रेखा से मिल जाती है। इसको रौद्री शक्ति कहते हैं। इस तरह से शृङ्गाट का आकार पूरा हो जाता है। शृङ्गाट के मध्य भाग में स्थित बिन्दु अम्बिका शक्ति का प्रतीक है। शृङ्गाट की उक्त तीन रेखाओं के अधिपति ओड्डनाथ, षष्ठनाथ और मित्रनाथ हैं। शृङ्गाट के मध्य में स्थित

बिन्दु में प्रकाश-विमर्शात्मक कामेश्वर और कामेश्वरी युगल- भाव में अवस्थित हैं। इसके अधिपति चर्यानाथ हैं। इसके अग्र कोण में कामेश्वरी (कामाख्या) की, दक्षिण में वज्रेश्वरी की, वाम भाग में भगमालिनी की और मध्य बिन्दु में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा की जाती है। इस शृङ्गाट पीठ के पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं में क्रमशः बाण, धनुष, पाश और अङ्कुश नामक चार आयुधों की पूजा होती है।

श्रीचक्र

विमर्शरूपिणी पराशक्ति प्रकाशस्वरूप परमशिव के साथ सदा अभिन्न रूप में अवस्थित है। महाशक्ति त्रिपुरा जब स्वेच्छा से अपनी स्फुरत्ता को देखना चाहती है, तब श्रीचक्र के रूप में इस सृष्टि का उदय होता है। कामकला के प्रसङ्ग में काम(रवि)बिन्दु और अग्नीषोमात्मक बिन्दुद्वय की चर्चा आयी है। काम-बिन्दु शून्याकार तथा बिन्दुद्वय विसर्गाकार है। इस बिन्दु और विसर्ग में लीलाभाव के जग जाने पर इन तीनों बिन्दुओं में स्फुरत्ता की लहरी उठने लगती है, उनमें स्पन्दन होने लगता है और परस्पर एक- दूसरे की ओर ये बहने लगती हैं। बहकर ये एकाकार हो जाती हैं, त्रिकोण का रूप धारण कर लेती हैं। इसी को बिन्दु और विसर्ग की लीला कहा जाता है।

इस त्रिकोण के मध्य में कामेश्वर और कामेश्वरी की सामरस्यावस्था के द्योतक महाबिन्दु की स्थिति मानी जाती है। यह महाबिन्दु परा वाणी का भी प्रतीक माना गया है। बिन्दुओं के प्रस्यन्द से बने त्रिकोण में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी की भावना की जाती है। इस त्रिकोण की स्वाभिमुखाग्र और पराङ्मुखाग्र के भेद से द्विविध स्थिति मानी जाती है। स्वाभिमुखाग्र स्थिति शक्ति के नाम से और पराङ्मुखाग्र स्थिति अग्नि अथवा शिव के नाम से अभिहित है। शक्तिचक्र सृष्टि और शिवचक्र संहार के प्रतीक हैं! पूर्वोक्त त्रिकोण के साथ जब शक्ति और शिव की सृष्टि और संहार की यह लीला जुड़ जाती है, तो नवयोनि चक्र की निष्पत्ति होती है। इसीको वसुकोण या अष्टकोण भी कहते हैं। बिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोण चक्र को अम्बिका शक्ति का विस्तार माना जाता है। इसकी नौ योनियाँ धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, माता, मान और मेय की प्रतीक हैं और इसके आठ कोणों पर १६ स्वरों को अङ्कित किया जाता है।

पूर्वोक्त सृष्टि और संहार की प्रक्रिया से जब शक्ति और वह्नि त्रिकोणों का विकास होता है, तो प्रथम दशार और द्वितीय दशार, अर्थात् अन्तर्दशार और बहिर्दशार चक्रों की निष्पत्ति होती है। इनमें से अन्तर्दशार पञ्च महाभूतों और पञ्च तन्मात्राओं का तथा बहिर्दशार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के दस विषयों का प्रतीक है। अन्तर्दशार में मकार से लेकर क्षकार पर्यन्त और बहिर्दशार में ककार से लेकर ञकार पर्यन्त दस-दस अक्षरों का विन्यास किया जाता है। इन बैन्दव आदि चक्रों का जब पुन: विकास होता है, तो चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है। यह मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रतीक है। इसमें टकार से लेकर भकार पर्यन्त १४ वर्णों का विन्यास किया जाता है।

प्रथम और द्वितीय दशार तथा चतुर्दशार चक्र रौद्री शक्ति का विस्तार है। पाँच शक्ति-चक्रों और चार शिव-चक्रों से निष्पन्न श्रीचक्र का मुख्य स्वरूप यहाँ परिपूर्ण हो जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि अब तक श्रीचक्र के छ: ही चक्र निष्पन्न हुए हैं। तीन चक्र अभी बाकी हैं। अत: अब तक परिनिष्पन्न चक्र को ज्येष्ठा शक्ति के प्रतीक चतुष्कोण, अर्थात् चतुरस्र चक्र तथा वामा शक्ति के प्रतीक तीन रेखाओं से, जिसमें कि अष्टदल और षोडशदल चक्रों की स्थिति भी मानी जाती है, अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार यह नवचक्रात्मक श्रीचक्र परिपूर्ण होता है। इनमें से महाबिन्दु और त्रिकोण चिदंशात्मक, अष्टकोण शान्त्यतीतकलात्मक, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार शान्तिकलात्मक, अष्टदल विद्याकलात्मक, षोडशदल प्रतिष्ठाकलात्मक तथा चतुष्कोण चक्र निवृत्तिकलात्मक माना गया है।

इन त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों में क्रमश: नाद, बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा नामक नौ शक्तियों का निवास है। इनमें से नाद और बिन्दु शान्ता:शक्ति के स्वरूप हैं। कला इच्छाशक्ति का, ज्येष्ठा ज्ञानाशक्ति का तथा रौद्री प्रभृति शक्तियाँ क्रियाशक्ति का विस्तार हैं। कामकला से विकसित श्रीचक्र का विस्तार यहाँ आकर पूरा होता है। चतुरस्र से लेकर महाबिन्दु पर्यन्त चक्रों के नाम क्रमश: त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिमय

और सर्वानन्दात्मक हैं। इन नौ चक्रों की समष्टि को ही त्रिपुराचक्र, महाचक्र तथा श्रीचक्र के नाम से अभिहित किया जाता है। योगिनीहृदय, नित्याषोडशिकार्णव जैसे त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में विविध रूपों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

षडङ्ग योग

अनुपाय शब्द की व्याख्या में बताया गया है कि यहाँ साधक उपाय के रूप में केवल सत्तर्क का सहारा लेता है। षडङ्ग योग में तर्क को भी योग का अंग माना गया है। शैव, वैष्णव, बौद्ध सभी सम्प्रदायों में षडङ्ग योग की चर्चा मिलती है। गुह्यसमाज तन्त्र (१८.१४०) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि— ये छः योग के अङ्ग माने गये हैं। श्रेद्धयचरण पण्डित गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति और साधना" (पृ. ५३७-५४०) में इस विषय पर अनेक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों की सहायता से अच्छा प्रकाश डाला गया है। भगवद्गीता के भास्कर-भाष्य (पृ. १२७) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि ये छः अङ्ग गिनाये गये हैं। यहाँ अनुस्मृति के स्थान पर तर्क नाम आया है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने षडङ्ग योग का उल्लेख किया है। वहाँ का क्रम इस प्रकार है— प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। विष्णुसंहिता में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, समाधि और ध्यान—यह क्रम मिलता है। विष्णुसंहिता (३०.६१-७२) में विस्तार से इनका विवरण भी मिलता है। इनमें तर्क के सिवाय अन्य अङ्ग पातञ्जल योग सम्मत ही हैं। इनके क्रम में भिन्नता मिलती है, किन्तु सर्वत्र तर्क को समाधि के साथ रखा गया है।

मालिनीविजय (१७.१८) और तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी अङ्गों में तर्क को श्रेष्ठ बताया गया है। विष्णुसंहिता (३०.६९-७०) में कहा गया है कि धारणा में जब चित्त संलग्न हो, तब अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से किया गया निश्चय ही तर्क कहलाता है। भारतीय वाङ्मय में सत्तर्क को बहुत पहले प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। निरुक्त (१३.१२) में बताया गया है—ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारे बीच ऋषि का कार्य कौन करेगा? इसके उत्तर में देवताओं ने मनुष्य को तर्कशक्ति दी कि अब यही तुम लोगों के लिये

ऋषि का कार्य करेगी। मनु (१२.१०६) आदि धर्मशास्त्रकारों ने भी शास्त्रों के अविरोधी सत्तर्क को मान्यता दी है। उपर्युक्त स्थल पर (पृ. १५-२०) तन्त्रालोक के टीकाकार ने अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर शास्त्रानुरोधी सत्तर्क की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि तर्क को अप्रतिष्ठित तभी माना जाता है, जब कि यह शास्त्रविरुद्ध हो।

जयरथ ने ऊह को तर्क का ही पर्याय माना है। मृगेन्द्रागम के योगपाद में योग के अङ्ग के रूप में वीक्षण (अभिवीक्षण) परिगणित है। उसीको ऊह भी कहा गया है और उसका प्रयोजन भी बताया गया है। बौद्ध पालि-वाङ्मय तथा तन्त्रों में वर्णित अनुस्मृति और अभिवीक्षण में पर्याप्त समानता है। वृत्तिकार नारायणकण्ठ ने यहाँ ऊह की पुष्टि में स्वायम्भुवागम को भी उद्धृत किया है। भगवद्गीता (१५.१५) के भाष्य में रामानुजाचार्य ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची माना है और इसकी परिभाषा यह की है—ऊह का कार्य यह देखता है कि किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति सही ढंग से हो रही है या नहीं? प्रमाण-प्रवर्तक सामग्री की परीक्षा करना भी इसीका कार्य है। इस तरह से ऊह प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान है। स्पष्ट है कि आगम और तन्त्र-शास्त्र में ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय में तर्क या ऊह की प्राचीन काल से प्रतिष्ठा चली आ रही है।

षडध्वा

शैव और शाक्त तन्त्रों में षडध्वप्रक्रिया के आधार पर भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की उपमा शब्द और अर्थ से दी है। शारदातिलक की टीका में उद्धृत वायवीयसंहिता के "शब्दजातमशेषं तु" प्रभृति वचन में बताया गया है कि पार्वती और परमेश्वर ही शब्द और अर्थ के रूप में परिणत होते हैं। महार्थमञ्जरीकार ने लिखा है कि अर्थस्वरूप तीन अध्वा प्रकाशमय शिव का अर्ध भाग है और शब्दस्वरूप तीन अध्वा विमर्शमय शक्ति का अर्ध भाग है। इस तरह से शब्द और अर्थमय यह सारा जगत् शिव के यामल स्वरूप से, अर्धनारीश्वर स्वरूप से उल्लसित होता है। प्रकाशमय शिव से कला, तत्त्व और भुवन की तथा विमर्शमय शक्ति से वर्ण, पद और मन्त्र की सृष्टि होती है। ये ही तन्त्रशास्त्र में षडध्व के नाम से परिभाषित हैं। भास्करराय ने

वरिवस्यारहस्य में इनको शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि का नाम दिया है। यह विभाग काश्मीर शैव दर्शन और शाक्त दर्शन को भी समान रूप से मान्य है।

इनमें से कला के पाँच भेद हैं—शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। तत्त्व ३६ हैं। इनको तीन भागों में बाँटा गया है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति और पुरुष—ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं। प्रकृति से लेकर पृथिवी-पर्यन्त सांख्य-सम्मत २४ तत्त्व अशुद्ध कहलाते हैं। अनाश्रित से कालाग्निरुद्र पर्यन्त भुवनों की संख्या २२४ है। वर्णों की संख्या ५०, पदों की ८१ और मन्त्रों की संख्या ११ है। शाक्त तन्त्रों में वर्णों की संख्या ५१ है। तान्त्रिक दीक्षा में षडध्व की शुद्धि अनिवार्य मानी जाती है। शैव और शाक्त तन्त्रों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

संवित्

"प्राक् संवित् प्राणे परिणता" (अनेक स्थलों पर उद्धृत भट्ट कल्लट का वचन), "संविदेव भगवती स्वान्तःस्थितं जगद् बहिः प्रकाशयति" (ऋजु. पृ. २७) इत्यादि स्थलों में संवित् शब्द पराहन्ता(पूर्णाहन्ता)मयी स्वातन्त्र्य शक्ति का वाचक है। शाक्त मत में यही परम तत्त्व के रूप में मान्य है। लक्ष्मीतन्त्र (१४.५) में संवित् को लक्ष्मी का स्वच्छ, स्वच्छन्द रूप बताया गया है। इस शब्द का प्रयोग विमर्श शक्ति के लिये भी किया जाता है। दार्शनिकों ने इस शब्द का प्रयोग विज्ञान अथवा ज्ञान सामान्य के अर्थ में भी किया है। क्रम-दर्शन में पञ्चवाह पद की व्याख्या करते समय व्योमवामेश्वरी, खेचरी आदि समष्टि-शक्तियों को और अन्तःकरण, बहिःकरण के माध्यम से बहने वाली व्यष्टि-शक्तियों को संविद्देवीचक्र के रूप में मान्यता दी गयी है।

संहारचक्र

संहारचक्र में ग्यारह कलाओं का कार्य देखने में आता है। जितने भाव आत्मस्वरूप से पृथक् होकर विक्षिप्त हैं, उनको फिर आत्मप्रकाश में वासनारूप से अवस्थापित करना ही **संहार** शब्द का अर्थ है। ग्यारह संहार-शक्तियाँ अन्तःकरण के समष्टिरूप अहंकार को तथा बाह्य दस इन्द्रियों को ग्रास करके स्फुरित होती हैं। यहाँ अहंकार ही प्रमाता, इन्द्रियाँ प्रमाण तथा इन्द्रियों की

विषयरूप समस्त ग्राह्य वस्तुएँ प्रमेय हैं। जो कलाएँ इन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को भीतर ग्रास करके प्रकाशित होती हैं, वे ही आत्मरूपी भगवान् की संहारिणी शक्तियाँ हैं। इन्हीं ग्यारह शक्तियों के सम्बन्ध के कारण परमेश्वर एकादश रुद्र संज्ञा को प्राप्त करते हैं (महार्थमञ्जरी, पृ. ९९-१००)।

सकल-निष्कल

स्वच्छन्दतन्त्र (७.२३८-२३९) में बताया गया है कि मन्त्र का जब तक उच्चारण किया जा सकता है और जब तक उसको लिखा जा सकता है या चित्रित किया जा सकता है, तभी तक वह सकल रहता है। निष्कल स्वरूप भेदातीत है। इसका अभिप्राय यह है कि सकल स्वरूप ही भेदातीत स्थिति में पहुँच कर निष्कल हो जाता है। मन्त्र के विषय में यहाँ जो बात कही गयी है, वही देवता के विषय में भी सही है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए योगिनीहृदय (१.२७-२८) में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र की सकल, सकलनिष्कल और निष्कल स्थिति का वर्णन किया गया है। आज्ञाचक्र पर्यन्त सकल, उन्मनी पर्यन्त सकल-निष्कल और महाबिन्दु में निष्कल रूप से भगवती स्थित हैं। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रतिपादित परा शक्ति की स्थिति निष्कल, परापरा की सकल-निष्कल और अपरा की सकल मानी गयी है। सेतुबन्धकार (पृ. ४६) भास्करराय का मत है कि सकल जीव सकल स्वरूप की, प्रलयाकल सकलनिष्कल की और विज्ञानाकल निष्कल स्वरूप की आराधना का अधिकारी है। सकल शब्द के अन्तर्गत कला पद का अर्थ उन्होंने अंश, अर्थात् अंशांशीभाव किया है। अंशांशीभाव जहाँ रहेगा, वहाँ भेद की स्थिति अवश्य रहेगी। अत: इस स्थूल अंशांशीभाव रूप मालिन्य से युक्त स्वरूप को सकल कहा जाता है। जो स्वरूप इस दोष से रहित होगा, वह निष्कल कहा जायगा। इसके लिये सगुण और निर्गुण शब्द भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

सकलीकरण

विरूपाक्षपञ्चाशिका की विद्याचक्रवर्ती-कृत विवृति (श्लो. ५१) में आचार्य योगीश्वर का एक वचन उद्धृत किया गया है। उसमें बताया है कि प्रकाशात्मक शिव के साथ विमर्शात्मक शक्ति की कूटस्थ एकात्मकता की प्रत्यभिज्ञा के उदित होने से जो परानन्द का आविर्भाव होता है, उसी का नाम सकलीकरण है। यह

सकलीकरण की अद्वैतवादी व्याख्या है। तान्त्रिक वाङ्मय में दीक्षा के प्रसङ्ग में इस शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। उक्त स्थल पर बताया गया है कि दाह और आप्यायन क्रिया के द्वारा सकलीकरण सम्पन्न होता है। प्राणायाम शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में शोष, दाह और आप्याय विधियों की चर्चा की गयी है। इन्हीं की सहायता से सकलीकरण प्रक्रिया सम्पन्न होती है। पाञ्चभौतिक देह स्थित मल का, पापपुरुष का शोष और दाह हो जाने के उपरान्त देवत्व-भावना से देह को आप्यायित करना ही सकलीकरण है। मृगेन्द्रतन्त्र क्रियापाद (३.४-१०) में बताया गया है कि इसमें ईशान की ५ कला, तत्पुरुष की ४, अघोर की ८, वामदेव की १३ और सद्योजात की ८, इस प्रकार शिव की कुल ३८ कलाओं से साधक के देह को आप्यायित किया जाता है।

समयमत

वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार द्वारा रचित संहिताएँ शुभागमपञ्चक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित तान्त्रिक साधना का मार्ग समयाचार के नाम से अभिहित है। समयाचार का अभिप्राय है आन्तर वरिवस्या में अभिरुचि। समय मत में समय, अर्थात् सादाख्य तत्त्व की सपर्या आन्तर सहस्त्रदल कमल में की जाती है, बाह्य पीठ आदि में नहीं। श्रीचक्र को वियच्चक्र भी कहते हैं। दहराकाश और बाह्याकाश में भी इसकी पूजा होती है, अत: इसको वियच्चक्र कहा जाता है। इस मत में दहराकाश, अर्थात् हृदयस्थित आकाश में श्रीचक्र की पूजा की जाती है। इसी को समयपूजा कहते हैं। पाँच शक्ति-चक्र और चार वह्नि-चक्रों के संयोग से श्रीचक्र बनता है। स्वाभिमुख त्रिकोण-परम्परा को शक्ति तथा ऊर्ध्वमुख त्रिकोण-परम्परा को वह्नि कहा जाता है। समय मत में यही स्थिति मान्य है। इस मत में सृष्टिक्रम से श्रीचक्र की रचना की जाती है। शाङ्कर मत के अनुयायी इसी विधि से श्रीचक्र की पूजा करते हैं। सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने इस मत का विस्तार से निरूपण किया है।

समावेश

समावेश, समापत्ति, समाधि—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। समाधि के अर्थ में समापत्ति शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। समावेश

दशा में व्यक्ति अपने बाह्य स्वरूप को भूल जाता है और अपने इष्टदेव के स्वरूप में समाविष्ट (लीन) हो जाता है। समावेश का लक्षण और उसके भेदों का, विशेष कर शाम्भव, शाक्त और आणव समावेशों का निरूपण तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक (पृ. २०५-२५५) में विस्तार से मिलता है। आणव, शाक्त और शाम्भव नामक उपायों का सहारा लेकर साधक आणव, शाक्त और शाम्भव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। भगवद्गीता (९.२३ तथा १२.३-५) में बताया गया है कि अन्य देवताओं की उपासना करने से और अक्षर ब्रह्म की उपासना करने से भी भगवत्पद की ही प्राप्ति होती है, किन्तु अन्य उपायों के अनुष्ठान में अधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। इसी तरह से आणव आदि विभिन्न उपायों का सहारा लेने पर भी साधक को एक ही परमपद की प्राप्ति होती है। फल की प्राप्ति में कोई भेद नहीं रहता। उपायों के अनुष्ठान में ही तरतमभाव रहता है।

उपायों की भिन्नता में शक्तिपात के तीव्र, मध्य, मन्द आदि भेदों को ही कारण माना गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि मन्द शक्तिपात होने पर आणव उपाय का, मध्य शक्तिपात में शाक्त उपाय का और तीव्र शक्तिपात में शाम्भव उपाय का सहारा लेने में साधक समर्थ होता है। इन सबका प्रयोजन स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। अनुपाय प्रक्रिया से भी वही स्वात्मस्वरूप प्रकाशित होता है और आणव उपाय से भी। इस प्रकार आलम्बन का भेद होने पर भी समावेश दशा में कोई भेद नहीं रहता। आणव-समावेश, शाक्त-समावेश और शाम्भव-समावेश दशा एक ही है। उपायों के भेद के कारण समावेश दशा में भेद आरोपित कर लिया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अभिनव-गुप्त ने तन्त्रसार (पृ. ४३) में कहा है—

नैषां परफलविधौ कापि हि भिदा।

सहस्रार चक्र

आज्ञा चक्र के ऊपर महानाद की और इसके ऊपर शंखिनी नामक नाडी के शिखर भाग के शून्य-स्थान में ब्रह्मरन्ध्रस्थित विसर्ग के नीचे सहस्रदल पद्म की स्थिति मानी जाती है। इस अधोवक्त्र सहस्रार पद्म के दल प्रात:कालीन सूर्य की किरणों के समान कमनीय कान्ति वाले हैं। इसमें अकारादि-क्षकारान्त

सभी वर्ण विराजमान हैं। सहस्रार पद्म में पचास-पचास दलों की पचीस आवृत्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पचास दलों की आवृत्ति में पचास वर्णों की स्थिति मानी जाती है। इस सहस्रार चक्र की कर्णिका में निष्कलङ्क चन्द्रमण्डल निरन्तर प्रकाशित रहता है। इस चन्द्रमण्डल के मध्य में त्रिकोण और त्रिकोण के मध्य में परबिन्दु की स्थिति मानी गयी है। कुछ आचार्यों के मत से सहस्रार स्थित इस त्रिकोण के बाहर अ, क और थ के क्रम से सोलह-सोलह वर्णों की तथा त्रिकोण के भीतर ह, क्ष और ळ वर्णों की स्थिति रहती है। इस बिन्दु-स्थान में ही हंस-पीठ पर भगवान् परमशिव निवास करते हैं। परमशिव के नीचे परमहंस नामक अन्तरात्मा की स्थिति मानी गयी है। इस सहस्रार कमल की कर्णिका में शैवों के अनुसार शिव, वैष्णवों के अनुसार विष्णु, शाक्तों के अनुसार शक्ति का निवास है। इस स्थान में अपने इष्टदेवता का साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त साधक पुनः संसार के आवागमन के चक्र में कभी नहीं पड़ता और इसमें सृष्टि और संहार करने का भी सामर्थ्य आविर्भूत हो जाता है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्र-प्रकरण, प्रक० ६)।

सुरतयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि योग की सभी शाखाओं में नादानुसन्धान की महिमा वर्णित है। प्राचीन वैयाकरण इसका वाग्योग (शब्दयोग) के रूप में वर्णन करते है। मध्य युग के सन्त-महात्मा सुरतयोग के नाम से जिस योग मार्ग का अनुसरण करते हैं, वह इस वाग्योग का ही विस्तार है। सुरत शब्द सुरति शब्द का अपभ्रंश माना जाता है। सुरति का अर्थ है स्मृति। यह सुरति अनाहत नाद को अपना लक्ष्य बनाकर उसकी ओर क्रमशः अग्रसर होती है और अन्त में इस शब्दब्रह्म नामक परमतत्त्व को आत्मसात् कर लेती है। सहज समाधि-दशा शब्द एवं सुरति के संयोग का ही परिणाम है। अनुभवी सिद्ध आचार्य अमृत वाग्भव जी के कथनानुसार नादयोग के अभ्यास से मन्त्र स्पष्ट सुनायी देते हैं। उसी को श्रुति कहते हैं। प्राचीन ऋषियों को भी इसी तरह से मन्त्रों की श्रुति प्राप्त हुई थी। श्रुति शब्द का ही अपभ्रंश सुरति है।

प्रसिद्ध सन्त दरिया साहब ने अपने 'शब्द' नामक ग्रन्थ में विहङ्गम योग का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि सुरति और निरति इन दोनों का समन्वय कर सकने पर ही योगसाधना सिद्ध होती है। सुरति एक असाधारण

दृष्टि है। इस दृष्टि के खुलने पर भाँति भाँति के सुन्दर दृश्य और शब्दों का अनुभव होता है। निरति से निर्विकल्पक ध्यान का बोध होता है। इसमें दृश्य का भान बिलकुल ही नहीं रहता। निरतिहीन, अर्थात् निर्विकल्प ध्यानरहित शुद्ध सुरति जैसे सिद्धिलाभ के लिये उपयोगी नहीं होती, वैसे ही असाधारण दृष्टिरूप सुरतिरहित शुद्ध निरति, अर्थात् निर्विकल्पक ध्यान भी उपयोगी नहीं होता। दोनों का सामञ्जस्य होने पर ही योगी इष्टसाधन में सफलता प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में सुरतयोग की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन वस्तुतः नाडीशुद्धि का ही नामान्तर है। सिद्धाचार्य लुइपाद कहते हैं कि चन्द्र शुद्ध होकर 'आलि' कहा जाता है। इस शोधन का फल धवन (या धमन) है। सूर्य शुद्ध होकर 'कालि' कहा जाता है। इसका फल चवन (या चमन) है। आलि और कालि का संयोग ही वज्रसत्त्व की अधिष्ठान-भूमि है, विशुद्ध चन्द्र और सूर्य मिलकर जब ऐक्यलाभ करते हैं, तब उस अद्वैत भूमि पर वज्रसत्त्व का आविर्भाव होता है। यह संयोग आरब्ध होकर क्रमशः चलता रहता है एवं उसी अनुपात में शून्यता, अद्वयभाव, आनन्द या रति और नैरात्म्यबोध या बोधि गम्भीरभाव से उपलब्ध होने लगते हैं। इस संयोग अथवा मिलन का पारिभाषिक नाम 'सुरत' अथवा शृङ्गार है एवं इसका फल रस की अभिव्यक्ति है (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ. २७९; तन्त्र और सन्त, पृ. २६४; भारतीय संस्कृति और साधना, भा. २, पृ. ४३, २५९)।

सुषुम्णा नाड़ी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त नाड़ियों में से तीन नाडियाँ मुख्य हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। सुषुम्णा इनमें प्रधानतम है। शरीर के मध्य भाग में इसकी स्थिति है। चूकि यह इडा और पिंगला दोनों नाडियों से सम्बद्ध है, अतः इसको अग्नीषोमात्मक माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों में उक्त तीनों नाडियों को सोम, सूर्य और वह्नि का धाम तथा वाम, दक्षिण और मध्य पवन का आधार माना गया है। सुषुम्णा शरीर के मध्य भाग में पृष्ठवंश में स्थित है। ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इसकी गति है। सुषुम्णा नाडी प्रधानतम इसलिए मानी जाती है कि इडा और पिङ्गला नाडी का इसी में लय हो जाता

है। शारदातिलक और उसकी टीका में स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र—ये सुषुम्णा नाडी के पाँच पर्व माने गये हैं। इडा और पिङ्गला नाडी के मार्ग से जब पवन ऊपर उठता है, तब उक्त स्थानों पर उनका सुषुम्णा नाडी से सम्पर्क होता है। इस प्रकार उक्त तीनों नाडियाँ ऊर्ध्वगामिनी मानी गयी हैं।

सुषुम्णा नामक यह मध्य नाडी कन्द भाग से ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर की ओर गतिशील रहती है। ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्र (श्लो. ११-१२) में इडा को गङ्गा, पिङ्गला को यमुना और सुषुम्णा को सरस्वती बताया गया है। यह तीर्थराज प्रयाग है, जिसमें गङ्गा, यमुना और सरस्वती का सङ्गम होता है। इसमें स्नान करने वाला व्यक्ति सब पापों से मुक्त हो जाता है। सुषुम्ना नाडी ही ब्रह्मनाडी कहलाती है। इसी में सारा विश्व प्रतिष्ठित है। गुदा के पृष्ठभाग से शिरोभाग तक जो अस्थिदण्ड स्थित है, उसी को वीणा दण्ड अथवा ब्रह्मदण्ड कहते हैं। उसके अन्तिम भाग में एक सूक्ष्म सुषिर (छिद्र) है। इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। योगाभ्यास के प्रभाव से मध्यनाडी सुषुम्णा यहाँ शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में जब विश्राम करती है, तब साधक समाधिस्थ हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है।

पूर्णानन्द प्रदर्शित सुषुम्णा तथा उसकी सहयोगिनी नाडियों का वर्णन नाडी शब्द की परिभाषा में भी किया गया है।

सृष्टिचक्र

तरङ्गहीन समुद्र में जिस प्रकार वायु की क्रिया के कारण कुछ चाञ्चल्य दिखलायी देता है, जिसके द्वारा एक के बाद एक महातरङ्गों की उत्पत्ति होती रहती है, उसी प्रकार निर्विशेष शान्त तथा क्षोभशून्य भासा-रूपी महासत्ता के वक्षस्थल पर स्वातन्त्र्य के उल्लास के कारण उद्योगरूपी आदिस्पन्द का उदय होता है। इसे ही सृष्टि की प्रथम कला का आत्मप्रकाश कहते हैं। उद्योग, अवभास, चर्बण, आत्मविलापन तथा निस्तरङ्ग की समष्टि को ही सृष्टि कहा जाता है। प्रत्येक जीवात्मा में समरूप से ये विद्यमान हैं।

दृष्टान्त के लिये कुम्हार के घड़ा बनाने के व्यापार को ले सकते हैं। घड़ा बनाने से पहले घड़े का भाव कुम्हार के आत्मचैतन्य के साथ अभिन्न रूप से स्थित रहता है। आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से विद्यमान इस भाव को भिन्न

अथवा पृथक् रूप में बाहर निकालने के लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है, वही उद्योग नामक प्रथम प्रथा है। इसके पश्चात् दण्ड, चक्र आदि की सहायता से यह भाव बाहर प्रकाशित होता है। इसी को अवभास कहते हैं। सृष्टिक्रिया के अन्तर्गत यह द्वितीय प्रथा है। इसके बाद बाह्य रूप से अवभासित इस भाव को नाना प्रकार के व्यापारों के द्वारा बार-बार अपने रूप में अनुभव करना पड़ता है। इसी का पारिभाषिक नाम चर्बण है। अर्थक्रियाकारित्व अथवा प्रयोजन-सम्पादन ही सब भावों का एक मात्र उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के सिद्ध हो जाने पर इसके प्रति उदासीनता का होना स्वाभाविक है। यही विलापन नामक चतुर्थ प्रथा है। जब इस अर्थक्रिया की स्मृति तक लुप्त हो जाती है, तब निस्तरङ्ग नाम की पञ्चम प्रथा का आविर्भाव होता है।

ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें आत्मा या परमेश्वर का स्वरूप ही समुद्रस्थानीय है तथा घट आदि प्रत्येक भाव उसके तरङ्गस्वरूप हैं। ये तरङ्गें परमेश्वर में ही उदित होती हैं और फिर उन्हीं में लीन भी हो जाती हैं। भासा अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति वस्तुतः निष्कल होते हुए भी कलामय है, क्रमहीन होते हुए भी क्रमविशिष्ट प्रतीत होती है। सृष्टि व्यापार में जिन पाँच प्रथाओं का उल्लेख किया गया है, वे सभी उसी की कला के खेल हैं। आत्मा की स्वधामस्थ पञ्च-योनि तथा उनके अविनाभूत पञ्च-सिद्ध मिलकर सृष्टि की दस कला के रूप में वर्णित हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ये उद्योग, अवभासन, चर्बण, आत्मविलापन तथा निस्तरङ्ग से भिन्न पदार्थ नहीं हैं। सृष्टि आदि प्रत्येक व्यापार में इनका खेल देखने को मिलता है। इसी कारण एकमात्र सृष्टि में ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा नामक पाँचों कृत्यों की समस्त विचित्रताओं का विकास स्पष्ट रूप से पाया जाता है (महार्थमञ्जरी, पृ. ९७-९८)।

सृष्टि-संहार बीज

अनाहत नाद की अभिव्यक्ति के दो प्रमुख स्थान हैं—एक सृष्टि-बीज सकार और दूसरा संहार-बीज हकार। इन दो बीजों का आश्रय लेकर ही नाद अभिव्यक्त होता है। योगी लोग जानते हैं कि प्राण के आदिकारण का अनुसन्धान करने पर चिदाकाश के प्रथम स्पन्दन पर ही दृष्टि पड़ती है। चिदाकाश का यह स्पन्दन भी वस्तुतः स्वतः सिद्ध नहीं है। वह परम पुरुष और परमा प्रकृति

की यामलावस्था से उद्भूत है। बिन्दुयुक्त हकार (हं) परम पुरुष का और विसर्गयुक्त सकार (सः) परमा प्रकृति का वाचक है। दोनों की यामलावस्था ही आदि-हंस का रूप है, जिसे निष्पन्द और स्पन्द तत्त्व का सन्धि-स्थान माना जा सकता है। इस आदि प्राण को ही संवित् का प्रथम स्फुरण कहते हैं। यही सृष्टि के सब तत्त्वों को धारण करने वाली शक्ति है। हम लोगों के शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल इस सृष्टिसंहार-बीजात्मक हंसरूपी प्राण का ही व्यापार है (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ. २९६-२९७)।

स्थितिचक्र

सृष्ट पदार्थों की संहार करने की इच्छा के उदय होने तक उनके निराकुल अवस्थान को शास्त्रों में स्थिति के नाम से अभिहित किया गया है, अर्थात् स्वात्मस्वरूप को विभिन्न रूपों में धारण करने की इच्छा को स्थिति कहा जाता है। स्थितिचक्र में बाईस कलाएँ कार्य करती हैं। इनमें आठ शिवचक्र में, अर्थात् सहस्रार में, बारह हृदयस्थ षट्कोण-चक्र में तथा दो उस षट्कोण के मध्यबिन्दु में रहती हैं। पहले आठ में से चार पीठों के अधिष्ठाता चार युगनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा चार उन्हीं की शक्तियाँ हैं। उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप—इन चार केन्द्रों में परमेश्वर के परमकर्तृत्व की अभिव्यक्ति होने से ये **पीठ** के नाम से परिचित हैं। परमेश्वर का परमकर्तृत्व प्रथमतः उड्डीयान पीठ में अपनी शक्ति के साथ अधिष्ठित रहता है। उसे कलियुग का नाथ कहा जाता है। इसी प्रकार जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप पीठ के अधिष्ठातागण द्वापर आदि युगों के नाथ हैं। हृदय-स्थित षट्कोण में जिन बारह कलाओं की बात कही गयी है, वे तन्त्रशास्त्र में **राजपुत्र** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें छः साधिकार हैं और शेष छः निरधिकार। दर्शनशास्त्र में जिन्हें इन्द्रिय कहा जाता है, यहाँ राजपुत्र शब्द से उन्हीं का निर्देश किया गया है। बुद्धि और पाँच कर्मेन्द्रियाँ साधिकार राजपुत्र हैं तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ निरधिकार राजपुत्र हैं। षट्कोण के केन्द्रस्थान में कुलेश्वर और कुलेश्वरी की स्थिति है। इन्हें अहंकार और अभिमान शक्ति का प्रतीक मानना चाहिये। इस प्रकार आत्मस्वरूप के तत्तत् रूप में स्थिति के मूल में ये ही बाईस कलाएँ अनुस्यूत रहती हैं। अतः यह उचित ही है कि इसको स्थितिचक्र के नाम से जाना जाय (महार्थमञ्जरी, पृ. ९८-९९)।

स्पन्द तत्त्व

बीज से जैसे अङ्कुर स्फुरित होता है, उसी तरह से शिव से यह सारा जगत् निकलता है। बीज मिट्टी-पानी आदि सहकारी कारणों का संयोग होने पर ही प्रस्फुटित होता है। सहकारी कारणों के सम्पर्क में आने के साथ ही बीज में स्पन्दन होने लगता है और वह अङ्कुर के रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु शिव को किसी सहकारी कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वेच्छा से जब उसमें स्पन्दन होने लगता है, तो वह अपनी इस स्पन्दशक्ति के माध्यम से जगत् के रूप में परिणत होता है। इसी व्यापार को स्फुरत्ता कहते हैं। यह स्फुरत्ता जैसे शिव को परिमित-प्रमाता बना देती है, उसी तरह से स्वात्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा भी इस स्फुरत्ता शक्ति से ही निष्पन्न होती है। "सा स्फुरत्ता महासत्ता" (१.५.४) इस प्रत्यभिज्ञाकारिका में स्फुरत्ता को ही महासत्ता, स्पन्दतत्त्व आदि नामों से जाना जाता है। स्पन्दकारिका, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

स्रोतोविभाग

तान्त्रिक वाङ्मय का स्रोतोविभाग प्रसिद्ध है। कुछ ग्रन्थों में यह तीन अथवा चार प्रकार का तथा अन्यत्र पाँच प्रकार का माना गया है। त्रिविध विभाग में वाम, दक्षिण और सिद्धान्त नामक तन्त्रों की गणना की गयी है। अजितागम (२६.५६-६०) में बताया गया है कि मूलावतार आदि तन्त्र वाम, स्वच्छन्दतन्त्र आदि दक्षिण और कामिक आदि तन्त्र सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। नेत्रतन्त्र (१६.२) के अनुसार सदाशिव, भैरव और तुम्बुरु क्रमशः सिद्धान्त, दक्षिण और वाम स्रोतस् (धारा) के प्रवर्तक हैं। तुम्बुरु के चार मुखों से शिरच्छेद, वीणाशिख, सम्मोह और नयोत्तर नामक चार तन्त्रों का आविर्भाव हुआ, इसकी सूचना हमें डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची के ग्रन्थ "स्टडीज इन दी तन्त्राज" (पृ. २) से मिलती है। तुम्बुरु और भैरव शिव के ही अवतार हैं। इसकी सूचना योगवासिष्ठ (निर्वाण० १.१८.२३-२६) और नेत्रतन्त्र (९.११) से मिलती है।

सिद्धान्तशिखामणि (५.११) में सप्त मातृकाओं के प्रतिपादक मिश्र तन्त्रों का भी समावेश कर स्रोतोविभाग को चतुर्विध माना है, किन्तु सम्प्रति इसके पाँच विभाग ही प्रसिद्ध हैं। तदनुसार शिव के ऊर्ध्व मुख से सिद्धान्त, पूर्व मुख से गारुड़, दक्षिण से भैरव, पश्चिम से भूत और उत्तर मुख से वाम तन्त्रों का

आविर्भाव हुआ। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (१।४०) में अष्टविध अनुस्रोतोविभाग वर्णित है। उनके नाम ये हैं—शैव, मान्त्रेश्वर, गाणपत्य, दिव्य, आर्ष, गौह्यक, योगिनीकौल और सिद्धकौल। इन सबका विस्तृत विवरण नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ५१-५९) में देखना चाहिये।

स्वाधिष्ठान चक्र

लिङ्ग के मूल में सुषुम्णा नाडी स्थित है। इसके मध्य भाग में सिन्दूर के समान अरुण वर्ण के षड्दल कमल की स्थिति मानी गयी है। इसी को स्वाधिष्ठान चक्र कहते हैं। इसको स्वाधिष्ठान इसलिये कहते हैं कि यह **स्व** शब्द से अभिप्रेत परलिङ्ग का अधिष्ठान है, घर है, अर्थात् इसमें परलिङ्ग का निवास माना जाता है। इस षड्दल कमल में बँ भँ मँ यँ रँ लँ इन छ: बीजाक्षरों की स्थिति मानी गयी है। इस स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में अर्धचन्द्राकार शुक्ल वर्ण का वरुण देवता का मण्डल अवस्थित है। इसके बीच में बँकार बीज आलोकित है। इसका वाहन मकर है। सारे विश्व के पालक भगवान् विष्णु इसके अधिकारी हैं और राकिणी नामक योगिनी इस चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्र-प्रकरण, प्रक० ६)।

हंस मन्त्र

हकार, बिन्दु, सकार और विसर्ग के योग से हंस मन्त्र की निष्पत्ति होती है। अनुत्तर, अकुल-स्वरूप चिद्धाम में स्वयं उन्मिषित होने वाले हकार की स्थिति ऊपर और नीचे विसर्जनीय अनुप्राणित विसर्ग-स्वरूप जीव की, सकार की स्थिति रहती है। हान और समादान, त्याग और ग्रहण की प्रक्रिया के आधार पर इस हंस मन्त्र का उच्चारण परा शक्ति स्वयं ही करती है। इसीलिये "मैं वह शिव हूँ" इस तरह अपने स्वरूप का परिचय वहाँ प्राप्त होता है। प्राण सकार के साथ बाहर निकलता है और अपान जब शरीर में पुन: प्रविष्ट होता है, तो वह हकार का उच्चारण करता है। इस तरह से प्राण और अपान की गति जब तक चलती रहती है, तब तक जीव प्रतिदिन निरन्तर 'हंस:-हंस:' इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता है।

शक्तिसंगमतन्त्र (१,३.७७-८७) में प्रणव के प्रसङ्ग में हंस-स्वरूपिणी कामकला का विवरण बताते हुए कहा गया है कि 'सोऽहम्' इस हंस-मन्त्र

में प्रणव और कामकला दोनों की स्थिति है। उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। विज्ञानभैरव के ४२ वें श्लोक में भी अजपा-गर्भित प्रणव की उपासना वर्णित है।

हंस-मन्त्र में विद्यमान सकार प्राण और प्रकाश (सूर्य अथवा दिन) का प्रतिनिधित्व करता है तथा हकार जीव (अपान) तथा क्षपा (रात्रि) का। सभी प्राणियों के अनुभव के आधार पर यह बात सिद्ध है कि प्राण (सकार) की गति स्वाभाविक रूप से बाहर की ओर तथा अपान (हकार) की गति निरन्तर भीतर की ओर चलती रहती है। प्राण जब हृदय से ऊपर की तरफ चढ़ता है, तब 'हं' वर्ण की उत्पत्ति होती है और जब वह द्वादशान्त से उतरता है, तो उसकी अपान दशा में 'स:' वर्ण उत्पन्न होता है। इन दो वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करते रहने से ही जीव **जीव** कहलाता है। यह त्याज्य है, यह उपादेय है, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है—इस तरह से छोड़ने और लेने के प्राण और अपान के धर्मों से समानता के कारण ही जीव हंस कहलाता है। हान (त्याग) और उपादान (परिग्रह), छोड़ना और लेना—इन दो व्यापारों में हंस और जीव की समानता है। हंस पक्षी जैसे दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है, उसी तरह से जीव भी प्राण और अपान के हान और उपादान का व्यापार निरन्तर करता रहता है। इसी समानता के आधार पर जीव को और जीव के इस निरन्तर चल रहे श्वास-प्रश्वास को क्रमश: हंस और हंस-मन्त्र के नाम से अभिहित किया गया है।

दिन-रात प्राण और अपान की इस निरन्तर गतिशीलता के कारण इस हंस-मन्त्र का हंस जीव एक अहोरात्र में २१६०० बार उच्चारण करता है। इनमें से मूलाधार चक्र में गणपति को ४६५०, स्वाधिष्ठान चक्र में ब्रह्मा को ४६५०, मणिपूर चक्र में विष्णु को ४६५०, अनाहत चक्र में शिव को ४६५०, विशुद्धि चक्र में जीवात्मा को १५००, आज्ञाचक्र में गुरु को १५०० जप निवेदित किये जाते हैं। इस तरह से स्वाभाविक रूप से निरन्तर चल रहे जप को निवेदित करने के उपरान्त साधक इस हंस मन्त्र का १०८ बार जप करता है। निरुत्तर तन्त्र में अजपा गायत्री के दो भेद बताये गये हैं— व्यक्त और गुप्त। हंस-मन्त्र का जप व्यक्त और प्राण और अपान के व्यापार के रूप में निरन्तर चल रहा जप गुप्त कहा जाता है। माणिक्य के मैल को साफ कर देने पर जैसे

उसमें चमक पैदा हो जाती है, उसी तरह से मध्य क्षण का उद्धार करने पर 'हंसः' इस मन्त्र का विमर्श भी जाग उठता है।

हार्धकला

हकार की अर्धकला अथवा हार्धकला योनिरूप में कल्पित है। यह अतिरहस्यमय गुह्य तत्त्व है। शिव और शक्ति के मिलन से उत्पन्न अमृत की धारा के प्रवाहित होने पर उससे जिस लीलामय तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, यही तान्त्रिक परिभाषा में हार्धकला के नाम से विख्यात है (शाक्त दृष्टि, पृ. ७८)।

हार्धकला का नित्याषोडशिकार्णव (१.१८६) में सपरार्ध कला के रूप में वर्णन है। सकार से आगे हकार की स्थिति है। उस हकार के अर्धभाग को सपरार्ध अथवा हार्ध कहा जाता है। तन्त्रशास्त्र में बीजाक्षर ईकार कामकला का प्रतीक है। ब्राह्मी लिपि में इसका आकार कामकला के तीन बिन्दुओं को और अनच्क हकार के अर्धभाग को मिलाकर बनता है। इस हकार की अर्धभागसदृश मात्रा की स्थिति बीजाक्षर में बिन्दु के समीप ऊपर रहती है, किन्तु कामकला का ध्यान करते समय इस अनच्क हकारार्ध की स्थिति बिन्दुद्वय के नीचे अधोमुख रहती है। इसका रहस्य गुरुमुख से ही जाना जा सकता है।

हृल्लेखा

गायत्री मन्त्र के समान श्रीविद्या के भी तीन पाद (चरण) हैं। ये कूट या बीज के नाम से अभिहित हैं। इनके नाम हैं—वाग्भव, कामराज और शक्तिबीज। इनका विवरण अलग से दिया जा चुका है। प्रत्येक कूट या बीज के अन्त में हृल्लेखा की स्थिति मानी गयी है। हृल्लेखा, अर्थात् ह्रींकार को शाक्त मत का प्रणव माना जाता है, जैसे कि ॐकार को वेद-प्रणव तथा हूंकार को शिव-प्रणव। हृल्लेखा का स्वरूप स्वररहित हकार और रकार के आगे ईकार, अर्थात् कामकला को जोड़ने पर और उसके ऊपर बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना कलाओं का संयोजन करने पर बनता है। प्रणव की द्वादश कलाओं का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। हृल्लेखा का स्वरूप भी द्वादश कलाओं से बनता है। अन्तर केवल प्रथम तीन अक्षरों में है। बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त नौ कलाओं की समष्टि को नाद कहा जाता

है। प्रणव-कला शब्द की व्याख्या में इनके स्वरूप, मात्राकाल आदि का विवरण दिया जा चुका है। इन नौ नादों को किसी भी बीजाक्षर से संयुक्त किया जा सकता है। हृल्लेखा, अर्थात् ह्रींकार त्रिपुरा विद्या का बीज-मन्त्र है। प्रत्येक सम्प्रदाय के बीजाक्षर को उक्त नौ नादों से संयोजित करने पर प्रणव की निष्पत्ति होती है। हृल्लेखा और नवनाद का परिचय योगिनीहृदय, वरिवस्यारहस्य आदि में भी देखा जा सकता है।।

♦♦♦

सङ्केत सूची

१. अ०वी०सा०सं० अनादि वीरशैव सार संग्रह, वारद वीरशैव-लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर १९०६ ई०।

२. अनु०सू० अनुभव सूत्र, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी १९९८ ई०।

३. क्रि०सा० क्रियासार, भाग १-३, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९५४, १९५७, १९५८ ई०।

४. च०ज्ञा०आ० चन्द्रज्ञान आगम, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी १९९४ ई०।

५. च०ब०व० चन्न बसवण्णवर-वचनगुलु, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ १९६५ ई०।

६. त०ज्ञा० तत्त्वज्ञान; शंभुलिंग स्वामी जी, बीजापुर, १९२६ ई०।

७. तों०व०को० तोंटदसिद्धलिंगशिवयोगिगल वचनपदप्रयोग कोश, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७६ ई०।

८. द०भा०इ० दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना १९७८ ई०।

९. पं०प्र० पंचाचार प्रकाशिका, अखिल भारत शिवानुभव संस्था, मुरुधामठ, धारवाड़ १९५७ ई०।

१०. पा०तं० पारमेश्वर तन्त्र, पारमेश्वरागम, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी।

११. ब०व० बसवण्णनवर वचनगलु, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९६८ ई०।

१२. ब्र०जा०उ० बृहज्जाबालोपनिषत्, (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२५ ई०।

१३. ब्र०सू०वृ० ब्रह्मसूत्रवृत्ति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०९ ई०।

१४. ब्र०सू०वृ० ब्रह्मसूत्रवृत्ति, शिवप्रकाश शिवाचार्य, शंकरविलास संस्कृत-पाठशाला, मैसूर १९७४ ई० तथा शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी १९९८ ई०।

१५. मुं० मुण्डकोपनिषत्, प्रबोध पुस्तकमाला, मैसूर, १९६० ई०।

१६. व०वी०ध० वचनवल्ली वीरशैव धर्म, डी०वी०के०मूर्ति, मैसूर, १९६९ ई०।

१७. व०शा०सा० वचन शास्त्र सार, भाग १, प०गु० हलकट्टी बीजापुर, १९३१ ई०।

१८. वा०शु०तं० वातुल शुद्धाख्य तन्त्र, (तन्त्रसंग्रह, भाग १), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७० ई०।

१९. वि०प्र० विशेषार्थ प्रकाशिका, मुरुधामठ, धारवाड़, १९६१ ई०।

२०. वी०आ०चं० वीरशैवानन्द चन्द्रिका, मूरुसाविरमठ, हुबली, १९३६ ई०।

२१. वी०आ०प्र० वीरशैवाचार प्रदीपिका, वारद वीरशैवलिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०५ ई०।

२२. वी०चिं० वीरशैव चिन्तामणि, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७१ ई०।

२३. वी०त०प्र० वीरशैवतत्त्व प्रकाश, लिंगायत विद्याभिवृद्धि संस्था, धारवाड़, १९४१ ई०।

२४. वी०ध०त०सि०	वीरशैव धर्म तत्त्व सिद्धान्त, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७७ ई०।
२५. वी०म०	वीरशैव महात्म्यरु, काशीनाथ ग्रन्थमाला, मैसूर, १९३८ ई०।
२६. वी०मा०सं०	वीरमाहेश्वराचार संग्रह, भाग ३, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०६, १९०७ ई०।
२७. वी०सं०सं०	वीरशैवसदाचारसंग्रह, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०५ ई०।
२८. वे०वी०चिं०	वेदान्तसार वीरशैवचिन्तामणि, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०५ ई०।
२९. श०अ०अ०अ०	शरणर अनुभव-अनुभाव-अनुभूति, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७६ ई०।
३०. श०वि०द०	शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन, रम्भापुरी संस्थानमठ, वालेहोन्नूर, (चिक्कमगलूर) १९६१ ई०।
३१. शि०द०	शिवाद्वैतदर्पण, पूवल्ली पञ्चवर्ण बृहन्मठ ग्रन्थमाला, हूली (बेलगांव), १९२८ ई०।
३२. शि०मं०	शिवाद्वैतमञ्जरी, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०९ ई०।
३३. शि०यो०प्र०	शिवयोगप्रदीपिका, एस०के०पी०प्रेस, मैसूर, १९१३ ई०।
३४. शि०श०	शिवाध्वा शतक, (मायिदेव प्रभु वाणी) मुरुधामठ, धारवाड़, १९६२ ई०।
३५. शि०श०को०	शिवानुभवशब्दकोश, समाज पुस्तकालय, धारवाड़, १९७२ ई०।
३६. शू०सं०प०	शून्यसम्पादनेयपरामर्श, रावूर सिद्धलिंगेश्वरमठ और आदवानी कल्लुमठ के स्वामी जी, १९९३ ई०।

३७. शै० र० — शैवरत्नाकर, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९०९ ई०।

३८. श्रीकर०भा० — श्रीकरभाष्य, सि० हयवदन राव, बेंगलोर, १९३६ ई०।

३९. सि०रा०व० — सिद्धरामेश्वर वचनगलु, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९६८ ई०।

४०. सि०शि० — सिद्धान्तशिखामणि, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी १९९३ ई०।

४१. सि०शि०वी०भा० — सिद्धान्तशिखोपनिषत्, वीरशैवभाष्यम्, काशीनाथ ग्रन्थमाला मैसूर, १९३० ई० तथा शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी १९९८ ई०।

४२. सु०पं०पं०प्र० — सुप्रभेदागमान्तर्गत-पंचाचार्य-पंचमोत्पत्ति-प्रकरणम्, वारद वीरशैव लिंगी ब्राह्मण ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९३० ई०।

४३. सू०आ० — सूक्ष्मागम, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी, १९९४ ई०।

४४. सू०सं० — सूतसंहिता, भाग १-३, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९२४, १९२५ ई०।

४५. हि० — हिन्दुत्व (रामदास गौड़कृत), शिवप्रसाद गुप्त सेवा उपवन, काशी, १९३८ ई०।

♦♦♦

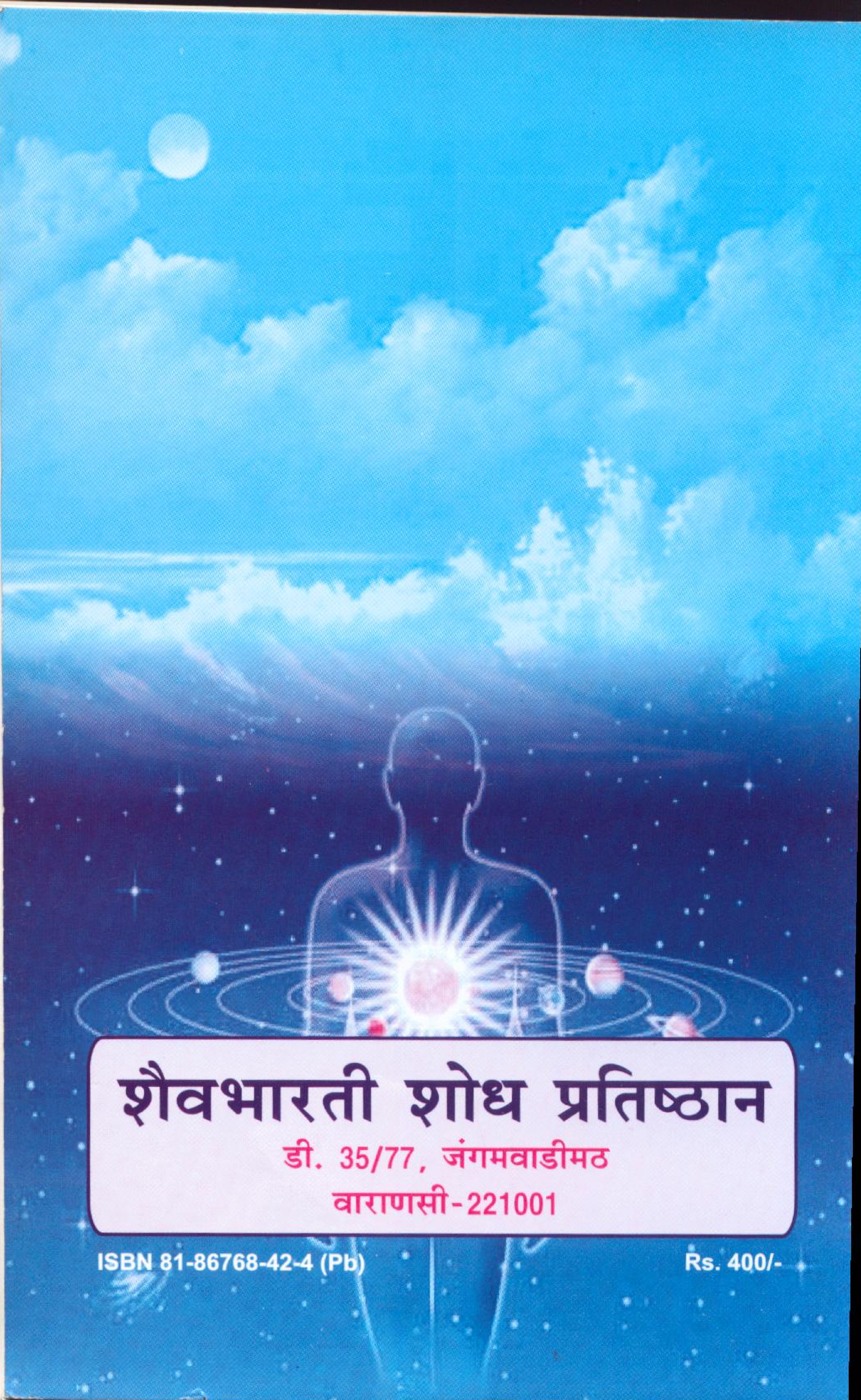

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

डी. 35/77, जंगमवाडीमठ

वाराणसी-221001

ISBN 81-86768-42-4 (Pb)

Rs. 400/-